

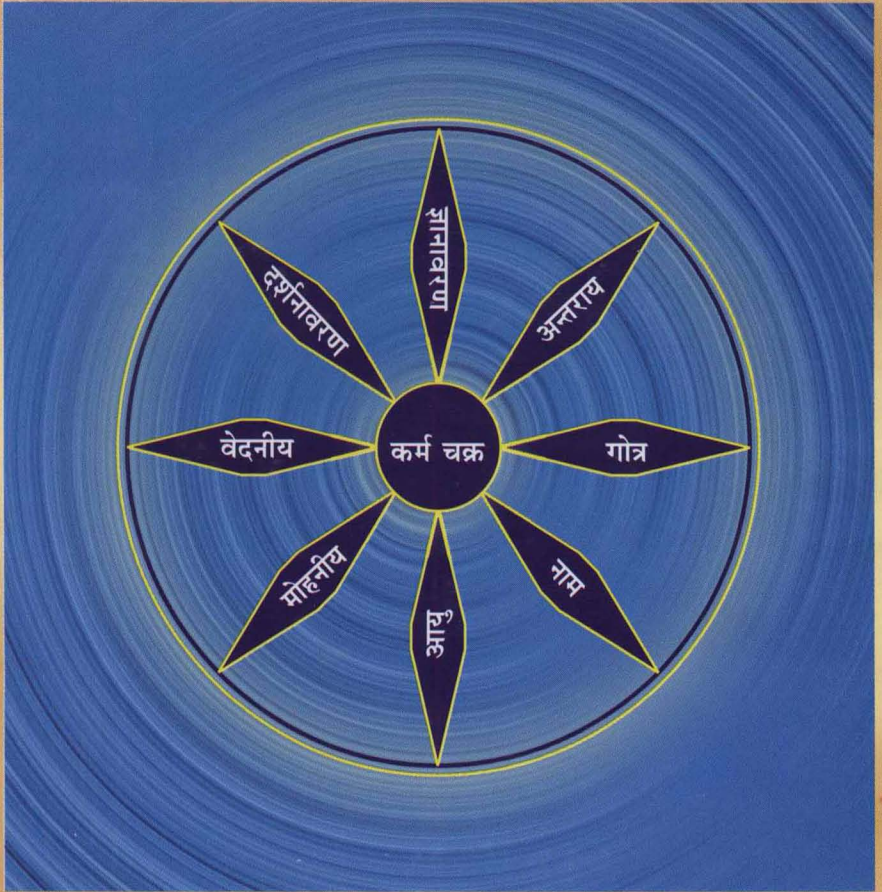
श्रीमद्देवेन्द्रसूरि-विरचित

कर्मविपाक अर्थात् कर्मग्रन्थ

(प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग)

हिन्दी अनुवाद

पं० सुखलालजी संघवी



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं. १५६

प्रधान सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि-विरचित
कर्मविपाक अर्थात् कर्मग्रन्थ
(प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग)

पं. सुखलालजी संघवी कृत
हिन्दी अनुवाद और टीका-टिप्पणी आदि (सहित)



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं. 156

प्रधान सम्पादक : डॉ. सागरमल जैन

पुस्तक : कर्म विपाक अर्थात् कर्मग्रन्थ
(प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग)
हिन्दी अनुवाद : पं. सुखलाल संघवी

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ,

आई.टी.आई. रोड, करौंदी,

वाराणसी-221005

फोन : 0542-2575521

Emails : pvri@sify.com

parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com

संस्करण : प्रथम पुनर्मुद्रित संस्करण ई. सन् 2008

© पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

ISBN : 81-86715-91-6

मूल्य : रु. 400/- मात्र

अक्षर-सज्जा

विमल चन्द्र मिश्र, डी. 53/97,

ए-8, पार्वतीपुरी कालोनी, गुरुबाग कमच्छा, वाराणसी

मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय

भेलूपुर, वाराणसी-221010

प्रकाशकीय

वैदिक, जैन एवं बौद्ध तीनों परम्पराओं में कर्म सम्बन्धी विवेचनार्थें प्राप्त होती हैं, किन्तु कर्म विवेचना सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रन्थ जैन परम्परा में ही उपलब्ध होते हैं। यदि कर्मशास्त्र को जैन धर्म-दर्शन का हृदय कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि जैन धर्म-दर्शन में कर्म को स्वयं अपना फलप्रदाता माना गया है। जैनदर्शन कर्म-फल निर्धारण हेतु वैदिक दर्शनों की भाँति ईश्वर जैसी किसी बाह्य सत्ता का सर्वथा निषेध करता है। जैन कर्मशास्त्र के अनुसार आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा का अपने कर्मावृत्त परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्मरूप हो जाना ही ईश्वरत्व है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जीव के कर्मावृत्त होने के कारण हैं तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य कर्ममुक्ति के साधन हैं।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित तथा पं. सुखलाल संघवी द्वारा अनूदित प्रस्तुत ग्रन्थ कर्मतत्त्व की विस्तृत विवेचना करता है, लेकिन मुख्यतया इसमें कर्म-प्रकृतियों का विपाक ही वर्णित है। यही कारण है कि इसका द्वितीय नाम कर्मविपाक रखा गया है।

ज्ञातव्य है कि सम्प्रदाय भेद का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। यही कारण है कि कर्म विषयक साहित्य की रचना श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में पृथक्-पृथक् हुई। लेकिन दोनों सम्प्रदायों में विवेचित कर्म के मूल विषय में कोई मतभेद न होने के बावजूद कुछ पारिभाषिक शब्दों, उनकी व्याख्याओं और कहीं-कहीं तात्पर्य में थोड़ा-बहुत भेद है जिसे पं. सुखलालजी ने बखूबी विषयानुसार प्रस्तुत किया है। साथ ही श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मान्य ग्रन्थों की सूची भी प्रस्तुत की है जिससे विषय-वस्तु स्पष्ट एवं सुगम्य हो गयी है।

प्रथम संस्करण के रूप में यह ग्रन्थ श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, रोशन मोहल्ला, आगरा द्वारा ई. सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ की महत्ता एवं उपादेयता को देखते हुए पार्श्वनाथ विद्यापीठ इसके सभी खण्डों का संशोधन कर पुनः प्रकाशन कर रहा है। यह श्रमसाध्य एवं व्ययसाध्य कार्य कदापि सम्भव नहीं होता यदि हमें श्री चैतन्य कोचर, नागपुर का सहयोग नहीं मिला होता। श्री चैतन्य कोचर साहब की जैन साहित्य के विकास, संवर्द्धन एवं

संरक्षण में विशेष रुचि है। आप एक उत्कृष्ट चिन्तक, सुश्रावक एवं व्यवसायी हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए उदार आर्थिक सहयोग हेतु हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

इस ग्रन्थ के भाषा संशोधन एवं प्रूफ-रीडिंग का गुरुतर कार्य डॉ. विजय कुमार, प्रकाशन अधिकारी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने सम्पादित किया है, एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं। इस कार्य में उनके सहयोगी रहे डॉ. सुधा जैन एवं श्री ओमप्रकाश सिंह भी निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्थाओं के लिए हम संस्थान के सह-निदेशक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

सुन्दर अक्षर-सज्जा तथा सत्वर मुद्रण के लिए क्रमशः श्री विमलचन्द्र मिश्र एवं वर्द्धमान मुद्रणालय बधाई के पात्र हैं। आशा ही नहीं बल्कि पूर्ण विश्वास है कि लगभग अप्राप्य हो गयी यह महत्वपूर्ण पुस्तक निश्चय ही विद्वत्त्वर्ग एवं सामान्य स्वाध्यायियों हेतु परम उपयोगी सिद्ध होगी।

दिनांक १६.०६.०८

डॉ. सागरमल जैन
सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

वक्तव्य

कर्मग्रन्थों का महत्त्व—यह सबको विदित ही है कि जैन-साहित्य में कर्म-ग्रन्थों का आदर कितना है। उनके महत्त्व के सम्बन्ध में इस जगह मात्र इतना ही कहना है कि जैन आगमों का यथार्थ व परिपूर्ण ज्ञान, कर्मतत्त्व को जाने बिना किसी तरह नहीं हो सकता और कर्मतत्त्व का स्पष्ट तथा क्रमपूर्वक ज्ञान जैसा कर्मग्रन्थों के द्वारा किया जा सकता है वैसा अन्य ग्रन्थों के द्वारा नहीं किया जा सकता। इसी कारण कर्म विषयक अनेक ग्रन्थों में से छः कर्मग्रन्थों का प्रभाव अधिक है।

हिन्दी भाषा में अनुवाद की आवश्यकता—हिन्दी भाषा सारे हिन्दुस्तान की भाषा है। इसको समझने वाले सब जगह पाये जाते हैं। कच्छी, गुजराती, मारवाड़ी, मेवाड़ी, पंजाबी, बंगाली, मद्रासी तथा मालवा, मध्यप्रान्त और यू.पी., बिहार आदि के निवासी सभी, हिन्दी भाषा को बोल या समझ सकते हैं। कम से कम जैन समाज में तो ऐसे स्त्री या पुरुष शायद ही होंगे जो हिन्दी भाषा को समझ न सकें। इसलिये सबको समझने योग्य इस भाषा में, कर्मग्रन्थ जैसे सर्वप्रिय ग्रन्थों का अनुवाद बहुत आवश्यक समझा गया। इसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रान्त-निवासी, जिनकी मातृभाषा भिन्न-भिन्न है वे अपने विचारों की तथा भाषा की बहुत अंशों में एकता कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त सर्वप्रिय हिन्दी भाषा के साहित्य को चारों ओर से पल्लवित करने की जो चेष्टा हो रही है उसमें योग देना भी आवश्यक समझा गया। दिगम्बर भाई अपने उच्च-उच्च ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में अनुवाद कराकर उसके साहित्य की पुष्टि में योग दे रहे हैं और साथ ही अपने धार्मिक विचार, हिन्दी भाषा के द्वारा सब विद्वानों के सन्मुख रखने की पूर्ण कोशिश कर रहे हैं। श्वेताम्बर भाइयों ने अब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया, इसलिये श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अच्छे से अच्छा साहित्य, जो प्राकृत, संस्कृत या गुजराती भाषा में प्रकाशित हो गया है उससे सर्वसाधारण को फायदा नहीं पहुँच सका है। इसी कमी को दूर करने के लिये सबसे पहले कर्मग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता समझी गई। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कर्मग्रन्थों के पठन-पाठन आदि का जितना प्रचार और आदर देखा जाता है उतना अन्य ग्रन्थों का नहीं।

अनुवाद का स्वरूप—कर्मग्रन्थों के क्रम और पढ़ने वाले की योग्यता पर ध्यान दे करके, प्रथम कर्मग्रन्थ तथा दूसरे, तीसरे आदि अगले कर्मग्रन्थों के अनुवाद के स्वरूप में थोड़ा-सा अन्तर रक्खा गया है। प्रथम कर्मग्रन्थ में कर्म विषयक पारिभाषिक शब्द प्रायः सभी आ जाते हैं तथा इसके पठन के बिना अगले कर्मग्रन्थों का अध्ययन ही लाभदायक नहीं हो सकता, इसलिये इसके अनुवाद में गाथा के नीचे अन्वयपूर्वक शब्दशः अर्थ देकर, पीछे भावार्थ दिया गया है। प्रथम कर्मग्रन्थ के पढ़ चुकने के बाद अगले कर्म-ग्रन्थों के पारिभाषिक शब्द बहुधा मालूम हो जाते हैं, इसलिये उनके अनुवाद में गाथा के नीचे मूल शब्द न लिख कर सीधा अन्वयार्थ दे दिया गया है और अनन्तर भावार्थ। दूसरे, तीसरे आदि कर्मग्रन्थों में गाथा के नीचे संस्कृत छाया भी दी हुई है जिससे थोड़ी भी संस्कृत जानने वाले अनायास ही गाथा के अर्थ को समझ सकेंगे।

उपयोगिता—हमारा विश्वास है कि यह अनुवाद विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, क्योंकि एक तो इसकी भाषा हिन्दी है और दूसरे इसका विषय महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त आज तक कर्मग्रन्थों का वर्तमान शैली में अनुवाद किसी भी भाषा में प्रकट नहीं हुआ। यद्यपि सभी कर्मग्रन्थों पर गुजराती भाषा में टब्बे हैं, जिनमें से श्री जयसोमसूरि-कृत तथा श्री जीवविजयजी-कृत टब्बे छप गये हैं, श्री मतिचन्द्र-कृत टब्बा अभी नहीं छपा है और एक टब्बा जिसमें कर्ता के नाम का उल्लेख नहीं है हमें आगरा के श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ के मन्दिर के भाण्डागार से प्राप्त हुआ है। यह टब्बा भी लिखित है। इसकी भाषा से जान पड़ता है कि यह दो शताब्दियों के पहले बना होगा। ये सभी टब्बे पुरानी गुजराती भाषा में हैं। इनमें से पहले दो टब्बे जो छप चुके हैं उनका पठन-पाठन विशेषतया प्रचलित है। उनके विचार भी गम्भीर हैं। इस अनुवाद के करने में टीका के अतिरिक्त उन दो टब्बों से भी मदद मिली है पर उनकी वर्णन-शैली प्राचीन होने के कारण आजकल के नवीन जिज्ञासु, कर्मग्रन्थों का अनुवाद वर्तमान शैली में चाहते हैं। इस अनुवाद में जहाँ तक हो सका, सरल, संक्षिप्त तथा पुनरुक्ति रहित शैली का आदर किया गया है। अतः हमें पूर्ण आशा है कि यह अनुवाद सर्वत्र उपयोगी होगा।

पुस्तक को उपादेय बनाने का यत्न—हम जानते हैं कि कर्मतत्त्व के जो जिज्ञासु, अगले कर्मग्रन्थों को पढ़ने नहीं पाते वे भी प्रथम कर्मग्रन्थ को अवश्य पढ़ते हैं, इसलिये इस प्रथम कर्मग्रन्थ को उपादेय बनाने की ओर यथाशक्ति—विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें सबसे पहले एक विस्तृत प्रस्तावना दी हुई

है, जिसमें कर्मवाद और कर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले अनेक आवश्यक अंशों पर विचार प्रकट किये हैं। साथ ही विषय-प्रवेश और ग्रन्थ-परिचय में भी अनेक आवश्यक बातों पर यथाशक्ति विचार किया है, जिन्हें पाठक स्वयं पढ़कर जान सकेंगे। अनन्तर ग्रन्थकार की जीवनी भी सप्रमाण लिख दी गई है। अनुवाद के बाद चार परिशिष्ट लगा दिये गये हैं। जिनमें से पहले परिशिष्ट में श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के कर्मविषयक समान तथा असमान सिद्धान्त तथा भिन्न-भिन्न व्याख्या वाले समान पारिभाषिक शब्द और समानार्थक भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ संग्रह की हैं। इससे दिगम्बर सम्प्रदाय का कर्मविषयक गोम्मतसार और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कर्मग्रन्थ के बीच कितना शब्द और अर्थ-भेद हो गया है इसका दिग्दर्शन पाठकों को हो सकेगा।

साधारण श्वेताम्बर और दिगम्बर भाइयों में साम्प्रदायिक हठ यहाँ तक देखा जाता है कि वे एक-दूसरे के प्रतिष्ठित और प्रामाणिक ग्रन्थ को भी मिथ्यात्व का साधन समझ बैठते हैं और इससे वे अनेक जानने योग्य बातों से वञ्चित रह जाते हैं। प्रथम परिशिष्ट के द्वारा इस हद के कम होने की और एक-दूसरे के ग्रन्थों को ध्यानपूर्वक पढ़ने की रुचि व सर्वसाधारण में पैदा होने की हमें बहुत कुछ आशा है। श्रीमान् विपिनचन्द्रपाल का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि 'भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले एक-दूसरे के प्रामाणिक ग्रन्थों के न देखने के कारण आपस में विरोध किया करते हैं।' इसलिये प्रथम परिशिष्ट देने का हमारा यही उद्देश्य है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों एक-दूसरे के ग्रन्थों को कम से कम देखने की ओर झुके—कूप-मण्डूकता का त्याग करें।

दूसरे परिशिष्ट के रूप में कोश दिया है, जिसमें प्रथम कर्मग्रन्थ के सभी प्राकृत शब्द हिन्दी-अर्थ के साथ दाखिल किये हैं। जिन शब्दों की विशेष व्याख्या अनुवाद में आ गई है, उन शब्दों का सामान्य हिन्दी अर्थ लिख करके विशेष व्याख्या के पृष्ठ का नम्बर लगा दिया गया है। साथ ही प्राकृत-शब्द की संस्कृत छाया भी दी है जिससे संस्कृतज्ञों को बहुत सरलता हो सकती है। कोश देने का उद्देश्य यह है कि आजकल प्राकृत के सर्वव्यापी कोश की आवश्यकता समझी जा रही है और इसके लिये छोटे-बड़े प्रयत्न भी किये जा रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसे प्रत्येक ग्रन्थ के पीछे दिये हुये कोश द्वारा महान् कोश बनाने में बहुत कुछ मदद मिल सकेगी। महान् कोश बनाने वाले, प्रत्येक देखने योग्य ग्रन्थ पर उतनी बारीकी से ध्यान नहीं दे सकते, जितनी कि बारीकी से उस एक-एक ग्रन्थ की मूल मात्र या अनुवाद सहित प्रकाशित करने वाले ध्यान दे सकते हैं।

तीसरे परिशिष्ट में मूल गाथायें दी हुई हैं जिसमें कि मूलमात्र याद करने वालों को तथा मूलमात्र का पुनरावर्तन करने वालों को सुविधा हो। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से या विषयदृष्टि से मूलमात्र देखने वालों के लिये भी यह परिशिष्ट उपयोगी होगा।

चौथे परिशिष्ट में दो कोष्टक हैं जिनमें क्रमशः श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय उन कर्म विषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय कराया गया है जो अब तक प्राप्त हैं या न होने पर भी जिनका-परिचय मात्र मिला है। इस परिशिष्ट के द्वारा श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के कर्म-साहित्य का परिमाण ज्ञात होने के उपरान्त इतिहास पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

इस तरह इस प्रथम कर्मग्रन्थ के अनुवाद को विशेष उपादेय बनाने के लिये सामग्री, शक्ति और समय के अनुसार कोशिश की गई है। अगले कर्मग्रन्थों के अनुवादों में भी करीब-करीब परिशिष्ट आदि का यही क्रम रक्खा गया है।

इस पुस्तक के संकलन में जिनसे हमें थोड़ी या बहुत किसी भी प्रकार की मदद मिली है उनके हम कृतज्ञ हैं। इस पुस्तक के अन्त में जो अन्तिम परिशिष्ट दिया गया है उसके लिये हम, प्रवर्तक श्रीमान् कान्तिविजयजी के शिष्य श्रीचतुरविजयजी के पूर्णतया कृतज्ञ हैं; क्योंकि उनके द्वारा सम्पादित प्राचीन कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना के आधार से वह परिशिष्ट दिया गया है तथा हम श्रीमान् महाराज जिनविजयजी और सम्पादक—‘जैन हितैषी’ के भी हृदय से कृतज्ञ हैं, क्योंकि ‘जैन हितैषी’ के ई. सन् १९१६, अंक जुलाई—अगस्त में उक्त मुनि महाराज का ‘जैन कर्मवाद और तद्विषयक साहित्य’ शीर्षक लेख प्राप्त हुआ है जिसकी सम्पादकीय टिप्पणी से उक्त परिशिष्ट तैयार करने में सर्वथा मदद मिली है।

हम इस पुस्तक को पाठकों के सम्मुख रखते हुये अन्त में उनसे इतनी ही प्रार्थना करते हैं कि यदि वे उसमें रही हुई त्रुटियों को सुहृद्भाव से हमें सूचित करेंगे ताकि अगले प्रकाशन में उन त्रुटियों को सुधारा जा सके।

निवेदक—‘वीरपुत्र’

अनुक्रमणिका

कर्मग्रन्थ भाग- १

| विषय | गाथा | पृष्ठ |
|---|------|---------|
| प्रस्तावना | | i-xxxiv |
| मंगल और कर्म का स्वरूप | १ | १ |
| कर्म और जीव का सम्बन्ध | | |
| कर्मबन्ध के चार भेद और मूल तथा उत्तर प्रकृतियों की संख्या | २ | ३ |
| मूल प्रकृतियों के नाम तथा प्रत्येक के उत्तर भेदों की संख्या | ३ | ५ |
| उपयोग का स्वरूप | | |
| मति आदि पाँच ज्ञान | ४ | ७ |
| मति आदि पाँच ज्ञान और व्यञ्जनावग्रह | ४ | ७ |
| अर्थावग्रह आदि चौबीस तथा श्रुतज्ञान के उत्तर भेदों की संख्या | ५ | ९ |
| श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के बहु, अल्प आदि बारह भेद अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान के औत्पातिकी आदि चार भेद मतिज्ञान के अट्टाईस भेदों का यन्त्र | | |
| श्रुतज्ञान के चौदह भेद | ६ | ११ |
| श्रुतज्ञान के बीस भेद | ७ | १४ |
| चौदह पूर्वों के नाम | | |
| अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के भेद | ८ | १६ |
| दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानावरण और दर्शनावरण का स्वरूप | ९ | १९ |
| चार दर्शन तथा उनके आवरण | १० | २१ |

| विषय | गाथा | पृष्ठ |
|--|------|-------|
| चार निद्राओं का स्वरूप | ११ | २२ |
| स्त्यानर्द्धि और वेदनीय कर्म का स्वरूप | १२ | २३ |
| चार गतियों में सात, असात का विभाग और मोहनीय का स्वरूप तथा उसके भेद | १३ | २४ |
| दर्शन मोहनीय के तीन भेद | १४ | २५ |
| चतुःस्थानक आदि रस का स्वरूप | | |
| सम्यक्त्व मोहनीय का स्वरूप तथा सम्यक्त्व के क्षायिकादि भेद | १५ | २७ |
| नव तत्त्वों का स्वरूप | | |
| मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय का स्वरूप | १६ | २९ |
| मिथ्यात्व के दस भेद | | |
| चारित्र मोहनीय की उत्तर प्रकृतियाँ | १७ | ३१ |
| चार प्रकार के कषायों का स्वरूप | १८ | ३२ |
| दृष्टान्त द्वारा क्रोध और मान का स्वरूप | १९ | ३३ |
| दृष्टान्त द्वारा माया और लोभ का स्वरूप | २० | ३४ |
| नोकषाय मोहनीय के हास्य आदि छह भेद | २१ | ३५ |
| भय के सात प्रकार | | |
| नोकषाय मोहनीय के अन्तिम भेद और तीन वेदों का स्वरूप | २२ | ३७ |
| आयु और नामकर्म का स्वरूप तथा उनके भेद | | |
| आयु के अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय दो भेद | | |
| नाम कर्म की चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ | २४ | ३९ |
| आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ | २५ | ४१ |
| त्रस आदि दस प्रकृतियाँ | २६ | ४२ |
| स्थावर आदि दस प्रकृतियाँ | २७ | ४२ |

| विषय | गाथा | पृष्ठ |
|---|-------|-------|
| प्रकृति-बोधक शास्त्रीय परिभाषायें | २८-२९ | ४३-४४ |
| पिण्ड प्रकृतियों के भेदों की संख्या | ३० | ४५ |
| नामकर्म के भिन्न-भिन्न अपेक्षा से ६३, १०३ और ९७ भेद | ३१ | ४५ |
| बन्ध आदि की अपेक्षा से कर्म प्रकृतियों की अलग- अलग संख्यायें | ३२ | ४६ |
| गति, जाति और शरीर नामकर्म के भेद | ३३ | ४८ |
| उपाङ्ग नामकर्म के तीन भेद | ३४ | ५० |
| बन्धन नामकर्म के पाँच भेद | ३५ | ५१ |
| शरीरों के विषय में सर्व-बन्ध और देश-बन्ध का विचार | | |
| संघातन नामकर्म का दृष्टान्तपूर्वक स्वरूप | ३६ | ५२ |
| बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद | ३७ | ५३ |
| संहनन नामकर्म के छह भेद | ३८-३९ | ५४ |
| संस्थान नामकर्म के छह भेद और वर्ण नामकर्म के पाँच भेद | ४० | ५६ |
| गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्मों के भेद | ४१ | ५८ |
| वर्णादि चतुष्क की शुभ अशुभ प्रकृतियाँ | ४२ | ५९ |
| आनुपूर्वी और विहायोगति नामकर्म के भेद तथा गति-द्विक आदि परिभाषायें | ४३ | ६० |
| पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का स्वरूप | ४४ | ६१ |
| आतप नामकर्म का स्वरूप | ४५ | ६२ |
| उद्योत नामकर्म का स्वरूप | ४६ | ६३ |
| अगुरुलघु और तीर्थकर नामकर्म का स्वरूप | ४७ | ६३ |
| निर्माण और उपघात नामकर्म का स्वरूप | ४८ | ६४ |
| त्रस, बादर और पर्याप्त नामकर्म का स्वरूप | ४९ | ६५ |

| विषय | गाथा | पृष्ठ |
|--|------|----------|
| पर्याप्त का स्वरूप और उसके भेद | | |
| लब्धिपर्याप्त और करण पर्याप्त का स्वरूप | | |
| प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग नामकर्म का स्वरूप | ५० | ६८ |
| सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति नामकर्म तथा | | |
| स्थावरदशक का स्वरूप | ५१ | ६८ |
| लब्ध्यपर्याप्त और करणा पर्याप्त का स्वरूप | | |
| गोत्र और अन्तरायकर्म के भेद | ५२ | ७१ |
| वीर्यान्तराय के बालवीर्यान्तराय आदि तीन भेद | | |
| अन्तराय कर्म का दृष्टान्त-स्वरूप | ५३ | ७२ |
| मूल आठ और उत्तर १५८ प्रकृतियों की सूची | | |
| बन्ध आदि की अपेक्षा से आठ कर्मों की उत्तर | | |
| प्रकृतियों की सूची | | |
| ज्ञानावरण और दर्शनावरण के बन्ध हेतु | ५४ | ७६ |
| सातावेदनीय तथा असातावेदनीय के बन्ध के कारण | ५५ | ७७ |
| दर्शनमोहनीय कर्म के बन्ध के कारण | ५६ | ७९ |
| चारित्र मोहनीय और नरकायु के बन्ध हेतु | ५७ | ८० |
| तिर्यञ्च की आयु तथा मनुष्य की आयु के बन्ध हेतु | ५८ | ८२ |
| देवायु और शुभ-अशुभ नाम के बन्ध हेतु | ५९ | ८२ |
| तीन प्रकार का गौरव | | |
| गोत्र कर्म के बन्ध हेतु | ६० | ८३ |
| आठ प्रकार का मद | | |
| अन्तराय कर्म के बन्ध हेतु तथा उपसंहार | ६१ | ८४ |
| कर्मग्रन्थ भाग- २ | | |
| प्रस्तावना | | xxxv-xli |
| मंगलाचरण | १ | ८५ |

| विषय | गाथा | पृष्ठ |
|---|------|-------|
| गुणस्थानों के नाम | २ | |
| गुणस्थान का सामान्य स्वरूप | २ | ८७ |
| मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वरूप | २ | ८७ |
| सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान का स्वरूप | २ | ८८ |
| सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९१ |
| अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९२ |
| देशविरत गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९३ |
| प्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९४ |
| अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९४ |
| निवृत्ति गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९४ |
| अनिवृत्तिबादरसम्पराय गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९७ |
| सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९८ |
| उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान का स्वरूप | २ | ९८ |
| क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान का स्वरूप | २ | १०१ |
| सयोगिकेवलि गुणस्थान का स्वरूप | २ | १०२ |
| अयोगिकेवलि गुणस्थान का स्वरूप | २ | १०३ |

बन्धाधिकार- १

| | | |
|--|-------|-----|
| बन्ध का लक्षण और मिथ्यात्व का प्रकृति-बन्ध | ३ | १०४ |
| सासादन का प्रकृति-बन्ध | ४ | १०८ |
| मिश्र का प्रकृति-बन्ध | ४-५ | १०८ |
| अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरति का प्रकृति-बन्ध | ६ | ११० |
| प्रमत्त का प्रकृति-बन्ध | ६-७ | ११० |
| अप्रमत्त का प्रकृति-बन्ध | ७-८ | ११० |
| अपूर्वकरण का प्रकृति-बन्ध | ९-१० | ११३ |
| अनिवृत्ति का प्रकृति-बन्ध | १०-११ | ११३ |
| सूक्ष्मसंपराय का प्रकृति-बन्ध | ११ | ११३ |
| उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली का प्रकृति-बन्ध | १२ | ११५ |
| बन्ध-यन्त्र | | ११७ |

| विषय | गाथा | पृष्ठ |
|--|-------|-------|
| उदयाधिकार- २ | | |
| उदय-उदीरणा का लक्षण तथा मिथ्यात्व में उदय | १३ | ११८ |
| सासादन में उदय | १४ | ११९ |
| मिश्र में उदय | १४-१५ | ११९ |
| अविरतसम्यग्दृष्टि में उदय | १५ | ११९ |
| देशविरति में उदय | १५-१६ | ११९ |
| प्रमत्त में उदय | १६-१७ | ११९ |
| अप्रमत्त में उदय | १७ | ११९ |
| अपूर्वकरण और अनिवृत्ति में उदय | १८ | १२५ |
| सूक्ष्मसम्पराय में उदय | १८-१९ | १२५ |
| उपशान्तमोह में उदय | १९ | १२५ |
| क्षीणमोह और सयोगिकेवली में उदय | २० | १२५ |
| अयोगिकेवली में उदय | | |
| उदय-यन्त्र | | १३० |
| उदीरणाधिकार- ३ | | |
| उदय से उदीरणा की विशेषता | २३-२४ | १३१ |
| उदीरणा-यन्त्र | | १३३ |
| सत्ताधिकार- ४ | | |
| सत्ता का लक्षण और पहले ग्यारह गुणस्थानों में प्रकृति-सत्ता | २५ | १३४ |
| अपूर्वकरण आदि ४ और सम्यक्त्व आदि ४ गुणस्थानों में मतान्तर से सत्ता | २६ | १३६ |
| क्षपकश्रेणि की अपेक्षा से सम्यक्त्व गुणस्थान आदि में सत्ता | २७ | १३७ |
| अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग आदि में सत्ता | २८-२९ | १३८ |
| सूक्ष्मसम्पराय और क्षीणमोह की सत्ता | ३० | १३८ |
| सयोगी की सत्ता | ३१ | १३८ |
| अयोगी की सत्ता | ३१-३२ | १३८ |
| मतान्तर से अयोगी के चरम समय में सत्ता | ३४ | १४१ |
| सत्ता-यन्त्र | | १४२ |

| विषय | गाथा | पृष्ठ |
|--|-------|-----------|
| उत्तर प्रकृतियों का बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता-सम्बन्धी यन्त्र कर्मग्रन्थ भाग- ३ | | १४३-१४८ |
| प्रस्तावना | | xlii-xlvi |
| मंगल और विषय-कथन | १ | १४९ |
| संकेत के लिये उपयोगी प्रकृतियों का संग्रह | २-३ | १५० |
| नरकगति का बन्ध-स्वामित्व | ४-६ | १५१-१५३ |
| सामान्य नरक का तथा रत्नप्रभा आदि नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र | | १५४ |
| पङ्कप्रभा आदि नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र | | १५५ |
| तिर्यञ्चगति का बन्धस्वामित्व | ७-८ | १५३-१५८ |
| सातवें नरक का बन्धस्वामित्व-यंत्र | | १५७ |
| पर्याप्त तिर्यञ्च का बन्धस्वामित्व-यंत्र | | १६० |
| मनुष्यगति का बन्धस्वामित्व | ९ | १६१ |
| पर्याप्त मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यंत्र | | १६२-१६३ |
| लब्धि अपर्याप्त तिर्यञ्च तथा मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यंत्र १६४ | | |
| देवगति का बन्धस्वामित्व | १०-११ | १६५-१६८ |
| सामान्य देवगति का तथा पहले दूसरे देवलोक के देवों का बन्धस्वामित्व-यंत्र | | १६६ |
| भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का बन्धस्वामित्व-यंत्र | | १६७ |
| नववें से लेकर ४ देवलोक तथा नव ग्रैवेयक के देवों का बन्धस्वामित्व-यंत्र | | १६९ |
| अनुत्तरविमानवासी देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र | | १७० |
| इन्द्रिय और काय मार्गणा का बन्धस्वामित्व | ११-१३ | १६८-१७४ |
| एकेन्द्रिय आदि का बन्धस्वामित्व-यन्त्र | | १७३ |
| योग मार्गणा का बन्धस्वामित्व | १३-१७ | १७४-१८२ |

| | | |
|---|-------|---------|
| गति-त्रस का लक्षण | | १७४ |
| संयम, ज्ञान और दर्शन मार्गणा का बन्धस्वामित्व | १७-१८ | १८२-१८४ |
| सम्यक्त्व मार्गणा का बन्धस्वामित्व | १९ | १८६ |
| उपशम सम्यक्त्व की विशेषता | २० | १८७ |
| लेश्या का बन्धस्वामित्व | २१-२२ | १८८-१९० |
| भव्य, सज्जी और तहारक मार्गणा का बन्धस्वामित्व | २३ | १९३ |
| लेश्याओं में गुणस्थान | २४ | १९५ |

परिशिष्ट

भाग- १

| | |
|-------------------------------|-----|
| परिशिष्ट | १९९ |
| कोष | २०८ |
| मूल कर्मग्रन्थ की गाथायें | २३२ |
| श्वेताम्बरी कर्म-विषयक-ग्रन्थ | २३८ |
| दिगम्बरी कर्म-विषयक-ग्रन्थ | २४१ |

भाग- २

| | |
|---------------------------|-----|
| परिशिष्ट | २४२ |
| कोश | २४४ |
| मूल कर्मग्रन्थ की गाथायें | २५७ |

भाग- ३

| | |
|--------------|-----|
| परिशिष्ट (क) | २६० |
| परिशिष्ट (ख) | २६४ |
| परिशिष्ट (ग) | २७३ |

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि-विरचित
कर्मविपाक अर्थात् कर्मग्रन्थ
(हिन्दी अनुवाद सहित)
(प्रथम भाग)

प्रस्तावना

कर्मवाद का मन्तव्य

कर्मवाद का मानना यह है कि सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, ऊँच-नीच आदि जो अनेक अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनके होने में काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि अन्य-अन्य कारणों की तरह कर्म भी एक कारण है। परन्तु अन्य दर्शनों की तरह कर्मप्रधान जैन दर्शन ईश्वर को उक्त अवस्थाओं का या सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नहीं मानता। दूसरे दर्शनों में किसी समय सृष्टि का उत्पन्न होना माना गया है; अतएव उनमें सृष्टि की उत्पत्ति के साथ किसी न किसी तरह से ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। न्यायदर्शन में कहा है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते हैं—‘तत्कारितत्वाद्देहेतुः’

(गौतमसूत्र अ. ४ आ. १ सू. २१)

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मान कर, उसके स्वरूप का वर्णन किया है—(देखिए, प्रशस्तपाद-भाष्य पृ. ४८)।

योगदर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम जड़ जगत् का फैलाव-माना है। (देखिए, समाधिपाद सू. २४ का भाष्य व टीका)।

श्री शङ्कराचार्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में, उपनिषद् के आधार पर जगह-जगह ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण सिद्ध किया है; जैसे—

‘चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम्।’ (ब्रह्म. २-१-२६ का भाष्य)

‘तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम्।’ (ब्रह्म. अ. २ पा. ३ अ. १ सू. ६ का भाष्य)

‘अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते।’ (ब्रह्म. अ. २ पा. ३ अ. १ सू. ७ का भाष्य)

परन्तु जीवों से फल भोगवाने के लिए जैन दर्शन ईश्वर को कर्म का प्रेरक नहीं मानता। क्योंकि कर्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है वैसे ही उसके फल को भोगने में भी। कहा है कि—‘यः कर्ता

कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य चा संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः'॥१॥ इसी प्रकार जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता, क्योंकि उसके मत से सृष्टि अनादि अनन्त होने से वह कभी अपूर्व उत्पन्न नहीं हुई तथा वह स्वयं ही परिणामनशील है इसलिये ईश्वर के अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखती।

कर्मवाद पर होने वाले मुख्य आक्षेप और उनका समाधान

ईश्वर को कर्ता या प्रेरक माननेवाले, कर्मवाद पर नीचे लिखे तीन आक्षेप करते हैं—

(१) घड़ी, मकान आदि छोटी-मोटी चीजें यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ही निर्मित होती हैं तो फिर सम्पूर्ण जगत्, जो कार्यरूप दिखाई देता है; उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिये।

(२) सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर कोई बुरे कर्म का फल नहीं चाहता और कर्म स्वयं जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के बिना फल देने में असमर्थ हैं। इसलिये कर्मवादियों को भी मानना चाहिये कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्म-फल भोगवाता है।

(३) ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये कि जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी जिसमें कुछ विशेषता हो। इसलिये कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

पहले आक्षेप का समाधान—यह जगत् किसी समय नया नहीं बना, वह सदा ही से है। हाँ, इसमें परिवर्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनके होने में मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है; तथा ऐसे परिवर्तन भी होते हैं कि जिनमें किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। वे जड़ तत्त्वों के तरह-तरह के संयोगों से—उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियों से बनते रहते हैं। उदाहरणार्थ मिट्टी, पत्थर आदि चीजों के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड़ का बन जाना; इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदी रूप में बहना; भाप का पानी रूप में बरसना और फिर से पानी का भाप रूप बन जाना इत्यादि। इसलिये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने की कोई जरूरत नहीं है।

दूसरे आक्षेप का समाधान—प्राणी जैसा कर्म करते हैं वैसा फल उनको कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ है और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नहीं चाहते यह ठीक है, पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि जीव के—चेतन—के संग से कर्म में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाकों को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नहीं मानता कि चेतन से सम्बन्ध के बिना ही जड़ कर्म भोग देने में समर्थ है। वह इतना ही कहता है कि फल देने के लिये ईश्वर-रूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि सभी जीव चेतन हैं वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात, केवल चाहना न होने ही से किये कर्म का फल मिलने से रुक नहीं सकता। सामग्री इकट्ठी हो गई फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे; सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? ईश्वर कर्तृत्ववादी कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना-अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते हैं। इस पर कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिससे प्रेरित होकर कर्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगता है और कर्म उस पर अपने फल को आप ही प्रकट करता है।

तीसरे आक्षेप का समाधान—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन; फिर उनमें अन्तर ही क्या है? हाँ! अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं। पर जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप में प्रकाशित हो जाती हैं। फिर जीव और ईश्वर में विषमता किस बात की? विषमता का कारण तो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है? विषमता का राज्य संसार तक ही परिमित है आगे नहीं। इसलिये कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिये उचित नहीं। सभी आत्मा तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं; केवल बन्धन के कारण वे छोटे-मोटे जीव रूप में देखे जाते हैं—यह सिद्धान्त सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिए पूर्ण बल देता है।

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवाद की उपयोगिता

इस लोक से या परलोक से सम्बन्ध रखने वाले किसी काम में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पड़े। सब कामों में सबको थोड़े बहुत प्रमाण में शारीरिक या मानसिक विघ्न आते ही हैं। ऐसी दशा में देखा जाता है कि बहुत लोग चंचल हो जाते हैं। घबड़ा कर दूसरों को दूषित ठहरा कर उन्हें कोसते हैं। इस तरह विपत्ति के समय एक तरफ बाहरी दुश्मन बढ़ जाते हैं दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर होने से अपनी भूल दिखाई नहीं देती। अन्त को मनुष्य व्यग्रता के कारण अपने आरम्भ किये हुये सब कामों को छोड़ बैठता है और प्रयत्न तथा शक्ति के साथ न्याय का भी गला घोटता है। इसलिये उस समय उस मनुष्य के लिये एक ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो उसके बुद्धि-नेत्र को स्थिर कर उसे यह देखने में मदद पहुँचाये कि उपस्थित विघ्न का असली कारण क्या है? जहाँ तक बुद्धिमानों ने विचार किया है तो यही पता चला है कि ऐसा गुरु, कर्म का सिद्धान्त ही है। मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिये कि चाहे मैं जान सकूँ या नहीं, लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझमें ही होना चाहिये।

जिस हृदय-भूमिका पर विघ्न-विष-वृक्ष उगता है उसका बीज भी उसी भूमिका में बोया हुआ होना चाहिये। पवन, पानी आदि बाहरी निमित्तों के समान उस विघ्न-विष-वृक्ष को अंकुरित होने में कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है, पर वह विघ्न का बीज नहीं—ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धिनेत्र को स्थिर कर देता है जिससे वह अड़चन के असली कारण को अपने में देख, न तो उसके लिये दूसरे को कोसता है और न घबड़ाता है। ऐसे विश्वास से मनुष्य के हृदय में इतना बल प्रकट होता है कि साधारण संकट के समय विक्षिप्त होने वाला वह बड़ी विपत्तियों को कुछ नहीं समझता और अपने व्यावहारिक या पारमार्थिक काम को पूरा कर डालता है।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिये परिपूर्ण हार्दिक शान्ति प्राप्त करनी चाहिये, जो एकमात्र कर्म के सिद्धान्त ही से हो सकती है। आँधी और तूफान में जैसे हिमालय का शिखर स्थिर रहता है वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओं के समय शान्त भाव में स्थिर रहना, यही सच्चा मनुष्यत्व है जो कि भूतकाल के अनुभवों से शिक्षा देकर मनुष्य को अपनी भावी भलाई के लिये तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व, कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास किये बिना कभी आ नहीं सकता। इससे यही कहना पड़ता है कि

क्या व्यवहार—क्या परमार्थ सब जगह कर्म का सिद्धान्त एक-सा उपयोगी है। कर्म के सिद्धान्त की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डॉ. मेक्समूलर का जो विचार है वह जानने योग्य है। वे कहते हैं—

‘यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत के लिये नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बल-संरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शङ्का क्यों न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है, उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुये हैं और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भावी जीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है।’

कर्मवाद के समुत्थान का काल और उसका साध्य

कर्मवाद के विषय में दो प्रश्न उठते हैं—(१) कर्मवाद का आविर्भाव कब हुआ? (२) वह क्यों?

पहले प्रश्न का उत्तर दो दृष्टियों से दिया जा सकता है। १. परम्परा और २. ऐतिहासिक दृष्टि से—

१. परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है कि जैनधर्म और कर्मवाद का आपस में सूर्य और किरण का-सा मेल है। किसी समय, किसी देश विशेष में जैनधर्म का अभाव भले ही दिखाई पड़े, लेकिन उसका अभाव सब जगह एक साथ कभी नहीं होता। अतएव सिद्ध है कि कर्मवाद भी प्रवाह-रूप से जैनधर्म के साथ-साथ अनादि है, अर्थात् वह अभूतपूर्व नहीं है।

२ परन्तु जैनैतर जिज्ञासु और इतिहास-प्रेमी जैन, उक्त परम्परा को बिना ननु-नच किये मानने के लिये तैयार नहीं। साथ ही वे लोग ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर दिये गये उत्तर को मान लेने में तनिक भी नहीं सकुचाते। यह

बात निर्विवाद सिद्ध है कि इस समय जो जैनधर्म श्वेताम्बर या दिगम्बर शाखारूप से वर्तमान है, इस समय जितना जैन-तत्त्व ज्ञान है और जो विशिष्ट परम्परा है वह सब भगवान् महावीर के विचार का चित्र है। समय के प्रभाव से मूल वस्तु में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, तथापि धारणाशील और रक्षणशील जैनसमाज के लिए इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि उसने तत्त्व-ज्ञान के प्रदेश में भगवान् महावीर के उपदिष्ट तत्त्वों से न तो अधिक गवेषणा की है और न ऐसा सम्भव ही था। परिस्थिति के बदल जाने से चाहे शास्त्रीय भाषा और प्रतिपादन शैली, मूल प्रवर्तक की भाषा और शैली से कुछ बदल गई हो; परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मूल तत्त्वों में और तत्त्व-व्यवस्था में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है। अतएव जैन-शास्त्र के नयवाद, निक्षेपवाद, स्याद्वाद आदि अन्य वादों के समान कर्मवाद का आविर्भाव भी भगवान् महावीर से हुआ है—यह मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती। वर्तमान जैन-आगम, किस समय और किसने रचे, यह प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही विवादास्पद हो; लेकिन उनको भी इतना तो अवश्य मान्य है कि वर्तमान जैन-आगम के सभी विशिष्ट और मुख्य वाद, भगवान् महावीर के विचार की विभूति हैं। कर्मवाद, यह जैनों का असाधारण व मुख्य वाद है, इसलिये उसके भगवान् महावीर से आविर्भूत होने के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए २६०० वर्ष बीते। अतएव वर्तमान कर्मवाद के विषय में यह कहना कि इसे उत्पन्न हुए ढाई हजार वर्ष हुए, सर्वथा प्रामाणिक है। भगवान् महावीर के शासन के साथ कर्मवाद का ऐसा सम्बन्ध है कि यदि वह उससे अलग कर दिया जाय तो उस शासन में शासनत्व (विशेषत्व) ही नहीं रहता—इस बात को जैनधर्म का सूक्ष्म अवलोकन करने वाले सभी ऐतिहासिक भली-भाँति जानते हैं।

इस जगह यह कहा जा सकता है कि 'भगवान् महावीर के समान, उनसे पूर्व, भगवान् पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि हो गये हैं। वे भी जैनधर्म के स्वतन्त्र प्रवर्तक थे और सभी ऐतिहासिक उन्हें जैनधर्म के धुरन्धर नायक रूप में स्वीकार भी करते हैं। फिर कर्मवाद के आविर्भाव के समय को उक्त समय-प्रमाण से बढ़ाने में क्या आपत्ति है?' परन्तु इस पर कहना यह है कि कर्मवाद के उत्थान के समय के विषय में जो कुछ कहा जाय वह ऐसा हो कि जिसके मानने में किसी को किसी प्रकार की आनाकानी न हो। यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि भगवान् नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि जैनधर्म के मुख्य प्रवर्तक हुए और उन्होंने

जैनशासन को प्रवर्तित भी किया; परन्तु वर्तमान जैन-आगम, जिन पर इस समय जैनशासन अवलम्बित है वे उनके उपदेश की सम्पत्ति नहीं। इसलिए कर्मवाद के समुत्थान का ऊपर जो समय दिया गया है उसे अशङ्कनीय समझना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि कर्मवाद का आविर्भाव किस प्रयोजन से हुआ। इसके उत्तर में निम्नलिखित तीन प्रयोजन मुख्यतया बतलाये जा सकते हैं—

(१) वैदिकधर्म की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता में जितना अंश भ्रान्त था उसे दूर करना।

(२) बौद्ध-धर्म के एकान्त क्षणिकवाद को अयुक्त बतलाना।

(३) आत्मा को जड़ तत्त्वों से भिन्न-स्वतन्त्र तत्त्व स्थापित करना।

इसके विशेष खुलासे के लिए यह जानना चाहिये कि आर्यावर्त में भगवान् महावीर के समय कौन-कौन धर्म थे और उनका मन्तव्य क्या था।

१. इतिहास बतलाता है कि उस समय भारतवर्ष में जैन के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध दो ही धर्म मुख्य थे; परन्तु दोनों के सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयों में बिल्कुल अलग थे। मूल^१ वेदों में, उपनिषदों^२ में, स्मृतियों^३ में और वेदानुयायी कतिपय दर्शनों में ईश्वर विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्वसाधारण का यह विश्वास हो गया था कि जगत् का उत्पादक ईश्वर ही है; वही अच्छे या बुरे कर्मों का फल जीवों से भोगवाता है; कर्म, जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भोगवा नहीं सकते; चाहे कितनी ही उच्च

१. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः..... ॥

-(ऋ.म. १०, सू. १९, मं ३)

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

-(तैत्ति. ३-१)

३. आसीदिदं तमोऽभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्व्वतः॥१-५॥

ततस्स्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।

महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥१-६॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विदिधाः प्रजाः।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥१-८॥

तदण्डमभवद्द्वैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।

तस्मिञ्ज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः॥१-९॥ -मनुस्मृति।

कोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर नहीं हो सकता; अन्ततः जीव, जीव ही है, ईश्वर नहीं और ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त संसार से निस्तार भी नहीं हो सकता; इत्यादि।

इस प्रकार के विश्वास में भगवान् महावीर को तीन भूलें जान पड़ीं—

- (१) कृतकृत्य ईश्वर का बिना प्रयोजन सृष्टि में हस्तक्षेप करना।
- (२) आत्मस्वातंत्र्य का दब जाना।
- (३) कर्म की शक्ति का अज्ञान।

इन भूलों को दूर करने के लिए व यथार्थ वस्तुस्थिति जानने के लिए भगवान् महावीर ने बड़ी शान्ति व गम्भीरतापूर्वक कर्मवाद का उपदेश दिया।

२. यद्यपि उस समय बौद्ध धर्म भी प्रचलित था, परन्तु उसमें जैसे ईश्वर कर्तृत्व का निषेध न था वैसे स्वीकार भी न था। इस विषय में बुद्ध एक प्रकार से उदासीन थे। उनका उद्देश्य मुख्यतया हिंसा को रोकना तथा समभाव फैलाने का था।

उनकी तत्त्व-प्रतिपादन सरणी भी तत्कालीन उस उद्देश्य के अनुरूप ही थी। बुद्ध भगवान् स्वयं, ^१कर्म और उसका ^२विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्त में क्षणिकवाद को स्थान था। इसलिए भगवान् महावीर के कर्मवाद के उपदेश का एक यह भी गूढ़ साध्य था कि 'यदि आत्मा को क्षणिक मात्र मान लिया जाय तो कर्म-विपाक की किसी तरह उपपत्ति हो नहीं सकती। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घट सकता है, जबकि आत्मा को न तो एकान्त नित्य माना जाय और न एकान्त क्षणिक।'

३. आजकल की तरह उस समय भी भूतात्मवादी मौजूद थे। वे भौतिक देह नष्ट होने के बाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान् किसी स्थायी तत्त्व को नहीं मानते थे यह दृष्टि भगवान् महावीर को बहुत संकुचित जान पड़ी। इसी से उसका निराकरण उन्होंने कर्मवाद द्वारा किया।

कर्मशास्त्र का परिचय

यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी विचार हैं, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं

१. कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा।

कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साणीव यायतो।।

—सुत्तनिपात, वासेठसुत्त, ६१।

२. यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामि।

—अंगुत्तरनिकाय।

होता। इसके विपरीत जैनदर्शन में कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत है। अतएव उन विचारों के प्रतिपादक शास्त्र, जिसे 'कर्मशास्त्र' या 'कर्म-विषयक साहित्य' कहते हैं, जैन-साहित्य के बहुत बड़े भाग को रोक रक्खा है। कर्म-शास्त्र को जैन-साहित्य का हृदय कहना चाहिये। यों तो अन्य विषयक जैन-ग्रन्थों में भी कर्म की थोड़ी बहुत चर्चा पाई जाती है पर उसके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अनेक हैं। भगवान् महावीर ने कर्मवाद का उपदेश दिया। उसकी परम्परा अभी तक चली आ रही है, लेकिन **सम्प्रदाय-भेद, संकलना और भाषा की दृष्टि** से उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है—

(१) **सम्प्रदाय-भेद**—भगवान् महावीर का शासन, श्वेताम्बर-दिगम्बर दो शाखाओं में विभक्त हुआ। उस समय कर्मशास्त्र भी विभाजित-सा हो गया। सम्प्रदाय भेद की नींव, ऐसे वज्र-लेप भेद पर पड़ी है जिससे अपने पितामह भगवान् महावीर के उपदिष्ट कर्म-तत्त्व पर, मिल कर विचार करने का पुण्य अवसर दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों को कभी प्राप्त नहीं हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय में कुछ मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दों में, उनकी व्याख्याओं में और कहीं-कहीं तात्पर्य में थोड़ा बहुत भेद हो गया, जिसका कुछ नमूना पाठक परिशिष्ट में देख सकेंगे—

(२) **संकलना**—भगवान् महावीर से अब तक कर्मशास्त्र की जो उत्तरोत्तर संकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टि से तीन विभाग बतलाये जा सकते हैं।

(क) **पूर्वात्मक कर्मशास्त्र**—यह भाग सबसे बड़ा और सबसे पहला है। क्योंकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक कि पूर्व-विद्या विच्छिन्न नहीं हुई थी। भगवान् महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रम-हास-रूप से पूर्व विद्या वर्तमान रही। चौदह में से आठवाँ पूर्व, जिसका नाम 'कर्मप्रवाद' है वह तो मुख्यतया कर्म-विषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा पूर्व, जिसका नाम 'अग्रायणीय' है, उसमें भी कर्मतत्त्व के विचार का एक 'कर्मप्राभृत' नामक भाग था। इस समय श्वेताम्बर या दिगम्बर साहित्य में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अंश वर्तमान नहीं है।

(ख) **पूर्व से उद्धृत यानी आकररूप कर्मशास्त्र**—यह विभाग, पहले विभाग से बहुत छोटा है तथापि वर्तमान अभ्यासियों के लिये वह इतना बड़ा है कि उसे आकर **कर्मशास्त्र** कहना पड़ता है। यह भाग, साक्षात् पूर्व से उद्धृत है ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों के ग्रन्थों में पाया जाता है। पूर्व में से उद्धृत किये गये कर्मशास्त्र का अंश, दोनों सम्प्रदाय में अभी वर्तमान है।

उद्धार के समय, सम्प्रदाय भेद, रूढ़ हो जाने के कारण उद्धृत अंश, दोनों सम्प्रदायों में कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में १ कर्मप्रकृति, २ शतक, ३ पञ्चसंग्रह और ४ सप्ततिका ये चार ग्रन्थ और दिगम्बर सम्प्रदाय में^१ कर्मप्रकृतिप्राभृत तथा २ कषायप्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं।

(ग) **प्राकरणिक कर्मशास्त्र**—यह विभाग, तीसरी संकलना का फल है। इसमें कर्म-विषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इन्हीं प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेषतया प्रचलित है। इन प्रकरणों के पढ़ने के बाद मेधावी अभ्यासी 'आकर ग्रन्थों' को पढ़ते हैं। 'आकर ग्रन्थों' में प्रवेश करने के लिए पहले प्राकरणिक विभाग का अवलोकन करना जरूरी है। यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र का विभाग, विक्रम की आठवीं-नवमीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक में निर्मित व पल्लवित हुआ है।

(३) **भाषा**—भाषा-दृष्टि से कर्मशास्त्र को तीन हिस्सों में विभाजित कर सकते हैं। (क) प्राकृत भाषा में, (ख) संस्कृत भाषा में और (ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं में।

(क) **प्राकृत**—पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र, इसी भाषा में बने हैं। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुत बड़ा भाग प्राकृत भाषा ही में रचा हुआ मिलता है। मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पणी भी प्राकृत भाषा में है।

(ख) **संस्कृत**—पुराने समय में जो कर्मशास्त्र बना है वह सब प्राकृत ही में है, किन्तु पीछे से संस्कृत भाषा में भी कर्मशास्त्र की रचना होने लगी। ज्यादा कर संस्कृत भाषा में कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पणी आदि ही लिखे गये हैं, पर कुछ मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र दोनों सम्प्रदाय में ऐसे भी हैं जो संस्कृत भाषा में रचे हुए हैं।

(ग) **प्रचलित प्रादेशिक भाषाएँ**—इनमें मुख्यतया कर्णाटकी, गुजराती और हिन्दी, तीन भाषाओं का समावेश है। इन भाषाओं में मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के हैं। इनका उपयोग मुख्यतया मूल तथा टीका के अनुवाद करने ही में किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओं में वही टीका-टिप्पण-अनुवाद आदि हैं जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र-विभाग पर लिखे हुए हैं। कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर साहित्य ने लिया है और गुजराती भाषा श्वेताम्बरीय साहित्य में उपयुक्त हुई है।

आगे चलकर 'श्वेताम्बरीय कर्मविषयक ग्रन्थ' और 'दिगम्बरीय कर्मविषयक ग्रन्थ' शीर्षक दो कोष्टक दिये जाते हैं, जिनमें उन कर्मविषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण है जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय साहित्य में अभी वर्तमान हैं या जिनका पता चला है।

कर्मशास्त्र में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि पर विचार

शरीर, जिन तत्त्वों से बनता है वे तत्त्व शरीर के सूक्ष्म, स्थूल आदि प्रकार, उसकी रचना, उसका वृद्धि-क्रम, हास-क्रम आदि अनेक अंशों को लेकर शरीर का विचार, शरीर-शास्त्र में किया जाता है। इसी से उस शास्त्र का वास्तविक गौरव है। वह गौरव कर्मशास्त्र को भी प्राप्त है। क्योंकि उसमें भी प्रसंगवश ऐसी अनेक बातों का वर्णन किया गया है जो कि शरीर से सम्बन्ध रखती हैं। शरीर-सम्बन्धी ये बातें पुरातन पद्धति से कही हुई हैं सही, परन्तु इससे उनका महत्त्व कम नहीं है। क्योंकि सभी वर्णन सदा नये नहीं रहते। आज जो विषय नया दिखाई देता है वही थोड़े दिनों के बाद पुराना हो जायगा। वस्तुतः काल के बीतने से किसी में पुरानापन नहीं आता। पुरानापन आता है उसका विचार न करने से। सामयिक पद्धति से विचार करने पर पुरातन शोधों में भी नवीनता-सी आ जाती है। इसलिए अतिपुरातन कर्मशास्त्र में भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारणभूत तत्त्वों पर जो कुछ थोड़े बहुत विचार पाये जाते हैं, वह उस शास्त्र की यथार्थ महत्ता का चिह्न है।

इसी प्रकार कर्मशास्त्र में भाषा के सम्बन्ध में तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी मनोरंजक व विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्व से बनती है? उसके बनने में कितना समय लगता है? उसकी रचना के लिये अपनी वीर्य-शक्ति का प्रयोग आत्मा किस तरह और किस साधन के द्वारा करता है? भाषा की सत्यता-असत्यता का आधार क्या है? कौन-कौन प्राणी भाषा बोल सकते हैं? किस-किस जाति के प्राणी में, किस-किस प्रकार की भाषा बोलने की शक्ति है? इत्यादि अनेक प्रश्न, भाषा से सम्बन्ध रखते हैं। उनका महत्त्वपूर्ण व गम्भीर विचार, कर्मशास्त्र में विशद् रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रियाँ कितनी हैं? कैसी हैं? उनके कैसे-कैसे भेद तथा कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं? किस-किस प्राणी को कितनी-कितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का आपस में क्या सम्बन्ध है? उनका कैसा-कैसा आकार है? इत्यादि अनेक प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले विचार, कर्मशास्त्र में पाये जाते हैं।

यह ठीक है कि ये सब विचार उसमें संकलना-बद्ध नहीं मिलते, परन्तु ध्यान में रहे कि उस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अंश और ही है। उसी के वर्णन में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि का विचार प्रसंगवश करना पड़ता है। इसलिए जैसी संकलना चाहिये वैसी न भी हो, तथापि इससे कर्मशास्त्र की कुछ त्रुटि सिद्ध नहीं होती; बल्कि उसको तो अनेक शास्त्रों के विषयों की चर्चा करने का गौरव ही प्राप्त है।

कर्मशास्त्र का अध्यात्म-शास्त्रपन

अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज ही में उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दुःखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप, ठीक-ठीक जाने बिना उसके पार का स्वरूप जानने की योग्यता, दृष्टि को कैसे प्राप्त हो सकती है? इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थाएँ ही आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं है? इसलिये अध्यात्म-शास्त्र को आवश्यक है कि वह पहले, आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्म-जन्य बतलाकर उनसे आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अंश है। यदि अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय तब भी कर्मशास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभव में आने वाली वर्तमान अवस्थाओं के साथ आत्मा के सम्बन्ध का सच्चा खुलासा न हो तब तक दृष्टि, आगे कैसे बढ़ सकती है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सब रूप, मायिक या वैभाविक हैं तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है। (परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाना यह भी अध्यात्म-शास्त्र का विषय है। इस सम्बन्ध में उपनिषदों में या गीता में जैसे विचार पाये जाते हैं वैसे ही कर्मशास्त्र में भी)। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा ही परमात्मा—जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा में मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का अपने कर्मावृत्त परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्मरूप हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है इसका मतलब कर्मशास्त्र को दृष्टि से यह है कि

जीव में जितनी ज्ञान-कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना-चन्द्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिये।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियों में आत्म-बुद्धि करना, अर्थात् जड़ में अहंत्व करना, बाह्य दृष्टि है। इस अभेद-भ्रम को बहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोड़ने की शिक्षा, कर्म-शास्त्र देता है जिनके संस्कार केवल बहिरात्मभावमय हो गये हैं उन्हें कर्म-शास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इससे उसकी सच्चाई में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता।

शरीर और आत्मा के अभेद भ्रम को दूर करा कर, उसके भेद-ज्ञान को (विवेकख्याति को) कर्म-शास्त्र प्रकट करता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने में वर्तमान परमात्म-भाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना यह, जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म-भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढंग से ही कर्म-शास्त्र ने अपने पर ले रक्खा है। क्योंकि वह अभेद-भ्रम से भेद ज्ञान की तरफ झुका कर, फिर स्वाभाविक अभेदध्यान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खींचता है। बस उसका कर्तव्य-क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। वही उसका महत्त्व है। बहुत लोगों को प्रकृतियों की गिनती, संख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नहीं होती, परन्तु इसमें कर्मशास्त्र का क्या दोष? गणित, पदार्थविज्ञान आदि गूढ व रस-पूर्ण विषयों पर स्थूलदर्शी लोगों की दृष्टि नहीं जमती और उन्हें रस नहीं आता, इसमें उन विषयों का क्या दोष? दोष है समझने वालों की बुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय में रस तभी आता है जब कि वह उसमें तल-तक उतर जाय।

विषय-प्रवेश

कर्म-शास्त्र जानने की चाह रखने वालों के लिए आवश्यक है कि वे 'कर्म' शब्द का अर्थ, भिन्न-भिन्न शास्त्रों में प्रयोग किये गये उसके पर्याय शब्द, कर्म का स्वरूप, आदि निम्न विषयों से परिचित हो जायें तथा आत्म-तत्त्व स्वतन्त्र है यह भी जान लें।

१. कर्म शब्द के अर्थ

'कर्म' शब्द लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनों में प्रसिद्ध है। उसके अनेक अर्थ होते हैं। साधारण लोग अपने व्यवहार में काम, धन्धे या व्यवसाय के मतलब से 'कर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्र में उसकी एक गति नहीं है। खाना, पीना, चलना, काँपना आदि किसी भी हल-चल के लिये—चाहे वह जीव की हो या जड़ की— कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कर्मकाण्डी मीमांसक, यज्ञ-याग आदि क्रिया-कलाप अर्थ में; स्मार्त विद्वान्, ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के नियत कर्मरूप अर्थ में; पौराणिक लोग, व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में; वैयाकरण लोग, कर्ता जिस को अपनी क्रिया के द्वारा पाना चाहता है उस अर्थ में—अर्थात् जिस पर कर्ता के व्यापार का फल गिरता है उसके अर्थ में; और नैयायिक लोग उत्क्षेपण आदि पाँच सांकेतिक कर्मों में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं। परन्तु जैनशास्त्र में कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते हैं। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय (भाव-कर्म) कहते हैं और दूसरा कार्मण जाति के पुद्गल-विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके हुये होते हैं और द्रव्य-कर्म कहलाते हैं।

२. कर्म शब्द के कुछ पर्याय

जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिये 'कर्म' शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते-जुलते अर्थ के लिये जैनैतर दर्शनों में ये शब्द मिलते हैं—माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन में पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन-दर्शन में भाव-कर्म कहते हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमांसा दर्शन में मिलता है। 'वासना' शब्द बौद्ध दर्शन में प्रसिद्ध है, परन्तु योग दर्शन में भी उसका प्रयोग किया गया है। 'आशय' शब्द विशेष कर योग तथा सांख्य दर्शन में मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार, इन

शब्दों का प्रयोग और दर्शनों में भी पाया जाता है, परन्तु विशेष कर न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं जो सब दर्शनों के लिये साधारण से हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं उनको पुनर्जन्म की सिद्धि-उपपत्ति—के लिये कर्म मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनों की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण या चेतन के स्वरूप में मतभेद होने के कारण, कर्म का स्वरूप थोड़ा बहुत भिन्न-भिन्न जान पड़े; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी आत्मवादियों ने माया आदि उपर्युक्त किसी न किसी नाम से कर्म को अंगीकार किया है।

३. कर्म का स्वरूप

मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही 'कर्म' कहलाता है। कर्म का यह लक्षण उपर्युक्त भावकर्म व द्रव्यकर्म दोनों में घटित होता है, क्योंकि भावकर्म आत्मा का और जीव का—वैभाविक परिणाम है, इससे उसका उपादान रूप कर्ता, जीव ही है और द्रव्यकर्म, जो कि कार्मण जाति के सूक्ष्म पुद्गलों का विकार है उसका भी कर्ता, निमित्तरूप से जीव ही है। भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनों का आपस में बीजाडकुर की तरह कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है।

४. पुण्य-पाप की कसौटी

साधारण लोग यह कहा करते हैं कि—'दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाओं के करने से शुभ कर्म का (पुण्य का) बन्ध होता है और किसी को कष्ट पहुँचाने, इच्छा-विरुद्ध काम करने आदि से अशुभ कर्म का (पाप का) बन्ध होता है।' परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय करने की मुख्य कसौटी यह नहीं है। क्योंकि किसी को कष्ट पहुँचाता हुआ और दूसरे की इच्छा-विरुद्ध काम करता हुआ भी मनुष्य, पुण्य उपार्जन कर सकता है। इसी तरह दान-पूजन आदि करने वाला भी पुण्य-उपार्जन न कर, कभी-कभी पाप बाँध लेता है। एक परोपकारी चिकित्सक, जब किसी पर शल्य-क्रिया करता है तब उस मरीज को कष्ट अवश्य होता है, हितैषी माता-पिता ना-समझ लड़के को जब उसकी इच्छा के विरुद्ध पढ़ाने के लिये यत्न करते हैं तब उस बालक को दुःख-सा मालूम पड़ता है; पर इतने ही से न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करने वाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता ही दोषी समझे जाते हैं। इसके विपरीत जब कोई, भोले लोगों को ठगने के इरादे से या और किसी तुच्छ आशय से दान, पूजन आदि क्रियाओं को करता है तब वह पुण्य के बदले पाप बाँधता है। अतएव पुण्य-बन्ध या

पाप-बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर-ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है। अच्छे आशय से जो काम किया जाता है वह पुण्य का निमित्त और बुरे अभिप्राय से जो काम किया जाता है वह पाप का निमित्त होता है। यह पुण्य पाप की कसौटी सब को एक जैसी मान्य है। क्योंकि यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि—

‘यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी’।

५. सच्ची निर्लेपता

साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप न लगेगा। इससे वे उस काम को तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। अतएव विचारना चाहिए कि सच्ची निर्लेपता क्या है? लेप (बन्ध), मानसिक क्षोभ को अर्थात् कषाय को कहते हैं। यदि कषाय नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने के लिए समर्थ नहीं है। इससे उलटा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। कषाय-रहित वीतराग सब जगह जल में कमल की तरह निर्लेप रहते हैं पर कषायवान आत्मा योग का स्वाँग रच कर भी तिल भर शुद्धि नहीं कर सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धक नहीं होता। मतलब सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग में है। यही शिक्षा कर्मशास्त्र से मिलती है और यही बात अन्यत्र भी कही हुई है—

‘मन एव मनुष्याणांकारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्धाय विषयाऽऽसक्तिं मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्।।’

—मैत्र्युपनिषद्

६. कर्म का अनादित्व

विचारवान मनुष्य के दिल में प्रश्न होता है कि कर्म सादि है या अनादि? इसके उत्तर में जैन दर्शन का कहना है कि कर्म, व्यक्ति की अपेक्षा से सादि और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी न किसी तरह की हलचल किया ही करता है। हलचल का होना ही कर्म-बन्ध की जड़ है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिशः आदि वाले ही हैं। किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला? इसे कोई बतला नहीं सकता। भविष्यत् के समान भूतकाल की गहराई अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के अतिरिक्त और किसी तरह से होना

असम्भव है। इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना दूसरी गति ही नहीं है। कुछ लोग अनादित्व की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घबड़ाकर कर्म प्रवाह को सादी बतलाने लग जाते हैं, पर वे अपनी बुद्धि की अस्थिरता से कल्पित दोष की आशंका करके, उसे दूर करने के प्रयत्न में एक बड़े दोष को स्वीकार कर लेते हैं। वह यह कि कर्म-प्रवाह यदि आदिमान है तो जीव पहले ही अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध होना चाहिये, फिर उसके लिप्त होने का क्या कारण? और यदि सर्वथा शुद्ध-बुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुये जीव भी कर्म-लिप्त होंगे; ऐसी दशा में मुक्ति को सोया हुआ संसार ही कहना चाहिये। कर्म प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के फिर से संसार में न लौटने को सब प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं; जैसे—

न कर्माऽविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात् ॥३५॥

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥ -ब्रह्मसूत्र अ. २ पा. १

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

-ब्र.सू.अ. ४ पा. ४

७. कर्मबन्ध का कारण

जैन दर्शन में कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कारण बतलाये गये हैं। इनका संक्षेप पिछले दो (कषाय और योग) कारणों में किया हुआ भी मिलता है। अधिक संक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि कषाय ही कर्मबन्ध का कारण है। यों तो कषाय के विकार के अनेक प्रकार हैं पर, उन सबका संक्षेप में वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानों ने उसके राग, द्वेष दो ही प्रकार किये हैं। कोई भी मानसिक विकार हो, या तो वह राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (ताप) रूप है। यह भी अनुभव सिद्ध है कि साधारण प्राणियों की प्रवृत्ति, चाहे वह ऊपर से कैसी ही क्यों न दीख पड़े, पर वह या तो रागमूलक या द्वेषमूलक होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओं का कारण होती है। प्राणी जान सके या नहीं, पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म सृष्टि का कारण, उसके राग और द्वेष ही होते हैं। मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने किये हुये जाल में फँसती है। जीव भी कर्म के जाले को अपनी ही बे-समझी से रच लेता है। अज्ञान, मिथ्या-ज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते हैं सो भी राग-द्वेष के सम्बन्ध ही से। राग की या द्वेष की मात्रा बढ़ी कि ज्ञान विपरीत रूप में बदलने लगा। इस प्रकार का शब्द-भेद होने पर भी कर्मबन्ध के कारण

के सम्बन्ध में अन्य आस्तिक दर्शनों के साथ, जैन दर्शन का कोई मतभेद नहीं। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शन में मिथ्याज्ञान को, योगदर्शन में प्रकृति-पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि में अविद्या को तथा जैनदर्शन में मिथ्यात्व को कर्म का कारण बतलाया है, परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि किसी को भी कर्म का कारण क्यों न कहा जाय, पर यदि उसमें कर्म की बन्धकता (कर्म लेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह राग-द्वेष के सम्बन्ध ही से। राग-द्वेष की न्यूनता या अभाव होते ही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत (शान्तिपर्व) के “कर्मणा बध्यते जन्तुः” इस कथन में भी कर्म शब्द का मतलब राग-द्वेष ही से है।

८. कर्म से छूटने के उपाय

अब यह विचार करना जरूरी है कि कर्मपटल से आवृत अपने परमात्मभाव को जो प्रगट करना चाहते हैं उनके लिये किन-किन साधनों की अपेक्षा है।

जैनशास्त्र में परम पुरुषार्थ—मोक्ष—पाने के तीन साधन बतलाये हुए हैं—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक्-चारित्र। कहीं-कहीं ज्ञान और क्रिया, दो को ही मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थल में दर्शन को ज्ञानस्वरूप—ज्ञान का विशेष—समझ कर उससे जुदा नहीं गिनते। परन्तु यह प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारों को मोक्ष का साधन माना गया है फिर जैनदर्शन में तीन या दो ही साधन क्यों कहे गये? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैनदर्शन में जिस सम्यक्-चारित्र को सम्यक्-क्रिया कहा है, जिसमें कर्म और योग दोनों मार्गों का समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक्-चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिये किये जाने वाले उपायों का समावेश होता है। मनोनिग्रह, इन्द्रियजय आदि सात्विक यज्ञ ही कर्ममार्ग है और चित्त-शुद्धि तथा उसके लिये की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योगमार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्ग का मिश्रण ही सम्यक्-चारित्र है। सम्यग्दर्शन ही भक्तिमार्ग है, क्योंकि भक्ति में श्रद्धा का अंश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धा रूप ही है। सम्यग्ज्ञान ही ज्ञानमार्ग है। इस प्रकार जैन-दर्शन में बतलाये हुये मोक्ष के तीन साधन अन्य दर्शनों के सभी साधनों के समुच्चय हैं।

९. आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है

कर्म के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसकी ठीक-ठीक संगति तभी हो सकती है जब कि आत्मा को जड़ से अलग तत्त्व माना जाय। आत्मा

का स्वतन्त्र अस्तित्व नीचे लिखे सात प्रमाणों से जाना जा सकता है—

(क) स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण, (ख) बाधक प्रमाण का अभाव, (ग) निषेध से निषेध-कर्ता की सिद्धि, (घ) तर्क, (ङ) शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य, (च) आधुनिक विद्वानों की सम्मति और (छ) पुनर्जन्म।

(क) **स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण**—यद्यपि सभी देहधारी अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिक रूप में घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्व का संदेह करते हैं, तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी-सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ'। यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूँ'। इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नहीं हूँ' यह बात नहीं। इसी बात को श्री शंकराचार्य ने भी कहा है—

'सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति'।

—ब्रह्म. भाष्य १.१.१।

इसी निश्चय को स्वसंवेदन (आत्मनिश्चय) कहते हैं।

(ख) **बाधक प्रमाण का अभाव**—ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो आत्मा के अस्तित्व का बाध (निषेध) करता हो। इस पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परन्तु इसका समाधान सहज है। किसी विषय का बाधक प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर उसे ग्रहण कर न सके। उदाहरणार्थ—आँख, मिट्टी के घड़े को देख सकती है पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टी के घड़े को न देखे, उस समय उसे उस विषय का बाधक समझना चाहिये।

इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं। उनकी ग्रहणशक्ति बहुत परिमित हैं। वे भौतिक पदार्थों में से भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयों को ही ऊपर-ऊपर से जान सकती हैं। सूक्ष्म-दर्शन यन्त्र आदि साधनों की वही दशा है। वे अभी तक भौतिक प्रदेश में ही कार्यकारी सिद्ध हुये हैं। इसलिये उनका अभौतिक—अमूर्त—आत्मा को जान न सकना बाध नहीं कहा सकता। मन, भौतिक होने पर भी इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है सही, पर जब वह इन्द्रियों का दास बन जाता है—एक के पीछे एक, इस तरह अनेक विषयों में बन्दर के समान दौड़ लगाता फिरता है—तब उसमें राजस व तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं। सात्त्विक भाव प्रकट होने नहीं पाता। यही बात गीता (अ. २ श्लो. ६७) में भी कही हुई है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुनविमिवाम्भसि।।

इसलिये चंचल मन में आत्मा को स्फुरणा भी नहीं होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति, जिस दर्पण में वर्तमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयों में दौड़ लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाध नहीं, किन्तु मन की अशक्ति मात्र है।

इस प्रकार विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि मन, इन्द्रियाँ, सूक्ष्मदर्शकयन्त्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नहीं रखते।

(ग) निषेध से निषेधकर्ता की सिद्धि—कुछ लोग यह कहते हैं कि 'हमें आत्मा का निश्चय नहीं होता, बल्कि कभी-कभी उसके अभाव की स्फुरणा हो आती है; क्योंकि किसी समय मन में ऐसी कल्पना होने लगती है कि 'मैं नहीं हूँ' इत्यादि।' परन्तु उनको जानना चाहिये कि उनकी यह कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे? जो निषेध कर रहा है वह स्वयं ही आत्मा है। इस बात को श्रीशंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में भी कहा है—

‘य एव ही निराकर्ता तदेव ही तस्य स्वरूपम्।’

—अ. २, पा. ३, अ. १, सू. ७।

(घ) तर्क—यह भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की पुष्टि करता है। वह कहता है कि जगत् में सभी पदार्थों का विरोधी कोई न कोई देखा जाता है। अन्धकार का विरोधी प्रकाश। उष्णता का विरोधी शैत्या। सुख का विरोधी दुःख। इसी तरह जड़ पदार्थ का विरोधी भी कोई तत्त्व होना चाहिये।^१ जो तत्त्व जड़ का विरोधी है वही चेतन या आत्मा है।

१. यह तर्क निर्मूल या अप्रमाण नहीं, बल्कि इस प्रकार का तर्क शुद्ध (बुद्धि का चिह्न है।) भगवान् बुद्ध को भी अपने पूर्वजन्म में—अर्थात् सुमेध नामक ब्राह्मण के जन्म में ऐसा ही तर्क हुआ था। यथा—

‘यथा हि’ लोके दुक्खस्स पटिपक्खभूतं सुखं नाम अत्थि, एवं भवे सत्ति तप्पटिपक्खेन विभवेनाऽपि भवितब्बं यथा च उण्हे सत्ति तस्स बूपसमभूतं सीतंऽपि अत्थि, एवं रागादीनं अग्गीनं वूपसमेन निब्बानेनाऽपि भवितब्बं।’

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि 'जड़, चेतन ये दो स्वतन्त्र विरोधी तत्त्व मानना उचित नहीं, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ में जड़त्व व चेतनत्व दोनों शक्तियाँ मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का विकास होने लगता है—उसकी अभिव्यक्ति होती है—उस समय जड़त्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्तिवाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम हैं। वे जड़ के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते, किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीव धारीरूप में दिखाई देते हैं।' ऐसा ही मन्तव्य हेगल आदि अनेक पश्चिमीय विद्वानों का भी है। परन्तु उस प्रतिकूल तर्क का निवारण अशक्य नहीं है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु में जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब उसमें दूसरी विरोधिनी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदा के लिये नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर से उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है वह भी सदा के लिये नहीं। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ पानी के अणुओं को लीजिये, वे गरमी पाते ही भापरूप में परिणत हो जाते हैं, फिर शैल आदि निमित्त मिलते ही पानीरूप में बरसते हैं और अधिक शीतत्व प्राप्त होने पर द्रवत्वरूप को छोड़ बर्फरूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह यदि जड़त्व-चेतनत्व दोनों शक्तियों को किसी एक मूल तत्त्वगत मान लें, तो विकासवाद ही न ठहर सकेगा। क्योंकि चेतनत्व शक्ति के विकास के कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं वे ही सब, जड़त्वशक्ति का विकास होने पर फिर जड़ हो जायँगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़त्व में दिखाई देते हैं वे कभी चेतन हो जायँगे और चेतनरूप से दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणी कभी जड़रूप भी हो जायँगे। अतएव एक-एक पदार्थ में जड़त्व, चेतनत्व दोनों विरोधिनी शक्तियों को न मान कर जड़-चेतन दो स्वतन्त्र तत्त्वों को ही मानना ठीक है।

(ड) शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य—अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारों ने बड़ी शान्ति व गम्भीरता के साथ आत्मा के विषय में खोज की है, उनके शास्त्रगत अनुभव को यदि हम बिना ही अनुभव किये चपलता से यों ही हँस दें तो, इसमें क्षुद्रता किस की? आजकल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्होंने अपना

जीवन पवित्रतापूर्वक आत्मा के विचार में ही बिताया। उनके शुद्ध अनुभव को हम यदि अपने भ्रान्त अनुभव के बल पर न मानें तो इसमें न्यूनता हमारी ही है। पुरातनशास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा निःस्वार्थ भाव से आत्मा के अस्तित्व को बतला रहे हैं।

(च) आधुनिक वैज्ञानिकों की सम्मति—आजकल लोग प्रत्येक विषय का खुलासा करने के लिये बहुधा वैज्ञानिक विद्वानों का विचार जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि अनेक पश्चिमीय भौतिक-विज्ञान विशारद आत्मा को नहीं मानते या उसके विषय में संदिग्ध हैं। परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक हैं कि जिन्होंने अपनी सारी वायु भौतिक खोज में बिताई है, पर उनकी दृष्टि भूतों से परे आत्मतत्त्व की ओर भी पहुँची है। उन में से सर ऑलीवर लॉज और लॉर्ड केलविन, इनका नाम वैज्ञानिक संसार में मशहूर है। ये दोनों विद्वान् चेतन तत्त्व को जड़ से जुदा मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने जड़वादियों की युक्तियों का खण्डन बड़ी सावधानी से व विचारसारणी से किया है। उनका मन्तव्य है कि चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व के अतिरिक्त जीवधारियों के देह की विलक्षण रचना किसी तरह बन नहीं सकती। वे अन्य भौतिकवादियों की तरह मस्तिष्क को ज्ञान की जड़ नहीं समझते, किन्तु उसे ज्ञान के आविर्भाव का साधन मात्र समझते हैं।^१

डॉ. जगदीशचन्द्र बोस, जिन्होंने सारे वैज्ञानिक संसार में नाम पाया है, उनकी खोज से यहाँ तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियों में भी स्मरण-शक्ति विद्यमान है। बोस महाशय ने अपने आविष्कारों से स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व मानने के लिये वैज्ञानिक संसार को मजबूर किया है।

(छ) पुनर्जन्म—नीचे अनेक प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका पूरा समाधान पुनर्जन्म को स्वीकार किये बिना नहीं होता। गर्भ के आरम्भ से लेकर जन्म तक बालक को जो-जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वे सब उस बालक के कृति के परिणाम हैं या उसके माता-पिता की कृति के? उन्हें बालक की इस जन्म की कृति का परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्था में तो अच्छा-बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता-पिता की कृति का परिणाम कहें तो भी असंगत जान पड़ता है, क्योंकि माता-पिता अच्छा या बुरा कुछ भी करें उसका परिणाम बिना कारण बालक को क्यों भोगना पड़े? बालक जो कुछ सुख-दुःख भोगता

१. इन दोनों चैतन्यवादियों के विचार को छाया, संवत् १९६१ के ज्येष्ठ मास के, १९६२ मार्गशीर्ष मास के और १९६५ के भाद्रपद मास के 'वसन्त' पत्र में प्रकाशित हुई है।

है वह यों ही बिना कारण भोगता है—यह गानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है, क्योंकि बिना कारण किसी कार्य का होना असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि माता-पिता के आहार-विहार का, विचार-व्यवहार का और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं का असर बालक पर गर्भावस्था से ही पड़ना शुरू होता है तो फिर भी सामने यह प्रश्न होता है कि बालक को ऐसे माता-पिता का संयोग क्यों हुआ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी बालक की योग्यता माता-पिता से बिल्कुल ही जुदा प्रकार की होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं कि माता-पिता बिल्कुल अनपढ़ होते हैं और लड़का पूरा शिक्षित बन जाता है। विशेष क्या? यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं-किन्हीं माता-पिताओं की रुचि, जिस बात पर बिल्कुल ही नहीं होती उसमें बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस-पास की परिस्थिति ही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समान परिस्थिति और बराबर देखभाल होते हुये भी अनेक विद्यार्थियों में विचार व व्यवहार की भिन्नता देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यह परिणाम बालक के अद्भुत ज्ञानतंतुओं का है, तो इस पर यह शंका होती है कि बालक का देह माता-पिता के शुक्रशोणित से बना होता है, फिर उनमें अविद्यमान ऐसे ज्ञानतन्तु बालक के मस्तिष्क में आये कहाँ से? कहीं-कहीं माता-पिता की-सी ज्ञानशक्ति बालक में देखी जाती है सही, पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला? किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लड़का गँवार ही रह जाता है।

यह सबको विदित ही है कि एक साथ—युगलरूप से—जन्मे हुये दो बालक भी समान नहीं होते। माता-पिता की देखभाल बराबर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एक का पिण्ड रोग से नहीं छूटता और दूसरा बड़े-बड़े कुशितबाजों से हाथ मिलाता है। एक दीर्घजीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न होते रहने पर भी यम का अतिथि बन जाता है। एक ही इच्छा संयत होती है और दूसरे की असंयत।

जो शक्ति, महावीर में, बुद्ध में, शङ्कराचार्य में थी वह उनके माता-पिताओं में न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता-पिता नहीं माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नहीं, क्योंकि देवचन्द्रसूरि के हेमचन्द्राचार्य के अतिरिक्त और भी शिष्य थे, फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यों का नाम लोग जानते तक नहीं और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध

है? श्रीमती एनी बिसेन्ट में जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है वह उनके माता-पिता में न थी और न उनकी पुत्री में भी। अच्छा, और भी कुछ प्रामाणिक उदाहरणों को सुनिये।

प्रकाश की खोज करने वाले डॉ. यंग दो वर्ष की उम्र में पुस्तक को बहुत अच्छी तरह बाँच सकते थे। चार वर्ष की उम्र में वे दो दफे बाइबल पढ़ चुके थे। सात वर्ष की अवस्था में उन्होंने गणितशास्त्र पढ़ना आरम्भ किया था और तेरह वर्ष की अवस्था में लेटिन, ग्रीक, हिब्रू, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाएँ सीख ली थीं। सर विलियन रोवन हेमिल्ट, इन्होंने तीन वर्ष की उम्र में हिब्रू भाषा सीखना आरम्भ किया और सात वर्ष की उम्र में उस भाषा में इतना नैपुण्य प्राप्त किया कि डब्लिन की ट्रीनिटी कॉलेज के एक फेलो को स्वीकार करना पड़ा कि कॉलेज के फेलो के पद के प्रार्थियों में भी उनके बराबर ज्ञान नहीं है और तेरह वर्ष की वय में तो उन्होंने कम से कम तेरह भाषा पर अधिकार जमा लिया था। ई.सं. १८९२ में जन्मी हुई एक लड़की ई.सं. १९०२ में—दस वर्ष की अवस्था में एक नाटकमण्डल में सम्मिलित हुई थी। उसने उस अवस्था में कई नाटक लिखे थे। उसकी माता के कथनानुसार वह पाँच वर्ष की वय में कई छोटी-मोटी कविताएँ बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कविताएँ महारानी विक्टोरिया के पास थीं। उस समय उस बालिका का अंग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्यजनक था, वह कहती थी कि मैं अंग्रेजी पढ़ी नहीं हूँ, परन्तु उसे जानती हूँ।

उक्त उदाहरणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस जन्म में देखी जाने वाली सब विलक्षणताएँ न तो वर्तमान जन्म की कृति का ही परिणाम है, न माता-पिता के केवल संस्कार का ही; और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के आरम्भ समय से और भी पूर्व मानना चाहिये। यही पूर्वजन्म है। पूर्वजन्म में इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुये हों उन्हीं के आधार पर उपर्युक्त शङ्काओं का तथा विलक्षणताओं का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्वजन्म सिद्ध हुआ उसी के बल से अनेक पूर्वजन्म की परम्परा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि अपरिमित ज्ञानशक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकती। इस प्रकार आत्मा, देह से जुदा अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्त्व का कभी नाश नहीं होता इस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता में भी कहा है—

‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।’

—अ. २, श्लो. १६।

इतना की नहीं, बल्कि वर्तमान शरीर के बाद आत्मा का अस्तित्व माने बिना प्रश्न हल ही नहीं हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्म में तो प्रामाणिक जीवन बिताते हैं, परन्तु रहते हैं दरिद्र। और ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चिढ़ते हैं; परन्तु होते हैं वे सब तरह से सुखी। ऐसे अनेक व्यक्ति मिल सकते हैं जो हैं तो स्वयं दोषी, और उनके दोषों का—अपराधों का—फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फाँसी पर लटकया जाता है। एक करता है चोरी और पकड़ा जाता है दूसरा। अब इस पर विचार करना चाहिये कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का बदला इस जन्म में नहीं मिला, उनकी कृति क्या यों ही विफल हो जायगी? यह कहना कि कृति विफल नहीं होती, यदि कर्त्ता को फल नहीं मिला तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगों पर होता ही है—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है वह सब दूसरों के लिये ही नहीं। रात-दिन परोपकार करने में निरत महात्माओं को भी इच्छा, दूसरों की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है। विश्व की व्यवस्था में इच्छा का बहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशा में वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का भी नाश मान लेना युक्तिसंगत नहीं। मनुष्य अपने जीवन की आखरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है जिससे कि अपना भला हो। यह नहीं कि ऐसा करने वाले सब भ्रान्त ही होते हैं। बहुत आगे पहुँचे हुये स्थिरचित्त व शान्त प्रज्ञावान् योगी भी इसी विचार से अपने साधन को सिद्ध करने की चेष्टा में लगे होते हैं कि इस जन्म में नहीं तो दूसरे में ही सही, किसी समय हम परमात्मभाव को प्रकट कर ही लेंगे। इसके सिवाय सभी के चित्त में यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं बराबर कायम रहूँगा।

शरीर, नाश होने के बाद चेतन का अस्तित्व यदि न माना जाय तो व्यक्ति का उद्देश्य कितना संकुचित बन जाता है और कार्यक्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है? औरों के लिये जो कुछ किया जाय; परन्तु वह अपने लिये किये जाने वाले कामों के बराबर हो नहीं सकता। चेतन की उत्तर-मर्यादा को वर्तमान देह के अन्तिम क्षण तक मान लेने से व्यक्ति को महत्वाकांक्षा एक तरह से छोड़ देनी पड़ती है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में सही, परन्तु मैं अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूँगा—यह भावना मनुष्य के हृदय में जितना बल प्रकट कर सकती है उतना बल अन्य कोई भावना नहीं प्रकट कर सकती। यह भी नहीं

कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है; क्योंकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्वविदित है। विकासवाद भले ही भौतिक रचनाओं को देखकर जड़ तत्वों पर खड़ा किया गया हो, पर उसका विषय चेतन भी बन सकता है। इन सब बातों पर ध्यान देने से यह माने बिना संतोष नहीं होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। वह जाने या अनजाने जो अच्छा-बुरा कर्म करता है उसका फल, उसे भोगना ही पड़ता है और इसलिये उसे पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना पड़ता है। बुद्ध भगवान् ने भी पुनर्जन्म माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निट्शे भी कर्मचक्रकृत पूर्वजन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म की स्वीकृति आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के लिये प्रबल प्रमाण है।

१०. कर्म-तत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता

जैनदर्शन में प्रत्येक कर्म की बध्यमान्, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थायें मानी हुई हैं। उन्हें क्रमशः बन्ध, सत्ता और उदय कहते हैं। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन है। उनमें बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण' सत्कर्म को 'संचित' और उदयमान कर्म को 'प्रारब्ध' कहा है। किन्तु जैनशास्त्र में ज्ञानावरणीय आदिरूप से कर्म का ८ तथा १४८ भेदों में वर्गीकरण किया गया है और इसके द्वारा संसारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का जैसा खुलासा किया गया है वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन में नहीं है। पातञ्जलदर्शन में कर्म के जाति, आयु और भोग तीन तरह के विपाक बतलाये हैं, परन्तु जैनदर्शन में कर्म के सम्बन्ध में किये गये विचार के सामने वह वर्णन नाम-मात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन-किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म, अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म, कितने समय तक विपाक देने में असमर्थ है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिये कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक हैं? एक कर्म, अन्य कर्मरूप कब बन सकता है? उसकी बन्धकालीन तीव्र-मन्द शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा सकती हैं? पीछे से विपाक देने वाला कर्म पहले ही कब और किस तरह भोगा जा सकता है? कितना भी बलवान् कर्म क्यों न हो, पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है? कभी-कभी आत्मा के शतशः प्रयत्न करने पर भी कर्म, अपना विपाक बिना भोगवाये नहीं छोड़ता?

आत्मा, किस तरह कर्म का कर्ता और किस तरह भोक्ता है? इतना होने पर भी वस्तुतः आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नहीं है? संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं? आत्मा वीर्य-शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेंक देता है? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन-सा दीखता है? और बाह्य हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस तरह नहीं होता? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को भी किस तरह हटा देता है? वह अपने में वर्तमान परमात्मभाव को देखने के लिये जिस समय उत्सुक होता है उस समय उसके और अन्तरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है? अन्त में वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान् कर्मों को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कण्टक करता है? आत्ममन्दिर में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम, जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है? जीव अपनी शुद्ध-परिणाम-तरंगमाला के वैद्युतिक यन्त्र से कर्म के पहाड़ों को किस कदर चूर-चूर कर डालता है? कभी-कभी गुलांट खाकर कर्म ही, जो कुछ देर के लिये दबे होते हैं, वे ही प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं? कौन-कौन कर्म, बन्ध की व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं? किस कर्म का बन्ध किस अवस्था में अवश्यम्भावी और किस अवस्था में अनियत है? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है? आत्मसम्बन्ध अतीन्द्रिय कर्मराज किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से स्थूल पुद्गलों को खींचा करता है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्मशरीर आदि का निर्माण किया करता है? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न, जो कर्म से सम्बन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक, विस्तृत व विशद खुलासा जैन कर्म-साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नहीं किया जा सकता। यही कर्मतत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता है।

ग्रन्थ परिचय

संसार में जितने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (धर्मसंस्थाएँ) हैं उन सबका साहित्य दो विभागों में विभाजित है—(१) तत्त्वज्ञान और (२) आचार व क्रिया।

ये दोनों विभाग एक-दूसरे से बिल्कुल ही अलग नहीं हैं। इनका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा शरीर में नेत्र और हाथ, पैर आदि अन्य अवयवों का। जैन सम्प्रदाय का साहित्य भी तत्त्वज्ञान और आचार इन दो विभागों में बँटा हुआ है। यह ग्रन्थ पहले विभाग से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् इसमें विधि-निषेधात्मक क्रिया का वर्णन नहीं है, किन्तु इसमें वर्णन है तत्त्व का। यों तो जैन दर्शन में अनेक तत्त्वों पर विशिष्ट दृष्टि से विचार किया है पर, इस ग्रन्थ में उन सबका वर्णन नहीं है। इसमें प्रधानतया कर्मतत्त्व का वर्णन है। आत्मवादी सभी दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म को मानते ही हैं, पर जैनदर्शन इस सम्बन्ध में अपनी असाधारण विशेषता रखता है अथवा यों कहिये कि कर्मतत्त्व के विचार प्रदेश में जैनदर्शन अपना सानी नहीं रखता, इसलिये इस ग्रन्थ को जैनदर्शन की विशेषता का या जैनदर्शन के विचारणीय तत्त्व का ग्रन्थ कहना उचित है।

विशेष परिचय

इस ग्रन्थ का अधिक परिचय करने के लिए इसके नाम, विषय, वर्णनक्रम, रचना का मूलाधार, परिणाम, भाषा, कर्ता आदि अनेक बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थ के 'कर्मविपाक' और 'प्रथम कर्मग्रन्थ' इन दो नामों में से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने आदि में 'कम्मविवागं समासओ वुच्छं' तथा अन्त में 'इअ कम्मविवागोऽयं' इस कथन से स्पष्ट ही कर दिया है। परन्तु दूसरे नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। वह नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविषयक ग्रन्थों से यह पहला है; इसके बिना पढ़े कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणों में प्रवेश ही नहीं हो सकता। पिछला नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढ़ने-पढ़ाने वाले तथा अन्य लोग प्रायः उसी नाम से व्यवहार करते हैं। पहला कर्मग्रन्थ, इस प्रचलित नाम से मूल नाम यहाँ तक अप्रसिद्ध-सा हो गया है कि कर्मविपाक कहने से बहुत लोग कहने वाले का आशय ही नहीं समझते। यह बात इस प्रकरण के विषय में ही नहीं, बल्कि कर्मस्तव आदि अग्रिम प्रकरणों के विषय में भी बराबर लागू पड़ती है। अर्थात् कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीतिक, शतक

और सप्तति का कहने से क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरण का मतलब बहुत कम लोग समझेंगे; परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा कर्मग्रन्थ कहने से लोग कहने वाले का भाव समझ लेंगे।

विषय—इस ग्रन्थ का विषय कर्मतत्त्व है पर, इसमें कर्म से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों पर विचार न करके प्रकृति-अंश पर ही प्रधानतया विचार केन्द्रित है, अर्थात् कर्म की सब प्रकृतियों का विपाक ही इसमें मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय से इसका नाम भी 'कर्मविपाक' रक्खा गया है।

वर्णन क्रम—इस ग्रन्थ में सबसे पहले यह दिखाया है कि कर्मबन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु सहेतुक है। इसके बाद कर्म का स्वरूप परिपूर्ण बताने के लिये उसे चार अंशों में विभाजित किया है—(१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) रस और (४) प्रदेश। इसके बाद आठ प्रकृतियों के नाम और उनके उत्तर भेदों की संख्या बताई गई है। अनन्तर ज्ञानावरणीयकर्म के स्वरूप को दृष्टान्त, कार्य और कारण द्वारा दिखलाने के लिए प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पाँच भेदों को और उनके अवान्तर भेदों को संक्षेप में, परन्तु तत्त्वरूप से दिखाया है। ज्ञान का निरूपण करके उसके आवरणभूत कर्म का दृष्टान्त द्वारा उद्घाटन (खुलासा) किया है। अनन्तर दर्शनावरण कर्म को दृष्टान्त द्वारा समझाया है। पीछे उसके भेदों को दिखलाते हुये दर्शन शब्द का अर्थ बतलाया है।

दर्शनावरणीय कर्म के भेदों में पाँच प्रकार की निद्राओं का, सर्वानुभवसिद्ध स्वरूप, संक्षेप में, पर बड़ी मनोरंजकता से वर्णन किया है। इसके बाद क्रम से सुख-दुःखजनक वेदनीयकर्म, सद्भिश्वास और सच्चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीयकर्म, अक्षय जीवन के विरोधी आयुकर्म, गति, जाति आदि अनेक अवस्थाओं के जनक नामकर्म, उच्च-नीचगोत्रजनक गोत्रकर्म और लाभ आदि में रुकावट करने वाले अन्तराय कर्म का तथा उन प्रत्येक कर्म के भेदों का थोड़े में, किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्त में प्रत्येक कर्म के कारण को दिखा कर ग्रन्थ समाप्त किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विषय कर्म का विपाक है, तथापि प्रसंगवश इसमें जो कुछ कहा गया है उन सबको संक्षेप में पाँच विभागों में बाँट सकते हैं—

(१) प्रत्येक कर्म के प्रकृति आदि चार अंशों का कथन, (२) कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ, (३) पाँच प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन, (४) सब प्रकृतियों का दृष्टान्तपूर्वक कार्य-कथन, (५) सब प्रकृतियों के कारण का कथन।

आधार—यों तो यह ग्रन्थ कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह आदि प्राचीनतर ग्रन्थों के आधार पर रचा गया है, परन्तु इसका साक्षात् आधार प्राचीन कर्मविपाक है जो श्री गर्गऋषि का बनाया हुआ है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथाप्रमाण होने से पहले पहल कर्मशास्त्र में प्रवेश करने वालों के लिये बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिये उसका संक्षेप केवल ६१ गाथाओं में कर दिया गया है। इतना संक्षेप होने पर भी इसमें प्राचीन कर्मविपाक की खास व तात्त्विक बात कोई भी नहीं छूटी है। इतना ही नहीं, बल्कि संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने यहाँ तक ध्यान रक्खा है कि कुछ अतिउपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक में नहीं है उन्हें भी इस ग्रन्थ में दाखिल कर दिया है। उदाहरणार्थ—श्रुतज्ञान के पर्याय आदि २० भेद तथा आठ कर्मप्रकृतियों के बन्ध के हेतु, प्राचीन कर्मविपाक में नहीं हैं, पर उनका वर्णन इसमें है। संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने इस तत्त्व की ओर भी ध्यान रक्खा है कि जिस एक बात का वर्णन करने से अन्य बातें भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सकें वहाँ उस बात को ही बतलाना, अन्य को नहीं। इसी अभिप्राय से, प्राचीन कर्मविपाक में जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर-प्रकृति का विपाक दिखाया गया है वैसे इस ग्रन्थ में नहीं दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य में कुछ भी कमी नहीं की गई है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण हो गया है। इसके पढ़ने वाले बिना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ सकते हैं। यह ग्रन्थ संक्षेपरूप होने से सबको मुख-पाठ करने में व याद रखने में बड़ी आसानी होती है। इसी से प्राचीन कर्मविपाक के छप जाने पर भी इसकी चाह और माँग में कुछ भी कमी नहीं हुई है। इस कर्मविपाक की अपेक्षा प्राचीन कर्मविपाक बड़ा है सही, पर वह भी उससे पुरातन-ग्रन्थ का संक्षेप ही है, यह बात उसके आदि में वर्तमान 'वोच्छं कम्मविवागं गुरुवइठ्ठं समासेण' इस वाक्य से स्पष्ट है।

भाषा—यह कर्मग्रन्थ तथा इसके आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थ मूल प्राकृत भाषा में हैं। इनकी टीका संस्कृत में है। मूल गाथाएँ ऐसी सुगम भाषा में रची हुई हैं कि पढ़ने वालों को थोड़ा बहुत संस्कृत का बोध हो और उन्हें कुछ प्राकृत के नियम समझा दिये जायँ तो वे मूल गाथाओं के ऊपर से ही विषय का परिज्ञान कर सकते हैं। संस्कृत टीका भी बड़ी विशद भाषा में खुलासे के साथ लिखी गई है जिससे जिज्ञासुओं को पढ़ने में बहुत सुगमता होती है।

ग्रन्थकार की जीवनी

१. समय—प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता श्रीदेवेन्द्रसूरि का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी का अन्त और चौदहवीं शताब्दी का आरम्भ है। उनका स्वर्गवास वि.सं. १३३७ में हुआ ऐसा उल्लेख गुर्वावली में^१ स्पष्ट है; परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता; तथापि यह जान पड़ता है कि १२८५ में श्री जगच्चन्द्रसूरि ने तपागच्छ की स्थापना की, तब वे दीक्षित हुए होंगे। क्योंकि गच्छस्थापना के बाद श्रीजगच्चन्द्रसूरि के द्वारा ही श्रीदेवेन्द्रसूरि और श्रीविजयचन्द्रसूरि को सूरिपद दिये जाने का वर्णन गुर्वावली^२ में है। यह तो मानना ही पड़ता है कि सूरिपद ग्रहण करने के समय, श्रीदेवेन्द्रसूरि वय, विद्या और संयम से स्थविर रहे होंगे। अन्यथा इतने गुरुतर पद का और खास करके नवीन प्रतिष्ठित किये गये तपागच्छ के नायकत्व का भार वे कैसे संभाल सकते?

उनका सूरिपद वि.सं. १२८५ के बाद हुआ। सूरिपद का समय अनुमान वि.सं. १३०० मान लिया जाय, तब भी यह कहा जा सकता है कि तपागच्छ की स्थापना के समय वे नवदीक्षित रहे होंगे। उनकी कुल उम्र ५० या ५२ वर्ष की मान ली जाय तो यह सिद्ध है कि वि.सं. १२७५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। वि.सं. १३०२ में उन्होंने उज्जयिनी में श्रेष्ठिवर जिनचन्द्र के पुत्र वीरधवल को दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरि के नाम से विख्यात हुये। उस समय देवेन्द्रसूरि की उम्र २५-२७ वर्ष की मान ली जाय तब भी उक्त अनुमान की—१२७५ के लगभग जन्म होने की—पुष्टि होती है। अस्तु; जन्म का, दीक्षा का तथा सूरिपद का समय निश्चित न होने पर भी इस बात में कोई संदेह नहीं है कि वे विक्रम की १३वीं शताब्दी के अन्त में तथा चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में अपने अस्तित्व से भारतवर्ष की और खासकर गुजरात तथा मालवा की शोभा बढ़ा रहे थे।

२. जन्मभूमि, जाति आदि—श्रीदेवेन्द्रसूरि का जन्म किस देश में, किस जाति और किस परिवार में हुआ इसका कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला। गुर्वावली में^३ उनके जीवन का वृत्तान्त है, पर वह है बहुत संक्षिप्त। उसमें सूरिपद

१. देखो श्लोक १७४;

२. देखो श्लोक १०७।

३. देखो श्लोक १०७ से आगे।

ग्रहण करने के बाद की बातों का उल्लेख है, अन्य बातों का नहीं। इसलिये उसके आधार पर उनके जीवन के सम्बन्ध में जहाँ कहीं उल्लेख हुआ है वह अधूरा ही है। तथापि गुजरात और मालवा में उनका अधिक विहार, इस अनुमान की सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवा में से किसी देश में जन्मे होंगे। उनकी जाति और माता-पिता के सम्बन्ध में तो साधन-अभाव से किसी प्रकार के अनुमान को अवकाश ही नहीं है।

३. विद्वत्ता और चारित्र्यतत्परता—श्रीदेवेन्द्रसूरिजी जैनशास्त्र के निष्णात विद्वान् थे इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, क्योंकि इस बात की गवाही उनके ग्रन्थ ही दे रहे हैं। अब तक उनका बनाया हुआ ऐसा कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आया जिसमें कि उन्होंने स्वतन्त्र भाव से षड्दर्शन पर अपने विचार प्रकट किये हों; परन्तु गुर्वावली के वर्णन से पता चलता है कि वे षड्दर्शन के मार्मिक विद्वान् थे और इसी से मन्त्रेश्वर वस्तुपाल तथा अन्य विद्वान् उनके व्याख्यान में आया करते थे। यह कोई नियम नहीं है कि जो जिस विषय का पण्डित हो वह उस पर ग्रन्थ लिखे ही, कई कारणों से ऐसा नहीं भी हो सकता। परन्तु श्रीदेवेन्द्रसूरि का जैनागमविषयक ज्ञान हृदयस्पर्शी था यह बात असन्दिग्ध है। उन्होंने पाँच कर्मग्रन्थ—जो नवीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं (और जिनमें से यह पहला है) सटीक रचे हैं। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखने के बाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उसकी टीकायें देखने की जिज्ञासा एक तरह से शान्त हो जाती है। उनके संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में रचे हुये अनेक ग्रन्थ इस बात की स्पष्ट सूचना करते हैं कि वे संस्कृत, प्राकृत भाषा के प्रखर पण्डित थे।

श्रीदेवेन्द्रसूरि केवल विद्वान् ही नहीं थे, बल्कि वे चारित्र्यधर्म में भी सुदृढ़ थे। इसके प्रमाण में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रियाशिथिलता को देखकर श्रीजगच्चन्द्रसूरि ने बड़े पुरुषार्थ और निःसीम त्याग से, जो क्रियोद्धार किया था उसका निर्वाह श्रीदेवेन्द्रसूरि ने ही किया। यद्यपि श्रीजगच्चन्द्रसूरि ने श्रीदेवेन्द्रसूरि तथा श्रीविजयचन्द्रसूरि दोनों को आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया था, तथापि गुरु के आरम्भ किये हुये क्रियोद्धार के दुर्धर कार्य को श्रीदेवेन्द्रसूरि ही संभाल सके। तत्कालीन शिथिलाचार्यों का प्रभाव उन पर कुछ भी नहीं पड़ा। इसके विपरीत श्री विजयचन्द्रसूरि, विद्वान् होने पर भी प्रमाद के चंगुल में फँस गये और शिथिलाचारी हुये।^१ अपने सहचारी को शिथिल देख, समझाने पर भी उनके न समझने से अन्त में श्रीदेवेन्द्रसूरि ने अपनी क्रियारुचि के कारण उनसे

१. देखो गुर्वावली पद्य १२२ से उनका जीवनवृत्त।

अलग होना पसंद किया। इससे यह बात साफ प्रमाणित होती है कि वे बड़े दृढ़ मन के और गुरुभक्त थे। उनका हृदय ऐसा संस्कारी था कि उसमें गुण का प्रतिबिम्ब तो शीघ्र पड़ जाता था पर दोष का नहीं; क्योंकि दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में जो श्वेताम्बर तथा दिग्म्बर के अनेक असाधारण विद्वान् हुये, उनकी विद्वत्ता, ग्रन्थनिर्माणपटुता और चारित्रप्रियता आदि गुणों का प्रभाव तो श्रीदेवेन्द्रसूरि के हृदय पर पड़ा,^१ परन्तु उस समय जो अनेक शिथिलाचारी थे, उनका असर इन पर कुछ भी नहीं पड़ा।

श्रीदेवेन्द्रसूरि के शुद्धक्रियापक्षपाती होने से अनेक मुमुक्षु, जो कल्याणार्थी व संविग्न-पाक्षिक थे वे आकर उनसे मिल गये थे। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान के समान चारित्र को भी स्थिर रखने व उन्नत करने में अपनी शक्ति का उपयोग किया था।

४. गुरु—श्रीदेवेन्द्रसूरि के गुरु थे श्रीजगच्चन्द्रसूरि जिन्होंने श्रीदेवभद्र उपाध्याय की मदद से क्रियोद्धार का कार्य आरम्भ किया था। इस कार्य में उन्होंने अपनी असाधारण त्यागवृत्ति दिखाकर औरों के लिए आदर्श उपस्थित किया था। उन्होंने आजन्म आर्यबिल व्रत का नियम लेकर घी, दूध आदि के लिए जैनशास्त्र में व्यवहार किये गये विकृति शब्द को यथार्थ सिद्ध किया। इसी कठिन तपस्या के कारण बड़गच्छ का 'तपागच्छ' नाम हुआ और वे तपागच्छ के आदि सूत्रधार कहलाये। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने गच्छपरिवर्तन के समय श्रीजगच्चन्द्र-सुरीश्वर की बहुत अर्चापूजा की। श्रीजगच्चन्द्रसूरि तपस्वी ही न थे किन्तु वे प्रतिभाशाली भी थे, क्योंकि गुर्वावली में यह वर्णन है कि उन्होंने चित्तौड़ की राजधानी अघाट (अहड़ नगर) में बत्तीस दिग्म्बरवादियों के साथ वाद किया था और उसमें वे हीरे के समान अभेद्य रहे थे। इस कारण चित्तौड़ नरेश की ओर से उनको 'हीरला' की पदवी^२ मिली थी। उनकी कठिन तपस्या, शुद्ध बुद्धि और निरवद्य चारित्र के लिए यही प्रमाण बस है कि उनके स्थापित किये हुये तपागच्छ के पाट पर आज तक^३ ऐसे विद्वान्, क्रियातत्पर और शासन प्रभावक आचार्य बराबर होते

१. उदाहरणार्थ—श्रीगर्गऋषि, जो दसवीं शताब्दी में हुये, उनके कर्मविपाक का संक्षेप इन्होंने किया। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुये, उनके रचित गोम्मतसार से श्रुतज्ञान के पदश्रुतादि बीस भेद पहले कर्मग्रन्थ में दाखिल किये जो श्वेताम्बरीय अन्य ग्रन्थों में अब तक देखने में नहीं आये। श्रीमलयगिरिसूरि, जो बारहवीं शताब्दी में हुये, उनके ग्रन्थ के तो वाक्य इनके बनाये टीका आदि में दृष्टिगोचर होते हैं।

२. यह सब जानने के लिये देखो गुर्वावली पद्य ८८ से आगे।

३. यथा श्रीहीरविजयसूरि, श्रीमद् न्यायविशारद महामहोपाध्याय यशोविजयगणि, श्रीमद् न्यायाम्भोनिधि विजयानन्दसूरि, आदि।

आये हैं कि जिनके सामने बादशाहों ने, हिन्दू नरपतियों ने और बड़े-बड़े विद्वानों ने सिर झुकाया है।

५. परिवार—श्रीदेवेन्द्रसूरि का परिवार कितना बड़ा था इसका स्पष्ट खुलासा तो कहीं देखने में नहीं आया, पर इतना लिखा मिलता है कि अनेक संविग्न मुनि उनके आश्रित थे।^१ गुर्वावली में उनके दो शिष्य—श्रीविद्यानन्द और श्रीधर्मकीर्ति—का उल्लेख है। ये दोनों भाई थे। 'विद्यानन्द' नाम, सूरिपद के पीछे का है। इन्होंने 'विद्यानन्द' नाम का व्याकरण बनाया है। धर्मकीर्ति उपाध्याय, जो सूरिपद लेने के बाद 'धर्मघोष' नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्होंने भी कुछ ग्रन्थ रचे हैं। ये दोनों शिष्य, अन्य शास्त्रों के अतिरिक्त जैनशास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। इसका प्रमाण, उनके गुरु श्रीदेवेन्द्रसूरि की कर्मग्रन्थ की वृत्ति के अन्तिम पद्य से मिलता है। उन्होंने लिखा है कि 'मेरी बनाई हुई इस टीका को श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्ति, दोनों विद्वानों ने शोध किया है।' इन दोनों का विस्तृत वृत्तान्त जैनतत्त्वादर्श के बारहवें परिच्छेद में दिया था।

६. ग्रन्थ—श्रीदेवेन्द्रसूरि के कुछ ग्रन्थ जिनके विषय में जानकारी मिलती है उनके नाम नीचे लिखे जाते हैं—

१. श्राद्धदिनकृत्य सूत्रवृत्ति, २. सटीक पाँच नवीन कर्मग्रन्थ,
३. सिद्धपंचाशिका सूत्रवृत्ति, ४. धर्मरत्नवृत्ति, ५. सुदर्शन चरित्र,
६. चैत्यवंदनादि भाष्यत्रय, ७. वंदारुवृत्ति, ८. सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन,
९. सिद्धदण्डिका, १०. सारवृत्तिदशा।

इनमें से प्रायः बहुत ग्रन्थ जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, आत्मानन्द सभा भावनगर, देवचन्द लालभाई पुस्तकोत्तर फण्ड, सूरत की ओर से छप चुके हैं।

*

१. देखो, पद्य १५३ में आगे।

* वन्दे वीरम् *

श्री देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मविपाक नामक
प्रथम कर्मग्रन्थ

मङ्गल और कर्म का स्वरूप

सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओवुच्छं।
कीरइ जिण्ण हेउहिं, जेणंतो भण्णए कम्मं॥१॥

मैं (सिरिवीरजिणं) श्री वीर जिनेन्द्र को (वंदिय) नमस्कार करके (समासओ) संक्षेप से (कम्मविवागं) कर्मविपाक नामक ग्रन्थ को (वुच्छं) कहूँगा, (जेणं) जिस कारण, (जिण्ण) जीव के द्वारा (हेउहिं) हेतुओं से मिथ्यात्व, कषाय आदि से (कीरइ) किया जाता है—अर्थात् कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य अपने-अपने प्रदेशों के साथ मिला लिया जाता है (तो) इसलिये वह आत्मसम्बद्ध पुद्गलद्रव्य, (कम्म) कर्म (भण्णए) कहलाता है॥१॥

भावार्थ—रागद्वेष के जीतने वाले श्री महावीर को नमस्कार करके कर्म के अनुभव का जिसमें वर्णन है, ऐसे कर्मविपाक नामक ग्रन्थ को संक्षेप से कहूँगा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन हेतुओं से जीव, कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य को अपने आत्मप्रदेशों के साथ बाँध लेता है इसलिये आत्मसम्बद्ध पुद्गल द्रव्य को कर्म कहते हैं।

श्री वीर—श्री शब्द का अर्थ है लक्ष्मी, उसके दो भेद हैं, अन्तरंग और बाह्य। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को अन्तरंगलक्ष्मी कहते हैं। १ अशोकवृक्ष, २ सुरपुष्पवृष्टि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चामर, ५ आसन, ६ भामण्डक, ७ दुन्दुभि और ८ आतपत्र ये आठ महाप्रातिहार्य हैं, इनको बाह्यलक्ष्मी कहते हैं।

जिन—मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, आदि अन्तरंग शत्रुओं को जीत कर जिसने अपने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि गुणों को प्राप्त कर लिया है, उसे 'जिन' कहते हैं।

कर्म—पुद्गल उसे कहते हैं, जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हों, पृथ्वी, पानी, आग और हवा, पुद्गल से बने हैं। जो पुद्गल, कर्म बनते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज अथवा धूलि है जिसको इन्द्रियाँ यन्त्र की मदद से भी नहीं जान सकतीं। सर्वज्ञ परमात्मा अथवा परम अवधिज्ञान वाले योगी ही उस रज को देख सकते हैं; जीव के द्वारा जब वह रज ग्रहण की जाती है तब उसे कर्म कहते हैं।

शरीर में तेल लगाकर कोई धूलि में लोटे तो धूलि उसके शरीर में चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से जीव के प्रदेशों में जब परिस्पन्द होता है—अर्थात् हलचल होती है, तब जिस आकाश में आत्मा के प्रदेश हैं, वहीं के अनन्त-अनन्त कर्मयोग्य पुद्गलपरमाणु, जीव के एक-एक प्रदेश के साथ बन्ध जाते हैं। इस प्रकार जीव और कर्म का आपस में बन्ध होता है। दूध और पानी का तथा आग का और लोहे के गोले का जैसे सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का सम्बन्ध होता है।

कर्म और जीव का अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है। पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मप्रदेशों से अलग हो जाते हैं और नये कर्म प्रति समय बन्धते जाते हैं। कर्म और जीव का सादि सम्बन्ध मानने से यह दोष आता है कि 'मुक्त जीवों को भी कर्म बन्ध होना चाहिये'।

कर्म और जीव का अनादि-अनन्त तथा अनादि सान्त दो प्रकार का सम्बन्ध है। जो जीव मोक्ष पा चुके हैं या पायेंगे उनका कर्म के साथ अनादि-सान्त सम्बन्ध है और जिनका कभी मोक्ष न होगा उनका कर्म के साथ अनादि-अनन्त सम्बन्ध है। जिन जीवों में मोक्ष पाने की योग्यता है उन्हें भव्य और जिन में योग्यता नहीं है उन्हें अभव्य कहते हैं।

जीव का कर्म के साथ अनादि काल से सम्बन्ध होने पर भी जब जन्म-मरण-रूप संसार से छूटने का समय आता है तब जीव को विवेक उत्पन्न होता है—अर्थात् आत्मा और जड़ की भिन्नता मालूम हो जाती है। तप-ज्ञान-रूप अग्नि के बल से वह सम्पूर्ण कर्ममल को जला कर शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल हो जाता है। यही शुद्ध आत्मा ईश्वर है, परमात्मा है अथवा ब्रह्म है।

स्वामी—शंकराचार्य भी उक्त अवस्था में पहुँचे हुये जीव को परब्रह्म-शब्द से स्मरण करते हैं।

**प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चित्तिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां ।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥**

अर्थात् ज्ञानबल से पहले बाँधे हुये कर्मों को गला दो, नये कर्मों का बन्ध मत होने दो और प्रारब्ध कर्म को भोग कर क्षीण कर दो, इसके बाद परब्रह्मस्वरूप से अनन्त काल तक बने रहो। पुराने कर्मों के गलाने को 'निर्जरा' और नये कर्मों के बन्ध न होने देने को 'संवर' कहते हैं।

जब तक शत्रु का स्वरूप समझ में नहीं आता तब तक उस पर विजय पाना असम्भव है। कर्म से बढ़कर कोई शत्रु नहीं है जिसने आत्मा की अखण्ड शान्ति का नाश किया है। अतएव उस शान्ति की जिन्हें चाह है, वे कर्म का स्वरूप जानें, भगवान् महावीर की तरह कर्म-शत्रु का नाश कर अपने असली स्वरूप को प्राप्त करें और अपनी—

‘वेदाहमेतं परमं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्’।

की दिव्यध्वनि को सुनाते रहें। इसी के लिये कर्मग्रन्थ बने हुये हैं।

**‘कर्मबन्ध के चार भेद तथा मूल-प्रकृतियों और उत्तर-
प्रकृतियों की संख्या’**

पयइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठता ।

मूलपगइट्टउत्तरपगईअडवन्नसयमेयं ॥२॥

(तं) वह कर्मबन्ध (मोयगरस) लड्डू के (दिट्ठता) दृष्टान्त से (पयइठिइरसपएसा) प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश की अपेक्षा से (चउहा) चार प्रकार का है। (मूलपगइट्ट) मूल-प्रकृतियाँ आठ और (उत्तरपगईअडवन्नसयमेयं) उत्तर-प्रकृतियाँ एक सौ अट्ठावन १५८ हैं॥२॥

भावार्थ—प्रथम गाथा में कर्म का स्वरूप कहा गया है उसके बन्ध के चार भेद हैं—१. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिबन्ध, ३. रसबन्ध और ४. प्रदेशबन्ध। इन चार भेदों को समझाने के लिये लड्डू का दृष्टान्त दिया गया है। कर्म की मूल-प्रकृतियाँ आठ और उत्तर-प्रकृतियाँ एक सौ अट्ठावन १५८ हैं।

१. प्रकृतिबन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म-पुद्गलों में भिन्न स्वभावों का अर्थात् शक्तियों का पैदा होना, प्रकृतिबन्ध कहलाता है।

२. स्थितिबन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म-पुद्गलों में अमुक काल तक अपने स्वभावों को त्याग न कर जीव के साथ रहने की कालमर्यादा का होना, स्थितिबन्ध कहलाता है।

३. रसबन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म-पुद्गलों में रस के तरतमभाव का अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना, रसबन्ध

कहलाता है।

रसबन्ध को अनुभागबन्ध और अनुभवबन्ध भी कहते हैं।

४. प्रदेशबन्ध—जीव के साथ, न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का सम्बन्ध होना, प्रदेशबन्ध कहलाता है। इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है—

**स्वभावः प्रकृति प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशा दलसञ्चयः ॥**

अर्थात्—स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलों की संख्या को प्रदेश कहते हैं। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में प्रकृति आदि का स्वरूप यों समझना चाहिये—

वातनाशक पदार्थों से—सोंठ, मिर्च, पीपल आदि से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार वायु के नाश करने का है; पित्त नाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार पित्त के दूर करने का है; कफनाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार कफ के नष्ट करने का है, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुये कुछ कर्म-पुद्गलों में आत्मा के ज्ञानगुण के घात करने की शक्ति उत्पन्न होती है; कुछ कर्म-पुद्गलों में आत्मा के दर्शनगुण को ढक देने की शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्म-पुद्गलों में आत्मा के आनन्दगुण को छिपा देने की शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्म-पुद्गलों में आत्मा की अनन्त सामर्थ्य को दबा देने की शक्ति पैदा होती है, इस तरह भिन्न-भिन्न कर्म-पुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के अर्थात् शक्तियों के बन्ध को अर्थात् उत्पन्न होने को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

कुछ लड्डु एक सप्ताह तक रहते हैं, कुछ लड्डु एक पक्ष तक, कुछ लड्डु एक महीने तक, इस तरह लड्डुओं की अलग-अलग कालमर्यादा होती है; काल मर्यादा को स्थिति कहते हैं, स्थिति के पूर्ण होने पर, लड्डु अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं—अर्थात् बिगड़ जाते हैं; इसी प्रकार कोई कर्मदल आत्मा के साथ सत्तर क्रोडा-क्रोडी सागरोपम तक; कोई कर्मदल बीस क्रोडा-क्रोडी सागरोपम तक; कोई कर्मदल अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं, इस तरह अलग-अलग कर्मदलों में, अलग-अलग स्थितियों का—अर्थात् अपने स्वभाव को त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहने की कालमर्यादाओं का बन्ध—अर्थात् उत्पन्न होना, स्थितिबन्ध कहलाता है। स्थिति के पूर्ण होने पर कर्मदल अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं—आत्मा से भिन्न हो जाते हैं।

कुछ लड्डुओं में मधुर रस अधिक, कुछ लड्डुओं में कम; कुछ लड्डुओं में कटु रस अधिक, कुछ लड्डुओं में कम, इस तरह मधुर-कटु आदि रसों की न्यूनाधिकता देखी जाती है; उसी प्रकार कुछ कर्मदलों में शुभ रस अधिक, कुछ कर्मदलों में कम; कुछ कर्मदलों में अशुभ रस अधिक, कुछ कर्मदलों में कम, इस तरह विविध प्रकार के अर्थात् तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम, मन्द-मन्दतर-मन्दतम शुभ-अशुभ रसों का कर्म-पुद्गलों में बन्धना अर्थात् उत्पन्न होना, रसबन्ध कहलाता है।

शुभ कर्मों का रस, ईख द्राक्षादि के रस के सदृश मधुर होता है जिसके अनुभव से जीव खुश होता है। अशुभ कर्मों का रस, नीम आदि के रस के सदृश कडुवा होता है, जिसके अनुभव से जीव बुरी तरह घबरा उठता है। तीव्र, तीव्रतर आदि को समझने के लिये दृष्टान्त के तौर पर ईख या नीम का चार-चार सेर रस लिया जाय। इस रस को स्वाभाविक रस कहना चाहिये। आँच के द्वारा जलाकर चार सेर की जगह तीन सेर बच जाय तो उसे तीव्र कहना चाहिये; और जलाने के पश्चात् से दो सेर बच जाय तो तीव्रतर कहना चाहिए और जब एक सेर बच जाय तो तीव्रतम कहना चाहिए। ईख या नीम का एक सेर स्वाभाविक रस लिया जाय उसमें एक सेर पानी के मिलाने से मन्द रस बन जायगा, दो सेर पानी के मिलाने से मन्दतर रस बनेगा, तीर सेर पानी के मिलाने से मन्दतम रस बनेगा।

कुछ लड्डुओं का परिमाण दो तोले का, कुछ लड्डुओं का छटांक का और कुछ लड्डुओं का परिमाण पाव भर का होता है। उसी प्रकार कुछ कर्मदलों में परमाणुओं की संख्या अधिक और कुछ कर्मदलों में कम। इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार की परमाणु संख्याओं से युक्त कर्मदलों का आत्मा से सम्बन्ध होना, प्रदेशबन्ध कहलाता है।

संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त परमाणुओं से बने हुये स्कन्ध को जीव ग्रहण नहीं करता, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओं से बने हुये स्कन्ध को ग्रहण करता है।

मूलप्रकृति—कर्मों के मुख्य भेदों को मूलप्रकृति कहते हैं।

उत्तरप्रकृति—कर्मों के अवान्तर भेदों को उत्तरप्रकृति कहते हैं।

‘कर्म की मूलप्रकृतिओं के नाम और हर एक मूलप्रकृति के अवान्तर भेदों की-अभेदों की संख्या।’

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि ।

विग्घं च पणनवदुअट्टवीसचउतिसयदुपणविहं ॥ ३ ॥

(इह) इस शास्त्र में (नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र (च) और (विग्घं) अन्तराय, ये आठ कर्म कहे जाते हैं। इनके क्रमशः (पणनवदुअट्टवीसचउतिसयदुपणविहं) पाँच, नौ, दो, अट्टाईस, चार, एक सौ तीन, दो और पाँच भेद हैं ॥३॥

भावार्थ—आठ कर्मों के नाम ये हैं—

१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय। पहले कर्म के उत्तर-भेद पाँच, दूसरे के नौ, तीसरे के दो, चौथे के अट्टाईस, पाँचवे के चार, छठे के एक सौ तीन, सातवें के दो और आठवें के उत्तर-भेद पाँच हैं। इस प्रकार आठों कर्मों के उत्तर-भेदों की संख्या एक सौ अट्टावन १५८ होती है।

चेतना आत्मा का गुण है, उसके (चेतना के) पर्याय को उपयोग कहते हैं। उपयोग के दो भेद हैं—ज्ञान और दर्शन। ज्ञान को साकार उपयोग कहते हैं और दर्शन को निराकार उपयोग। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों का—जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्राहक है, वह ज्ञान कहा जाता है और जो उपयोग पदार्थों के सामान्यधर्म का—अर्थात् सत्ता का ग्राहक है, उसे दर्शन कहते हैं।

१. ज्ञानावरणीय—जो कर्म, आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करे—ढक देवे, उसे ज्ञानावरणीय कहते हैं।

२. दर्शनावरणीय—जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, वह दर्शनावरणीय कहलाता है।

३. वेदनीय—जो कर्म आत्मा को सुख-दुःख पहुँचावे, वह वेदनीय कहलाता है।

४. मोहनीय—जो कर्म स्व-पर-विवेक में तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुँचाता है, वह मोहनीय कहलाता है।

अथवा—जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व-गुण का और चारित्र गुण का घात करता है, उसे मोहनीय कहते हैं।

५. आयु—जिस कर्म के अस्तित्व से (रहने से) प्राणी जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे आयु कहते हैं।

६. नाम—जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्च आदि नामों से सम्बोधित होता है—अर्थात् अमुक जीव नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, उसे नाम कहते हैं।

७. गोत्र—जो कर्म, आत्मा को उच्च तथा नीच कुल में जन्मावे उसे गोत्र कहते हैं।

८. अन्तराय—जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप शक्तियों का घात करता है उसे अन्तराय कहते हैं।

‘ज्ञानावरणीय की पाँच उत्तर-प्रकृतियों को कहने के लिये पहले ज्ञान के भेद दिखलाते हैं।’

**मइसुयओहीमणकेवलाणिनाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गहचउहा मणनयणविणिंदियचउक्का ॥४॥**

(मइसुयओहीमणकेवलाणि) मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल—ये पाँच (नामाणि) ज्ञान हैं। (तत्थ) उनमें पहला (मइनाणं) मतिज्ञान अट्टाईस प्रकार का है, सो इस प्रकार—(मणनयणविणिंदियचउक्का) मन और आँख के अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियों को लेकर (वंजणवग्गह) व्यञ्जनावग्रह (चउहा) चार प्रकार है।

भावार्थ—अब आठ कर्मों की उत्तर-प्रकृतियाँ क्रमशः कही जायेंगी। प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म है, उसकी उत्तर-प्रकृतियों को समझाने के लिये ज्ञान के भेद दिखाते हैं, क्योंकि ज्ञान के भेद समझ में आ जाने से, उनके आवरण सरलता से समझ में आ सकते हैं। ज्ञान के मुख्य भेद पाँच हैं, उनके नाम मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। इन पाँचों के हर एक के अवान्तर भेद—अर्थात् उत्तर-भेद हैं। मतिज्ञान के अट्टाईस भेद हैं। चार इस गाथा में कहे गये; बाकी के अगली गाथा में कहे जायेंगे। इस गाथा में कहे हुये चार भेदों के नाम यह हैं—स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, रसनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह और श्रवणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह। आँख और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। कारण यह है कि आँख और मन ये दोनों पदार्थों से अलग रह कर ही उनको ग्रहण करते हैं; और व्यञ्जनावग्रह में तो इन्द्रियों का पदार्थों के साथ संयोग सम्बन्ध का होना आवश्यक है। आँख और मन ‘अप्राप्यकारी’ कहलाते हैं, और अन्य इन्द्रियाँ ‘प्राप्यकारी’। पदार्थों से बिना मिले ही उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं। तात्पर्य यह कि, जो इन्द्रियाँ

प्राप्यकारी हैं, उन्हीं से व्यञ्जनावग्रह होता है, अप्राप्यकारी से नहीं। आँखों में डाला हुआ अंजन, आँख से नहीं दीखता; और मन, शरीर के अन्दर रह कर ही बाहरी पदार्थों को ग्रहण करता है, अतएव ये दोनों प्राप्यकारी नहीं हो सकते।

१. **मतिज्ञान**—इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

२. **श्रुतज्ञान**—शास्त्रों के बाँधने तथा सुनने से जो अर्थज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है।

अथवा—मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो, ऐसा ज्ञान, श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे कि घट शब्द के सुनने पर अथवा आँख से घड़े के देखने पर उसके बनाने वाले का, उसके रंग का—अर्थात् तत्सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों का विचार करना, श्रुतज्ञान कहलाता है।

३. **अवधिज्ञान**—इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना, मर्यादा को लिये हुये, रूपवाले द्रव्य का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४. **मनःपर्यायज्ञान**—इन्द्रिय और मन की मदद के बिना, मर्यादा को लिये हुये, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना, मनःपर्यायज्ञान कहलाता है।

५. **केवलज्ञान**—संसार के भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल के सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् (एक साथ) जानना, केवलज्ञान कहलाता है।

आदि के दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, निश्चयनय से परोक्ष ज्ञान हैं, और व्यवहारनय से प्रत्यक्ष ज्ञान।

अन्त के तीन ज्ञान—अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं। केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते हैं और अवधिज्ञान तथा मनः पर्यवज्ञान को देश प्रत्यक्ष।

आदि के दो ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रहती है, किन्तु अन्त के तीन ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं रहती।

व्यञ्जनावग्रह—अव्यक्त-ज्ञानरूप-अर्थावग्रह से पहले होने वाला, अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों का पदार्थ के साथ जब सम्बन्ध होता है तब 'किमपीदम्' (यह कुछ है) ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। उसमें पहले होने वाला, अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान,

व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। यह व्यञ्जनावग्रह पदार्थ की सत्ता के ग्रहण करने पर होता है—अर्थात् प्रथम सत्ता की प्रतीति होती है, बाद में व्यञ्जनावग्रह।

स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह—स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा जो अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, वह स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह है। इसी प्रकार तीन इन्द्रियों से होने वाले व्यञ्जनावग्रहों को भी समझना चाहिये।

व्यञ्जनावग्रह का जघन्य काल, आवलिका के असंख्यातवें भाग जितना है और उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वासपृथक्त्व अर्थात् दो श्वासोच्छ्वास से लेकर नौ श्वासोच्छ्वास तक है।

‘मतिज्ञान के शेष भेद तथा श्रुतज्ञान के उत्तर-भेदों की संख्या।’

अत्युगह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा ।

इय अट्टवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥

(अत्युगहईहावायधारणा) अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा, ये प्रत्येक, (करणमाणसेहिं) करण अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ और मन से होते हैं इसलिये (छहा) छः प्रकार के हैं (इय) इस प्रकार मतिज्ञान के (अट्टवीसभेयं) अट्टाईस भेद हुये (सुयं) श्रुतज्ञान (चउदसहा) चौदह प्रकार का (व) अथवा (वीसहा) बीस प्रकार का है ॥५॥

भावार्थ—मतिज्ञान के अट्टाईस भेदों में से चार भेद पहले कह चुके हैं, अब शेष चौबीस भेद यहाँ दिखलाये हैं—अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा, ये चार, मतिज्ञान के भेद हैं। ये चारों, पाँचों इन्द्रियों से तथा मन से होते हैं, इसलिये प्रत्येक के छः-छः भेद हुये। छः को चार से गुणने पर चौबीस संख्या हुई। श्रुतज्ञान के चौदह भेद होते हैं और बीस भेद भी होते हैं।

१. अर्थावग्रह—पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं, जैसे ‘यह कुछ है।’ अर्थावग्रह में भी पदार्थ के वर्ण, गन्ध आदि का ज्ञान नहीं होता। इसके छह भेद हैं—१. स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह, २. रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, ३. घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, ४. चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, ५. श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह और ६. मननोन्द्रिय अर्थावग्रह। अर्थावग्रह का काल प्रमाण एक समय है।

२. ईहा—अवग्रह से जाने हुये पदार्थ के विषय में धर्मविषयक विचारणा को ईहा कहते हैं, जैसे कि ‘यह खम्भा ही होना चाहिये, मनुष्य नहीं।’ ईहा

के भी छह भेद हैं—स्पर्शनेन्द्रिय ईहा, रसनेन्द्रिय ईहा इत्यादि। इस प्रकार आगे अपाय और धारणा के भेदों को समझना चाहिये। ईहा का काल, अन्तर्मुहूर्त है।

३. **अपाय**—ईहा से जाने हुये पदार्थ के विषय में 'यह खम्भा ही है, मनुष्य नहीं' इस प्रकार के धर्म विषयक निश्चयात्मक ज्ञान को अपाय कहते हैं। अपाय और अवाय दोनों का मतलब एक ही है। अपाय का काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

४. **धारणा**—अपाय से जाने हुये पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न हो ऐसा जो दृढ़ ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं—अर्थात् अपाय से जाने हुये पदार्थ का कालान्तर में स्मरण हो सके, इस प्रकार के संस्कार वाले ज्ञान को धारणा कहते हैं।

धारणा का काल प्रमाण संख्यात तथा असंख्यात वर्षों का है।

मतिज्ञान को आभिनिबोधकज्ञान भी कहते हैं। जातिस्मरण—अर्थात् पूर्व जन्म का स्मरण होना, यह भी मतिज्ञान ही है। ऊपर कहे हुये अट्ठाईस प्रकार के मतिज्ञान के हर एक के बारह-बारह भेद होते हैं, जैसे—१. बहु, २. अल्प, ३. बहुविध, ४. एकविध, ५. क्षिप्र, ६. चिर, ७. अनिश्रित, ८. निश्रित, ९. सन्दिग्ध, १०. असन्दिग्ध, ११. ध्रुव और १२ अध्रुव। शंख, नगाड़े आदि के कई वाद्यों के शब्दों में से क्षयोपशम की विचित्रता के कारण—१. कोई जीव बहुत से वाद्यों के पृथक्-पृथक् शब्द सुनता है; २. कोई जीव अल्प शब्द को सुनता है; ३. कोई जीव प्रत्येक वाद्य के शब्द के, तार, मन्द्र आदि बहुत प्रकार के विशेषों को जानता है, ४. कोई साधारण तौर से एक ही प्रकार के शब्द को सुनता है, ५. कोई जल्दी से सुनता है, ६. कोई देरी से सुनता है, ७. कोई ध्वजा के द्वारा देव मन्दिर को जानता है, ८. कोई बिना पताका के ही उसे जानता है, ९. कोई संशय सहित जानता है, १०. कोई बिना संशय के जानता है, ११. किसी को जैसा पहिले ज्ञान हुआ था वैसा ही पीछे भी होता है, उसमें कोई फर्क नहीं होता, उसे ध्रुवग्रहण कहते हैं, १२. किसी के पहले तथा पीछे होने वाले ज्ञान में न्यूनाधिक रूप फर्क हो जाता है, उसे अध्रुवग्रहण कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के अवग्रह, ईहा, अपाय आदि के भेद समझने चाहिये। इस तरह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के २८ को १२ से गुणने पर—तीन सौ छत्तीस ३३६ भेद होते हैं। अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चार भेद हैं। उनको ३३६ में मिलाने से मतिज्ञान के ३४० भेद होते हैं। अश्रुतनिश्रित के चार-भेद—१. औत्पातिकी बुद्धि, २. वैनयिकी, ३. कार्मिकी और ४. पारिणामिकी।

१. **औत्पातिकी बुद्धि**—किसी प्रसंग पर, कार्य सिद्ध करने में एकाएक प्रकट होती है।
२. **वैनयिकी**—गुरुओं की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि।
३. **कार्मिकी**—अभ्यास करते-करते प्राप्त होने वाली बुद्धि।
४. **पारिणामिकी**—दीर्घायु को बहुत काल तक संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदों का यन्त्र

| स्पर्शन- इन्द्रिय | घ्राण- इन्द्रिय | रसन- इन्द्रिय | श्रवण- इन्द्रिय | चक्षु- इन्द्रिय | मननो- इन्द्रिय | २८ |
|------------------------|------------------------|------------------------|------------------------|----------------------|----------------------|----|
| १ व्यञ्जन अवग्रह | १ व्यञ्जन अवग्रह | १ व्यञ्जन अवग्रह | १ व्यञ्जन अवग्रह | ० | ० | ४ |
| २ अर्थ- अवग्रह | २ अर्थ- अवग्रह | २ अर्थ- अवग्रह | २ अर्थ- अवग्रह | १ अर्थ- अवग्रह | १ अर्थ- अवग्रह | ६ |
| ३ ईहा | ३ ईहा | ३ ईहा | ३ ईहा | २ ईहा | २ ईहा | ६ |
| ४ अपाय | ४ अपाय | ४ अपाय | ४ अपाय | ३ अपाय | ३ अपाय | ६ |
| ५ धारणा | ५ धारणा | ५ धारणा | ५ धारणा | ४ धारणा | ४ धारणा | ६ |

‘श्रुत ज्ञान के चौदह भेद’।

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥६॥

(अक्खर) अक्षरश्रुत, (सन्नी) संज्ञिश्रुत, (सम्मं) सम्यक्श्रुतं, (साइअं) सादिश्रुत (च) और (सपज्जवसियं) सपर्यवसितश्रुत (गमियं) गभिकश्रुत और (अंगपविट्ठं) अंगप्रविष्टश्रुत (एए) ये (सत्तवि) सातों श्रुत, (सपडिवक्खा) सप्रतिपक्ष हैं ॥६॥

भावार्थ—पहले कहा गया है कि श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद होते हैं। यहाँ चौदह भेदों को कहते हैं। गाथा में सात भेदों के नाम दिये हैं, उनसे अन्य सात भेद, सप्रतिपक्षशब्द से लिये जाते हैं। जैसे कि अक्षरश्रुत का प्रतिपक्षी अनक्षरश्रुत; संज्ञिश्रुत का प्रतिपक्षी असंज्ञिश्रुत इत्यादि। चौदहों के नाम ये हैं।

१. अक्षरश्रुत, २. अनक्षरश्रुत, ३. संज्ञिश्रुत, ४. असंज्ञिश्रुत, ५. सम्यक्श्रुत, ६. मिथ्याश्रुत, ७. सादिश्रुत, ८. अनादिश्रुत, ९. सपर्यवसितश्रुत, १०. अपर्यवसितश्रुत, ११. गमिकश्रुत, १२. अगमिकश्रुत, १३. अंगप्रविष्टश्रुत और १४. अंगबाह्यश्रुत।

१. **अक्षरश्रुत**—अक्षर के तीन भेद हैं, १. संज्ञाक्षर, २. व्यंजनाक्षर और ३. लब्ध्याक्षर।

(क) अलग-अलग लिपियाँ जो लिखने के काम में आती हैं उनको संज्ञाक्षर कहते हैं।

(ख) अकार से लेकर हकार तक के वर्ण उच्चारण के काम में आते हैं, उनको व्यंजनाक्षर कहते हैं—अर्थात् जिनका बोलने में उपयोग होता है, वे वर्ण व्यंजनाक्षर कहलाते हैं।

संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर से भावश्रुत होता है, इसलिये इन दोनों को द्रव्यश्रुत कहते हैं।

(ग) शब्द के सुनने या रूप के देखने आदि से, अर्थ को प्रतीति के साथ-साथ जो अक्षरों का ज्ञान होता है, उसे लब्ध्याक्षर कहते हैं।

२. **अनक्षरश्रुत**—छींकना, चुटकी बजाना, सिर हिलाना इत्यादि संकेतों से, औरों का अभिप्राय जानना अनक्षरश्रुत है।

३. **संज्ञिश्रुत**—जिन पञ्चेन्द्रिय जीवों को मन है, वे संज्ञा तथा उनका श्रुत, संज्ञिश्रुत है।

संज्ञी का अर्थ है संज्ञा जिनको हो, संज्ञा के तीन भेद हैं—दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी।

(क) मैं अमुक काम कर चुका, अमुक काम कर रहा हूँ और अमुक काम करूँगा— इस प्रकार का भूत, वर्तमान और भविष्यत् का ज्ञान जिससे होता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा। संज्ञिश्रुत में जो संज्ञी लिये जाते हैं, वे दीर्घकालिकी संज्ञा वाले। यह संज्ञा, देव, नारक तथा गर्भज तिर्यञ्च मनुष्यों को होती है।

(ख) अपने शरीर के पालन के लिये इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु से निवृत्ति के लिये उपयोगी, मात्र वर्तमान कालिक ज्ञान जिससे होता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है। यही संज्ञा द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों को होती है।

(ग) दृष्टिवादोपदेशिकी—यह संज्ञा, चतुर्दशपूर्वधर को होती है।

(४) जिन जीवों को मन ही नहीं है, वे असंज्ञी, उनका श्रुत, असंज्ञीश्रुत कहा जाता है।

(५) सम्यक्श्रुत-सम्यग्दृष्टि जीवों का श्रुत, सम्यक्श्रुत है।

(६) मिथ्यादृष्टि जीवों का श्रुत, मिथ्याश्रुत है।

(७) सादिश्रुत—जिसका आदि हो वह सादिश्रुत है।

(८) आनादिश्रुत—जिसका आदि न हो, वह अनादिश्रुत है।

(९) सपर्यवसितश्रुत—जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसितश्रुत है।

(१०) अपर्यवसितश्रुत—जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसितश्रुत है।

(११) गमिकश्रुत—जिसमें एक सरीखे पाठ हों, वह गमिकश्रुत है, जैसे—दृष्टिवाद।

(१२) अगमिकश्रुत—जिसमें एक सरीखे पाठ न हों, वह अगमिकश्रुत है, जैसे—कालिकश्रुत।

(१३) अङ्गप्रविष्टश्रुत—आचाराङ्ग आदि बारह अंगों के ज्ञान को अङ्गप्रविष्टश्रुत कहते हैं।

(१४) अङ्गबाह्यश्रुत—द्वादशाङ्गीं से जुदा, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन-प्रकटणादि का ज्ञान, अङ्गबाह्यश्रुत कहा जाता है।

सादिश्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत और अपर्यवसितश्रुत—ये प्रत्येक, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से चार-चार प्रकार के हैं। जैसे—द्रव्य को लेकर एक जीव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान, सादि-सपर्यवसित है—अर्थात् जब जीव को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, तब साथ में श्रुतज्ञान भी हुआ और जब वह सम्यक्त्व का वमन (त्याग) करता है तब अथवा केवली होता है तब श्रुतज्ञान का अन्त हो जाता है, इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान, सादि-सान्त है।

सब जीवों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि अनन्त है; क्योंकि संसार में पहले पहल अमुक जीव को श्रुतज्ञान हुआ तथा अमुक जीव के मुक्त होने से

श्रुतज्ञान का अन्त होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता—अर्थात् प्रवाह रूप से सब जीवों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान, अनादि—अनन्त है।

क्षेत्र की अपेक्षा से श्रुतज्ञान, सादि सान्त तथा अनादि अनन्त है। जब भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में तीर्थ की स्थापना होती है, तब से द्वादशाङ्गी-रूप श्रुत का आदि और जब तीर्थ का विच्छेद होता है, तब श्रुत का भी अन्त हो जाता है, इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि-सान्त हुआ। महाविदेह क्षेत्र में तीर्थ का विच्छेद कभी नहीं होता इसलिए वहाँ श्रुतज्ञान, अनादि—अनन्त है।

काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि—अनन्त है। उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है; क्योंकि तीसरे आरे के अन्त में और चौथे तथा पाँचवें आरे में रहता है और छठे आरे में नष्ट हो जाता है। नो उत्सर्पिणी—नो अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है। महाविदेह क्षेत्र में नो उत्सर्पिणी—नो अवसर्पिणी काल है अर्थात् उक्त क्षेत्र उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीरूप काल का विभाग नहीं है। भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है। भव्य की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त तथा अभव्य की अपेक्षा से कुश्रुत, अनादि-अनन्त है। भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों, जीव के पारिणामिक भाव हैं। यहाँ श्रुत शब्द से सम्यक्श्रुत तथा कुश्रुत दोनों लिये गये हैं। सपर्यवसित और सान्त दोनों का अर्थ एक ही है। इसी तरह अपर्यवसित और अनन्त दोनों का अर्थ एक है।

‘श्रुतज्ञान के बीस भेद’

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो ।

पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य ससमासा ॥७॥

(पज्जय) पर्यायश्रुत, (अक्खर) अक्षर श्रुत, (पय) पदश्रुत, (संघाय) संघात श्रुत, (पडिवत्ति) प्रतिपत्ति श्रुत (तहय) उसी प्रकार (अणुओगो) अनुयोगश्रुत, (पाहुड पाहुड) प्राभृत प्राभृतश्रुत, (पाहुड) प्राभृत श्रुत (वत्थू) वस्तु श्रुत (य) और (पुव्व) पूर्व श्रुत, ये दसों (ससमासा) समास सहित हैं। अर्थात् दसों के साथ ‘समास’ शब्द को जोड़ने से दूसरे दस भेद भी होते हैं॥७॥

भावार्थ—इस गाथा में श्रुत ज्ञान के बीस भेद कहे गये हैं। उनके नाम

१. पर्यायश्रुत, २. पर्यायसमासश्रुत, ३. अक्षरश्रुत, ४. अक्षरसमासश्रुत,
५. पदश्रुत, ६. पदसमासश्रुत, ७. संघातश्रुत, ८. संघातसमासश्रुत,
९. प्रतिपत्तिश्रुत, १०. प्रतिपत्तिसमासश्रुत, ११. अनुयोगश्रुत,

१२. अनुयोगसमासश्रुत, १३. प्राभृतप्राभृतश्रुत, १४. प्राभृतप्राभृतसमासश्रुत, १५. प्राभृतश्रुत, १६. प्राभृतसमासश्रुत, १७. वस्तुश्रुत, १८. वस्तुसमासश्रुत, १९. पूर्वश्रुत, २०. पूर्वसमासश्रुत।

१. पर्यायश्रुत—उत्पत्ति के प्रथम समय में, लब्धि अपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद के जीव को जो कुश्रुत का अंश होता है, उससे दूसरे समय में ज्ञान का जितना अंश बढ़ता है, उसे पर्याय श्रुत कहते हैं।
२. पर्यायसमासश्रुत—उक्त पर्यायश्रुत के समुदाय को अर्थात् दो, तीन, आदि संख्याओं को पर्यायसमासश्रुत कहते हैं।
३. अक्षरश्रुत—अकार आदि लब्ध्यक्षरों में से किसी एक अक्षर को अक्षर श्रुत कहते हैं।
४. अक्षरसमासश्रुत—लब्ध्यक्षरों के समुदाय को अर्थात् दो, तीन आदि संख्याओं को अक्षरसमासश्रुत कहते हैं।
५. पदश्रुत—जिस अक्षर समुदाय से पूरा अर्थ मालूम हो, वह पद और उसके ज्ञान को पदश्रुत कहते हैं।
६. पदसमासश्रुत—पदों के समुदाय का ज्ञान पदसमासश्रुत है।
७. संघातश्रुत—गति आदि चौदह मार्गणाओं में से, किसी एक मार्गणा के एक देश के ज्ञान को संघातश्रुत कहते हैं। जैसे गति मार्गणा के चार अवयव हैं; १. देवगति, २. मनुष्यगति, ३. तिर्यञ्चगति और ४. नारकगति। इनमें से एक का ज्ञान संघातश्रुत कहलाता है।
८. संघातसमासश्रुत—किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान, संघातसमास श्रुत है।
९. प्रतिपत्तिश्रुत—गति, इन्द्रिय आदि द्वारों में से किसी एक द्वार के जरिये समस्त संसार के जीवों को जानना, प्रतिपत्तिश्रुत है।
१०. प्रतिपत्तिसमासश्रुत—गति आदि दो चार द्वारों के जरिये जीवों का ज्ञान, प्रतिपत्तिसमासश्रुत है।
११. अनुयोगश्रुत—‘संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च’ इस गाथा में कहे हुये अनुयोगद्वारों में से किसी एक के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना, अनुयोगश्रुत है।

१२. अनुयोगसमासश्रुत—एक से अधिक दो तीन अनुयोगद्वारों का ज्ञान, अनुयोगसमासश्रुत है।
१३. प्राभृतप्राभृतश्रुत—दृष्टिवाद के अन्दर प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार हैं, उनमें से किसी एक का ज्ञान प्राभृत-प्राभृत श्रुत है।
१४. प्राभृतप्राभृतसमासश्रुत—दो, चार प्राभृत-प्राभृतों के ज्ञान को प्राभृतप्राभृतसमासश्रुत कहते हैं।
१५. प्राभृतश्रुत—जिस प्रकार कई उद्देश्यों का एक अध्ययन होता है, वैसे ही कई प्राभृतप्राभृतों का एक प्राभृत होता है, उसका एक का ज्ञान, प्राभृतश्रुत कहलाता है।
१६. प्राभृतसमासश्रुत—एक से अधिक प्राभृतों का ज्ञान, प्राभृत समास श्रुत है।
१७. वस्तुश्रुत—कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है उसका एक का ज्ञान वस्तुश्रुत है।
१८. वस्तुसमासश्रुत—दो, चार वस्तुओं का ज्ञान, वस्तुसमासश्रुत है।
१९. पूर्वश्रुत—अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है उसका एक का ज्ञान, पूर्वश्रुत है।
२०. पूर्वसमासश्रुत—दो, चार यावत् चौदह पूर्वों का ज्ञान, पूर्वसमासश्रुत कहलाता है।

चौदह पूर्वों के नाम ये हैं—१. उत्पाद, २. अग्रायणीय, ३. वीर्यप्रवाद, ४. अस्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद, ७. आत्मप्रवाद, ८. कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यानप्रवाद, १०. विद्याप्रवाद, ११. कल्याण, १२. प्राणवाद, १३. क्रियाविशाल और १४. लोकबिन्दुसार।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान चार प्रकार का है। शास्त्र के बल से, श्रुतज्ञानी साधारणतया सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल और सब भावों को जानते हैं।

‘अवधि ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान के भेद’

अणुगामि वड्डमाणय पंडिवाईयरविहा छहाओही ।
रिउमइविउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

(अणुगामि) अनुगामि, (वद्धमाणय) वर्धमान, (पडिवाइ) प्रतिपाति तथा (इयरविहा) दूसरे प्रतिपक्षि-भेदों से (ओही) अवधिज्ञान, (छहा) छः प्रकार का है। (रिउमई) ऋजुमति और (विउलमई) विपुलमति यह दो, (मणनाणं) मनःपर्यवज्ञान हैं। (केवल मिगविहाणं) केवलज्ञान एक ही प्रकार का है अर्थात् उसके भेद नहीं हैं॥८॥

भावार्थ—अवधिज्ञान दो प्रकार का है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। जो अवधिज्ञान जन्म से ही होता है उसे भवप्रत्यय कहते हैं और वह देवों तथा नारक जीवों को होता है। किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों को जो अवधिज्ञान होता है, वह गुण-प्रत्यय कहलाता है। तपस्या, ज्ञान की आराधना आदि कारणों से गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान होता है। इस गाथा में गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छः भेद दिखलाये गये हैं, उनके नाम—१. अनुगामी, २. अननुगामी, ३. वर्धमान, ४. हीयमान, ५. प्रतिपाति और ६. अप्रतिपाति।

१. अनुगामी—एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी जो अवधिज्ञान, आँख के समान साथ ही रहे, उसे अनुगामी कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस जगह जिस जीव में यह ज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस जगह से, संख्यात या असंख्यात योजन के क्षेत्रों को चारों तरफ जैसे देखता है, उसी प्रकार दूसरी जगह जाने पर भी उतने ही क्षेत्रों को देखता है।

२. अननुगामी—जो अनुगामी से उल्टा हो—अर्थात् जिस जगह अवधिज्ञान प्रकट हुआ हो, वहाँ से अन्यत्र जाने पर वह (ज्ञान) नहीं रहे।

३. वर्धमान—जो अवधिज्ञान, परिणाम विशुद्धि के साथ, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिए दिन-दिन बढ़े उसे वर्धमान अवधि कहते हैं।

४. हीयमान—जो अवधिज्ञान परिणामों की अशुद्धि से दिन-दिन घटे—कम होता जाय, उसे हीयमान अवधि कहते हैं।

५. प्रतिपाति—जो अवधिज्ञान, फूँक से दीपक के प्रकाश के समान एकाएक गायब हो जाय—चला जाय उसे प्रतिपाति अवधि कहते हैं।

६. अप्रतिपाति—जो अवधिज्ञान केवलज्ञान से अन्तर्मुहूर्त पहले प्रकट होता है और बाद में केवलज्ञान में समा जाता है उसे अप्रतिपाति अवधि कहते हैं। इसी अप्रतिपाति को परमावधि भी कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवधिज्ञान चार प्रकार के हैं।

(क) द्रव्य—अवधिज्ञानी जघन्य से—अर्थात् कम से कम अनन्त रूपी-द्रव्यों को जानते और देखते हैं।

उत्कृष्ट से—अर्थात् अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपी द्रव्यों को जानते तथा देखते हैं।

(ख) क्षेत्र—अवधिज्ञानी कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यों को जानते तथा देखते हैं और अधिक से अधिक, अलोक में, लोक-प्रमाण असंख्य खण्डों को जान सकते तथा देख सकते हैं।

अलोक में कोई पदार्थ नहीं है तथापि यह असत्कल्पना की जाती है कि अलोक में, लोकप्रमाण असंख्यात खण्ड, जितने क्षेत्र को घेर सकते हैं, उतने क्षेत्र के रूपी-द्रव्यों को जानने तथा देखने की शक्ति अवधिज्ञानी में होती है। अवधिज्ञान के सामर्थ्य को दिखलाने के लिए असत्कल्पना की गई है।

(ग) काल—कम से कम, अवधिज्ञानी आवलिका के असंख्यातवें भाग जितने काल के रूपी द्रव्यों को जानता तथा देखता है और अधिक से अधिक, असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण, अतीत और अनागत काल के रूपी पदार्थों को जानता तथा देखता है।

(घ) भाव—कम से कम, अवधिज्ञानी रूपीद्रव्य के अनन्त भावों को—पर्यायों को जानता तथा देखता है और अधिक से अधिक भी अनन्त भावों को जानता तथा देखता है। अनन्त के अनन्त भेद होते हैं, इसलिए जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त में फर्क समझना चाहिए। उक्त अनन्त भाव, सम्पूर्ण भावों के अनन्तवें भाग जितना है।

जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मति तथा श्रुत को मतिअज्ञान तथा श्रुत-अज्ञान कहते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अवधि को विभंगज्ञान कहते हैं।

मनः पर्यायज्ञान के दो भेद हैं—१. ऋजुमति और २. विपुलमति।

१. ऋजुमति—दूसरे के मन में स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरूप को जानना—अर्थात् इसने घड़े को लाने तथा रखने का विचार किया है, इत्यादि साधारणरूप से जानना, ऋजुमति ज्ञान कहलाता है।

२. विपुलमति—दूसरे के मन में स्थित पदार्थ के अनेक पर्यायों का जानना—अर्थात् इसने जिस घड़े का विचार किया है वह अमुक धातु का है, अमुक जगह का बना हुआ है, अमुक रंग का है, इत्यादि विशेष अवस्थाओं के ज्ञान को विपुलमतिज्ञान कहते हैं।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा मनःपर्याय ज्ञान के चार भेद हैं।

(क) द्रव्य से ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेश वाले अनन्त स्कन्धों को देखता है और विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा अधिक प्रदेशों वाले स्कन्धों को अधिक स्पष्टता से देखता है।

(ख) क्षेत्र से, ऋजुमति तिरछी दिशा में ढाई द्वीप; ऊर्ध्व दिशा में (ऊपर) ज्योतिष्चक्र के ऊपर का तल और अधोदिशा में (नीचे) कुबड़ी उण्डोविजय तक के संज्ञीजीव के मनोगत भावों को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा ढाई अंगुल अधिक तिरछे क्षेत्र के संज्ञी जीव के मनोगत भावों को देखता है।

(ग) काल से ऋजुमति पत्योपम के असंख्यातवें भाग जितने भूतकाल तथा भविष्यकाल के मनोगत भावों को देखता है। विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के, मन से चिन्तित या मन से जिनका चिन्तन होगा, ऐसे पदार्थों को देखता है।

(घ) भाव से, ऋजुमति मनोगत द्रव्य के असंख्यात पर्यायों को देखता है और विपुलमति ऋजुमति मनोगत द्रव्य के असंख्यात पर्यायों को देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को देखता है।

केवलज्ञान में किसी प्रकार का भेद नहीं है, सम्पूर्ण द्रव्य और उनके सम्पूर्ण पर्यायों को केवलज्ञानी एक ही समय में जान लेता है। अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान का कोई भी परिवर्तन उससे छिपा नहीं रहता। उसे निरावरण ज्ञान और क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं।

मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान पंचमहाव्रती को होते हैं, अन्य को नहीं। माता मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ, उससे पहले वह भाव से सर्वविरता थी।

इस तरह मतिज्ञान के २८, श्रुतज्ञान के १४ अथवा २०, अवधिज्ञान के ६, मनःपर्याय के २ तथा केवलज्ञान का १, इन सब भेदों को मिलाने से, पाँचों ज्ञानों के ५१ भेद होते हैं अथवा ५७ भेद भी होते हैं।

‘अब उनके आवरणों को कहते हैं’

**एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं ।
दंसणचउ पणनिहा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥९॥**

(चक्खुस्स) आँख के (पडुव्व) पट-पट्टी के समान, (एसिं) इन मति आदि पाँच ज्ञानों का (जं) जो (आवरणं) आवरण है, (तं) वह (तयावरणं) उनका

आवरण कहा जाता है—अर्थात् मतिज्ञान का आवरण, मतिज्ञानावरण; श्रुतज्ञान का आवरण, श्रुतज्ञानावरण, इस प्रकार दूसरे आवरणों को भी समझना चाहिये। (दंसणावरण) दर्शनावरण कर्म, (वित्तिसमं) वेत्री—दरवान के सदृश है। उसके नव भेद हैं, सो इस प्रकार—(दंसणचउ) दर्शनावरण—चतुष्क और (पणनिद्दा) पाँच निद्राएँ ॥९॥

भावार्थ—ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण अथवा ज्ञानावरणीय कहते हैं जिस प्रकार आँख पर कपड़े की पट्टी लपेटने से वस्तुओं के देखने में रुकावट होती है; उसी प्रकार ज्ञानावरण के प्रभाव से आत्मा को, पदार्थों के जानने में रुकावट पहुँचती है। परन्तु ऐसी रुकावट नहीं होती कि जिससे आत्मा को किसी प्रकार का ज्ञान ही न हो। चाहे जैसे घने बादलों से सूर्य धिर जाय तो भी उसका कुछ न कुछ प्रकाश—जिससे कि रात-दिन का भेद समझा जा सकता है; जरूर बना रहता है। इसी प्रकार कर्मों के चाहे जैसे गाढ़ आवरण क्यों न हों, आत्मा को कुछ न कुछ ज्ञान होता ही रहता है। आँख की पट्टी का जो दृष्टान्त दिया गया है उसका अभिप्राय यह है कि, पतले कपड़े की पट्टी होगी तो कुछ ही कम दिखेगा; गाढ़े कपड़े की पट्टी होगी तो बहुत कम दिखेगा; इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मों की आच्छादन करने की शक्ति अलग-अलग होती है।

१. मतिज्ञानावरणीय—भिन्न-भिन्न प्रकार के मतिज्ञानों के आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों को मतिज्ञानावरणीय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि, पहले मतिज्ञान के अट्टाईस भेद कहे गये और दूसरी अपेक्षा से तीन सौ चालीस भेद भी कहे गये। उन सबों के आवरण करने वाले कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं, उनका 'मतिज्ञानावरण' इस एक शब्द से ग्रहण होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

२. श्रुतज्ञानावरणीय—श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद कहे गये हैं, उनके आवरण करने वाले कर्मों को श्रुत ज्ञानावरणीय कहते हैं।

३. अवधिज्ञानावरणीय—पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के अवधिज्ञानों के आवरण करने वाले कर्मों को अवधिज्ञानावरणीय कहते हैं।

४. मनःपर्यायज्ञानावरणीय—मनःपर्यायज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को मनःपर्यायज्ञानावरणीय कहते हैं।

५. केवलज्ञानावरणीय—केवलज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को केवलज्ञानावरणीय कहते हैं। इन पाँचों ज्ञानावरणों में केवलज्ञानावरण कर्म

सर्वघाती है और दूसरे चार देशघाती। दर्शनावरणीय कर्म, द्वारपाल के समान है। जिस प्रकार द्वारपाल, जिस पुरुष से वह नाराज है, उसको राजा के पास जाने नहीं देता, चाहे राजा उसे देखना भी चाहे। उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म, जीव रूपी राजा की पदार्थों के देखने की शक्ति में रुकावट पहुँचाता है। दर्शनावरणीय चतुष्क और पाँच निद्राओं को मिलाकर दर्शनावरणीय के नौ भेद होते हैं, सो आगे दिखलायेंगे।

‘दर्शनावरणीयचतुष्क’

चक्खुदिट्ठिअचक्खुसेसिंदियओहिकेवलेहिं च ।

दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा ॥१०॥

(चक्खुदिट्ठि) चक्षु का अर्थ है दृष्टि—अर्थात् आंख, (अचक्खु सेसिंदिय) अचक्षु का अर्थ है शेष इन्द्रियाँ अर्थात् आँख को छोड़कर अन्य चार इन्द्रियाँ, (ओहि) अवधि और (केवलेहिं) केवल इनसे (दंसण) दर्शन होता है जिसे कि (इह) इस शास्त्र में (सामन्नं) सामान्य उपयोग कहते हैं। (तत्सावरणं) उसका आवरण, (तयं चउहा) उन दर्शनों के चार नामों के भेद से चार प्रकार का है। (च) ‘केवलेहिं च’ इस ‘च’ शब्द से, शेष इन्द्रियों के साथ मन के ग्रहण करने की सूचना दी गई है॥१०॥

भावार्थ—दर्शनावरण चतुष्क का अर्थ है दर्शनावरण के चार भेद; वे ये हैं—१. चक्षुर्दर्शनावरण, २. अचक्षुर्दर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण और ४. केवलदर्शनावरण।

१. **चक्षुर्दर्शनावरण**—आँख के द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं, उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाला कर्म, चक्षुर्दर्शनावरण कहलाता है।

२. **अचक्षुर्दर्शनावरण**—आँख को छोड़कर त्वचा, जीभ, नाक, कान और मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है। उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। उसका आवरण, अचक्षुर्दर्शनावरण है।

३. **अवधिदर्शनावरण**—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्यधर्म का जो बोध होता है। उसे अवधिदर्शन कहते हैं। उसका आवरण, अवधिदर्शनावरण है।

४. **केवलदर्शनावरण**—संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्य

अवबोध होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं, उसका आवरण केवलदर्शनावरण कहलाता है।

विशेष—चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों को जन्म से ही आँखे नहीं होती। चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों को आँखें उक्त कर्म के उदय से नष्ट हो जाती हैं अथवा रतौंधी आदि के हो जाने से उनसे कम दीख पड़ता है। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों और मनवाले जीवों के विषय में भी उन इन्द्रियों का और मन का जन्म से ही न होना अथवा जन्म से होने पर भी कमजोर, अस्पष्ट होना, पहले के समान समझना चाहिये। जिस प्रकार अवधिदर्शन माना गया है, उसी प्रकार मनःपर्याय दर्शन क्यों नहीं माना गया, ऐसा सन्देह करना इसलिये ठीक नहीं कि मनःपर्यायज्ञान क्षयोपशम के प्रभाव से विशेष धर्मों को ही ग्रहण करते हुये उत्पन्न होता है सामान्य को नहीं।

‘अब पाँच निद्राओं को कहेंगे, इस गाथा में आदि की चार निद्राओं का स्वरूप कहते हैं’

**सुहपडिबोहा निद्रा निद्रानिद्रा य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठस्य पयलपयला य चंकमओ ॥११॥**

(सुहपडिबोहा) जिसमें बिना परिश्रम के प्रतिबोध हो, वह (निद्रा) निद्रा; (य) और (दुक्खपडिबोहा) जिसमें कष्ट से प्रतिबोध हो, वह (निद्रानिद्रा) निद्रानिद्रा; (ठिओवविट्ठस्स) स्थित और उपविष्ट को (पयला) प्रचला होती है; (चंकमओ) चंकमतः—अर्थात् चलने फिरने वाले को (पयलपयला) प्रचला-प्रचला होती है ॥११॥

भावार्थ—दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेदों में से चार भेद पहले कह चुके हैं, अब पाँच भेदों को कहते हैं, उनके नाम ये हैं—१. निद्रा, २. निद्रानिद्रा, ३. प्रचला, ४. प्रचला-प्रचला और ५. स्त्यानद्धि।

१. निद्रा—जो सोया हुआ जीव, थोड़ी-सी आवाज से जागता है—अर्थात् जिसे जगाने में मेहनत नहीं पड़ती, उसकी नींद को निद्रा कहते हैं और जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उस कर्म का भी नाम ‘निद्रा’ है।

२. निद्रा-निद्रा—जो सोया हुआ जीव, बड़े जोर से चिल्लाने या हाथ से जोर से हिलाने पर बड़ी मुश्किल से जागता है, उसकी नींद को निद्रा-निद्रा कहते हैं; जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आये, उस कर्म का भी नाम ‘निद्रा-निद्रा’ है।

३. प्रचला—खड़े-खड़े या बैठे-बैठे जिसको नींद आती है, उसकी नींद को प्रचला कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आये, उस कर्म का भी नाम 'प्रचला' है।

४. प्रचला-प्रचला—चलते फिरते जिसको नींद आती है, उसकी नींद को प्रचला-प्रचला कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आये, उस कर्म का भी नाम 'प्रचला-प्रचला' है।

'स्त्यानद्धि का स्वरूप और वेदनीय कर्म का स्वरूप'
दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

(दिणचिंतियत्थकरणी) दिन में सोचे हुये काम को करने वाली निद्रा को (थीणद्धी) स्त्यानद्धि कहते हैं, इस निद्रा में जीव को (अद्धचक्किअद्धबला) अर्द्धचक्री—अर्थात् वासुदेव, उसका आधा बल होता है। (वेयणियं) वेदनीय कर्म, (महुलित्तखग्ग धारालिहणं व) मधु से लिप्त, खड्ग की धारा को चाटने के समान है और यह कर्म (दुहा उ) दो ही प्रकार का है ॥१२॥

भावार्थ—स्त्यानद्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है, जिसमें आत्मा की शक्ति, पिण्डित—अर्थात् इकट्ठी होती है, उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं।

५. स्त्यानगृद्धि—जो जीव, दिन में अथवा रात में सोचे हुये काम को नींद की हालत में कर डालता है, उसकी नींद को स्त्यानगृद्धि कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उस कर्म का भी नाम स्त्यानगृद्धि है।

वज्रऋषभनाराच संहनन वाले जीव को, जब इस स्त्यानद्धि कर्म का उदय होता है, तब उसे वासुदेव का आधा बल हो जाता है, यह जीव, मरने पर अवश्य नरक जाता है।

तीसरा कर्म वेदनीय है। इसे वेद्य कर्म भी कहते हैं। इसका स्वभाव, तलवार की शहद लगी हुई धारा को चाटने के समान है। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—
 १. सातावेदनीय और २. असातावेदनीय— तलवार की धार में लगे हुये शहद को चाटने के समान सातावेदनीय है और खड्गधारा से जीभ के कटने के समान असातावेदनीय है।

१. जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय सम्बन्धों से सुख का अनुभव होता है, वह सातावेदनीय कर्म है।

२. जिस कर्म के उदय से, आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से अथवा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, वह असातावेदनीय कर्म है।

आत्मा को जो अपने स्वरूप के सुख का अनुभव होता है। वह किसी भी कर्म के उदय से नहीं। मधुलिप्त खड्गधारा का दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिक सुख—अर्थात् पौद्गलिक सुख, दुःख से मिला हुआ ही है।

‘चार गतियों में साता-असाता का स्वरूप, मोहनीय-कर्म का स्वरूप और उसके दो भेद—

**ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥**

(ओसन्नं) प्रायः (सुरमणुए) देवों और मनुष्यों में (सायं) सातावेदनीय-कर्म का उदय होता है। (तिरियनरएसु) तिर्यञ्चों और नारकों में (तु) तो प्रायः (असायं) असातावेदनीय-कर्म का उदय होता है। (मोहणीयं) मोहनीय-कर्म, (मज्जं व) मद्य के सदृश है; और वह (दंसणचरणमोहा) दर्शनमोहनीय तथा चरित्रमोहनीय को लेकर (दुविहं) दो प्रकार का है ॥१३॥

भावार्थ—देवों और मनुष्यों को प्रायः सातावेदनीय का उदय रहता है।

प्रायः शब्द से यह सूचित किया जाता है कि उनको असातावेदनीय का भी उदय हुआ करता है, परन्तु कर्म-देवों को अपनी देवगति से च्युत होने के समय; अपनी ऋद्धि की अपेक्षा दूसरे देवों की विशाल ऋद्धि को देखने से जब ईर्ष्या का प्रादुर्भाव होता है तब; तथा और समयों में भी असातावेदनीय का उदय हुआ करता है। इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भवास, स्त्री-पुत्र वियोग, शीत-उष्ण आदि से दुःख हुआ करता है।

तिर्यञ्च जीवों तथा नारक जीवों को प्रायः असातावेदनीय का उदय हुआ करता है। प्रायःशब्द से सूचित किया गया है कि उनको सातावेदनीय का भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम। तिर्यञ्चों में कई हाथी, घोड़े, कुत्ते आदि जीवों का आदर के साथ पालन-पोषण किया जाता है। इसी प्रकार नारक जीवों को भी तीर्थङ्करों के जन्म आदि कल्याणकों के समय सुख का अनुभव हुआ करता है।

सांसारिक सुख का देवों को विशेष अनुभव होता है और मनुष्यों को उनसे कम। दुःख का विशेष अनुभव, नारक तथा निगोद के जीवों को होता है उनकी अपेक्षा तिर्यञ्चों को कम होता है।

चौथा कर्म मोहनीय है। उनका स्वभाव मद्य के समान है। जिस प्रकार मद्य के नशे में मनुष्य को अपने हित-अहित की पहचान नहीं रहती, उसी प्रकार मोहनीय-कर्म के उदय से आत्मा को अपने हित-अहित के पहचानने की बुद्धि नहीं होती। कदाचित् अपने हित-अहित की परीक्षा कर सके तो भी वह जीव, मोहनीय-कर्म के प्रभाव से तदनुसार आचरण नहीं कर सकता।

मोहनीय के दो भेद हैं—१. दर्शनमोहनीय और २. चारित्रमोहनीय।

१. दर्शनमोहनीय—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना, यह दर्शन है—अर्थात् तत्त्वार्थ-श्रद्धा को दर्शन कहते हैं, यह आत्मा का गुण है, इसके घात करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते हैं।

सामान्य उपयोग रूप दर्शन, इस दर्शन से जुदा है।

२. चारित्रमोहनीय—जिसके द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप को पाता है उसे चारित्र कहते हैं, यह भी आत्मा का गुण है; इसके घात करने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं।

‘दर्शनमोहनीय के तीन भेद’

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥

(दंसणमोहं) दर्शनमोहनीयकर्म, (तिविहं) तीन प्रकार का है, (सम्मं) १. सम्यक्त्वमोहनीय, (मीसं) २. मिश्रमोहनीय (तहेव) उसी प्रकार (मिच्छत्तं) ३. मिथ्यात्वमोहनीय, (तं) वह तीन प्रकार का कर्म, (कमसो) क्रमशः (सुद्धं) शुद्ध, (अद्धविसुद्धं) अर्द्धविशुद्ध और (अविसुद्धं) अविशुद्ध (हवइ) होता है ॥१४॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—१. सम्यक्त्वमोहनीय, २. मिश्रमोहनीय और ३. मिथ्यात्वमोहनीय। सम्यक्त्वमोहनीय के दलिक शुद्ध हैं, मिश्रमोहनीय के अर्धविशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय के अशुद्ध।

१. कोदौ (कोद्रव) एक प्रकार का अन्न है जिसके खाने से नशा होता है। परन्तु उस अन्न का भूसा निकाला जाय और छाछ आदि से शोधा जाय तो, वह नशा नहीं करता उसी प्रकार जीव को, हित-अहित परीक्षा में विकल करने वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल हैं, उनमें सर्वघाती रस होता है। द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस, सर्वघाती हैं। जीव अपने विशुद्ध परिणाम के

बल से उन पुद्गलों के सर्वघाती रस को अर्थात् शक्ति को घटा देता है, सिर्फ एकस्थानक रस बच जाता है। इन एकस्थानक रस वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलों को ही सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। यह कर्म शुद्ध होने के कारण, तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व में बाधा नहीं पहुँचाता, परन्तु इसके उदय से आत्म स्वभाव रूप औपशमिकसम्यक्त्व तथा क्षायिकसम्यक्त्व होने नहीं पाता और सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शंकायें हुआ करती हैं, जिससे कि सम्यक्त्व में मलिनता आ जाती है, इसी दोष के कारण यह कर्म सम्यक्त्व मोहनीय कहलाता है।

२. कुछ भाग शुद्ध और कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोदौ के समान मिश्रमोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव को तत्त्वरुचि नहीं होने पाती और अतत्त्वरुचि भी नहीं होती। मिश्रमोहनीय का दूसरा नाम सम्यक्-मिथ्यात्वमोहनीय है, इन कर्मपुद्गलों में द्विस्थानकरस होता है।

३. सर्वथा अशुद्ध कोदौ के समान मिथ्यात्व मोहनीय है, इस कर्म के उदय से जीव को हित में अहितबुद्धि और अहित में हितबुद्धि होती है अर्थात् हित को अहित समझता है और अहित को हित। इन कर्म-पुद्गलों में चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस होता है।

१/४ को चतुःस्थानक, १/३ को त्रिस्थानक और १/२ को द्विस्थानक रस कहते हैं जो रस सहज है अर्थात् स्वाभाविक है, उसे एक स्थानक कहते हैं।

इस विषय को समझने के लिये नीम का अथवा ईख का एक सेर रस लिया; इसे एक स्थानक रस कहेंगे; नीम के इस स्वाभाविक रस को कटु, और ईख के रस को मधुर कहना चाहिये। उक्त एक सेर रस को आग के द्वारा जलाकर आधा कर दिया, बचे हुए आधे रस को द्विस्थानक रस कहते हैं; यह रस, स्वाभाविक कटु और मधु रस की अपेक्षा, कटुकतर और मधुतर कहा जायगा। एक सेर रस के दो हिस्से जला दिये जायें तो बचे हुए एक हिस्से को त्रिस्थानक रस कहते हैं; यह रस नीम का हुआ तो कटुकतम और ईख का हुआ तो मधुरतम कहलायेगा। एक सेर रस के तीन हिस्से जला दिये जायें तो बचे हुए पाव भर को चतुःस्थानक कहते हैं, यह रस नीम का हुआ तो अतिकटुकतम और ईख का हुआ तो अतिमधुरतम कहा जायगा। इस प्रकार शुभ-अशुभ फल देने की कर्म की तीव्रतम शक्ति को चतुःस्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मन्दशक्ति को एकस्थानक रस समझना चाहिये।

‘सम्यक्त्व मोहनीय का स्वरूप’

जियअजियपुण्णपावासवसंवरबन्धमुक्खनिज्जरणा ।

जेणं सदहइ तयं सम्मं खइगाइबहुभैयं ॥१५॥

(जेणं) जिस कर्म से (जियअजियपुण्णपावासवसंवरबन्धमुक्खनिज्जरणा) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष और निर्जरा— इन नौ तत्त्वों पर जीव (सदहइ) श्रद्धा करता है, (तयं) वह (सम्मं) सम्यक्त्वमोहनीय है। उसके (खइगाइ बहुभैयं) क्षायिक आदि बहुत से भेद हैं ॥१५॥

भावार्थ—जिस कर्म के बल से जीव को जीवादि नौ तत्त्वों पर श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। जिस प्रकार चश्मा, आँखों का आच्छादक होने पर भी देखने में रुकावट नहीं पहुँचाता उसी प्रकार सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म, आवरण स्वरूप होने पर भी शुद्ध होने के कारण, जीव की तत्त्वार्थ श्रद्धा का विघात नहीं करता; इसी अभिप्राय से ऊपर कहा गया है कि, ‘इसी कर्म से जीव को नौ तत्त्वों पर श्रद्धा होती है।’

सम्यक्त्व के कई भेद हैं। किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व दो प्रकार का है— व्यवहारसम्यक्त्व और निश्चयसम्यक्त्व। कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्याग कर सुदगुरु, सुदेव और सुमार्ग का स्वीकार करना, व्यवहार सम्यक्त्व है। आत्मा का वह परिणाम, जिसके कि होने से ज्ञान विशुद्ध होता है, निश्चयसम्यक्त्व है।

१. क्षायिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय—इन तीन प्रकृतियों के क्षय होने पर आत्मा में जो परिणाम विशेष होता है, उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं।

२. औपशमिकसम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय की ऊपर कही हुई तीन प्रकृतियों के उपशम से, आत्मा में जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व ग्यारहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को होता है। अथवा जिस जीव ने अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुञ्ज किये हैं और मिथ्यात्व पुञ्ज का क्षय नहीं किया है, उस जीव को यह औपशमिक सत्यक्त्व प्राप्त होता है।

३. क्षायोपशमिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के उदय से, आत्मा में जो परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं। उदय में आये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों का क्षय तथा जिनका उदय नहीं प्राप्त हुआ है उन पुद्गलों का उपशम, इस

तरह मिथ्यात्व मोहनीय का क्षयोपशम होता है। यहाँ पर जो यह कहा गया है कि मिथ्यात्व का उदय होता है, वह प्रदेशोदय समझना चाहिये, न कि रसोदय। औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का रसोदय और प्रदेशोदय—दोनों प्रकार का उदय नहीं होता। प्रदेशोदय को ही उदयाभावी क्षय कहते हैं। जिसके उदय से आत्मा पर कुछ असर नहीं होता वह प्रदेशोदय तथा जिसका उदय आत्मा पर असर जमाता है, वह रसोदय है।

४. वेदकसम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में वर्तमान जीव, जब सम्यक्त्वमोहनीय के अन्तिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। वेदकसम्यक्त्व के बाद, उसे क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

५. सास्वादनसम्यक्त्व—उपशमसम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव, जब तक मिथ्यात्व को नहीं प्राप्त करता, तब तक के उसके परिणाम विशेष को सास्वादन अथवा सासादनसम्यक्त्व कहते हैं।

इसी प्रकार जिनोक्त क्रियाओं को—देववन्दन, गुरुवन्दन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि को करना कारक सम्यक्त्व; उनमें रुचि रखने को रोचक सम्यक्त्व और उनसे होने वाले लाभों का सभाओं में समर्थन करना दीपक सम्यक्त्व, इत्यादि सम्यक्त्व के कई भेद हैं।

अब नौ तत्त्वों का संक्षेप से स्वरूप कहते हैं—

१. जीव—जो प्राणों को धारण करे, वह जीव। प्राण के दो भेद हैं;—द्रव्यप्राण और भावप्राण। पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये दस, द्रव्य प्राण हैं। ज्ञान, दर्शन आदि स्वभाविक गुणों को भावप्राण कहते हैं। मुक्त जीवों में भाव प्राण होते हैं। संसारी जीवों में द्रव्यप्राण और भावप्राण दोनों होते हैं। जीव तत्त्व के चौदह भेद हैं।

२. अजीव—जिसमें प्राण न हो—अर्थात् जड़ हो, वह अजीव। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, आकाश आदि अजीव हैं। अजीव तत्त्व के भी चौदह भेद हैं।

३. पुण्य—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, वह द्रव्यपुण्य; और जीव के शुभ परिणाम दान, दया आदि भावपुण्य हैं। पुण्य तत्त्व के बयालीस भेद हैं।

४. पाप—जिस कर्म के उदय से जीव दुःख का अनुभव करता है, वह द्रव्यपाप और जीव का अशुभ परिणाम भाव पाप है। पाप तत्त्व के बयासी भेद हैं।

५. आस्रव—कर्मों के आने का द्वार, जो जीव के शुभ-अशुभ परिणाम

हैं, को भावास्त्रव तथा शुभ-अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ-अशुभ परिणामों से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों को द्रव्यास्त्रव कहते हैं। आस्त्रव तत्त्व के बयालीस भेद हैं।

६. संवर—आते हुये नये कर्मों को रोकने वाला आत्मा का परिणाम, भाव संवर और कर्म-पुद्गल की रूकावट को द्रव्य संवर कहते हैं। संवर तत्त्व के सत्तावन भेद हैं।

७. बन्ध—कर्म-पुद्गलों का जीव प्रदेशों के साथ दूध पानी की तरह आपस में मिलना, द्रव्यबन्ध है। द्रव्यबन्ध को उत्पन्न करने वाले अथवा द्रव्यबन्ध से उत्पन्न होने वाली आत्मा के परिणाम भावबन्ध हैं। बन्ध के चार भेद हैं।

८. मोक्ष—सम्पूर्ण कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से जुदा हो जाना द्रव्यमोक्ष है। द्रव्यमोक्ष के जनक अथवा द्रव्यमोक्ष-जन्य आत्मा के विशुद्धपरिणाम भावमोक्ष है। मोक्ष के नौ भेद हैं।

९. निर्जरा—कर्मों का एक देशीय आत्म-प्रदेशों से अलग होना द्रव्यनिर्जरा है। द्रव्यनिर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा जन्य आत्मा के शुद्धपरिणाम, भावनिर्जरा है। निर्जरा के बारह भेद हैं।

‘मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय का स्वरूप’

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अन्तमुहुजहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥१६॥

(जहा) जिस प्रकार (नालियरदीवमणुणो) नालिकेर द्वीप के मनुष्य को (अन्ने) अन्न में (रागदोसो) राग और द्वेष (न) नहीं होता, उसी प्रकार (मीसा) मिश्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव को (जिणधम्मे) जैन धर्म में राग-द्वेष नहीं होता। इस कर्म का उदय काल (अन्तमुहु) अन्तर्मुहूर्त का है। (मिच्छं) मिथ्यात्वमोहनीय कर्म (जिणधम्मविवरीयं) जैन धर्म से विपरीत है ॥१६॥

भावार्थ—जिस द्वीप में खाने के लिये सिर्फ नारियल ही होते हैं, उसे नालिकेर द्वीप कहते हैं। वहाँ के मनुष्यों ने न अन्न को देखा है, न उसके विषय में कुछ सुना ही है अतएव उनको अन्न में रुचि नहीं होती और न द्वेष ही होता है। इसी प्रकार जब मिश्रमोहनीय कर्म का उदय रहता है तब जीव को जैन धर्म में प्रीति नहीं होती और अप्रीति भी नहीं होती—अर्थात् श्रीवीतराग ने जो धर्म कहा है, वही सच्चा है, इस प्रकार एकान्त श्रद्धा रूप प्रेम नहीं होता, और

वह धर्म झूठा है, अविश्वसनीय है, इस प्रकार अरुचि रूप द्वेष भी नहीं होता। मिश्रमोहनीय का उदयकाल अन्तर्मुहूर्त का है।

जिस प्रकार रोगी को पथ्य चीजें अच्छी नहीं लगतीं और कुपथ्य चीजें अच्छी लगती हैं; उसी प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का जब उदय होता है तब जीव को जैनधर्म पर द्वेष तथा उससे विरुद्ध धर्म में राग होता है।

मिथ्यात्व के दस भेदों को संक्षेप से लिखते हैं।

१. जिनको कांचन और कामिनी नहीं लुभा सकती, जिनको सांसारिक लोगों की तारीफ खुश नहीं करती, ऐसे साधुओं को साधु न समझना।
२. जो कांचन और कामिनी के दास बने हुए हैं, जिनको सांसारिक लोगों से प्रशंसा पाने की दिन-रात इच्छा बनी रहती है ऐसे साधु वेशधारियों को साधु समझना और मानना।
३. क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—ये धर्म के दस भेद हैं, इनको अधर्म समझना।
४. जिन कृत्यों से या विचारों से आत्मा की अधोगति होती है, वह अधर्म है, जैसे कि—हिंसा करना, शराब पीना, जुआ खेलना, दूसरों की बुराई सोचना इत्यादि, इनको धर्म समझना।
५. शरीर, इन्द्रिय, मन ये जड़ हैं, इनको आत्मा समझना अर्थात् अजीव को जीव मानना।
६. जीव को अजीव मानना, जैसे कि; गाय, बैल, बकरी, मुर्गी आदि प्राणियों में आत्मा नहीं है अतएव इनके खाने में कोई दोष नहीं ऐसा समझना।
७. उन्मार्ग को सुमार्ग समझना, अर्थात् जो पुरानी या नई कुरीतियाँ हैं, जिनसे सचमुच हानि ही होती है, वह उन्मार्ग, उसको सुमार्ग समझना।
८. सुमार्ग को उन्मार्ग समझना, अर्थात् जिन पुराने या नये रिवाजों से धर्म की वृद्धि होती है, उस सुमार्ग को कुमार्ग समझना।
९. कर्म रहित को कर्म सहित मानना। राग और द्वेष, कर्म के सम्बन्ध से होते हैं। परमेश्वर में राग-द्वेष नहीं है तथापि यह समझना कि भगवान् अपने भक्तों की रक्षा के लिये दैत्यों का नाश करते हैं। अमुक स्त्रियों की तपस्या से प्रसन्न हो, उनके पति बनते हैं इत्यादि।
१०. कर्म सहित को कर्म रहित मानना। भक्तों की रक्षा और शत्रुओं का नाश

करना, राग-द्वेष के सिवा हो नहीं सकता और राग-द्वेष कर्म सम्बन्ध के बिना हो नहीं सकते। तथापि उन्हें कर्म रहित मानना, यह कहना कि भगवान् सब कुछ करते हैं तथापि अलिप्त हैं।

‘चारित्रमोहनीय की उत्तर-प्रकृतियाँ’

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं ।

अण अप्पच्चक्खाणा पञ्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

(चरित्त मोहनिणयं) चारित्र मोहनीय कर्म, (दुविहं) दो प्रकार का है— (सोलस कसाय) सोलह कषाय और (नवनोकसाय) नौ नोकषाय (अण) अनन्तानुबन्धी, (अप्पच्चक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण, (पच्चक्खाणा) प्रत्याख्यानावरण (य) और (संजलणा) सञ्ज्वलन, इनके चार-चार भेद होने से सब कषायों की संख्या, सोलह होती है ॥१७॥

भावार्थ—चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं। कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय के सोलह भेद हैं और नोकषाय मोहनीय के नौ इस गाथा में कषाय मोहनीय के भेद कहे गये हैं, नोकषाय मोहनीय का वर्णन आगे आयेगा।

कषाय—कष का अर्थ है जन्म-मरण रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं।

नोकषाय—कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय अथवा कषायों को उभाड़ने वाले, उत्तेजित करने वाले हास्य आदि नौ को नोकषाय कहते हैं। इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है।

कषायसहवर्तित्वात्,

कषायप्रेरणादपि ।

हास्यादिनवकस्योक्ता,

नोकषायकषायता ॥

क्रोध के साथ हास्य का उदय रहता है, कभी हास्य आदि क्रोध को उभारते हैं। इसी प्रकार अन्य कषायों के साथ नोकषाय का सम्बन्ध समझना चाहिये। कषायों के साहचर्य से ही नोकषायों में प्रधानता है, केवल नोकषायों में प्रधानता नहीं है।

१. अनन्तानुबन्धी—जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता है उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कहते हैं। इस कषाय के चार भेद हैं। १. अनन्तानुबन्धी क्रोध, २. अनन्तानुबन्धी मान,

३. अनन्तानुबन्धी माया और ४. अनन्तानुबन्धी लोभा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का घात करता है।

२. **अप्रत्याख्यानावरण**—जिस कषाय के उदय से देशविरति रूप अल्पप्रत्याख्यान नहीं होता, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस कषाय के उदय से श्रावक धर्म की भी प्राप्ति नहीं होती। इस कषाय के चार भेद हैं—१. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, २. अप्रत्याख्यानावरण मान, ३. अप्रत्याख्यानावरण माया और ४. अप्रत्याख्यानावरण लोभा।

३. **प्रत्याख्यानावरण**—जिस कषाय के उदय से सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है—अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। यह कषाय देश विरति रूप श्रावक धर्म में बाधा नहीं पहुँचाता। इसके चार भेद हैं—१. प्रत्याख्यानावरण क्रोध, २. प्रत्याख्यानावरण मान, ३. प्रत्याख्यानावरण माया और ४. प्रत्याख्यानावरण लोभा।

४. **सञ्चलन**—जो कषाय, परीषह तथा उपसर्गों के आ जाने पर यतियों को भी थोड़ा-सा जलावे—अर्थात् उन पर थोड़ा असर जमावे, उसे सञ्चलन कषाय कहते हैं। यह कषाय, सर्वविरति रूप यथाख्यातचारित्र में बाधा पहुँचाता है—अर्थात् उसे होने नहीं देता। इसके भी चार भेद हैं—१. सञ्चलन क्रोध, २. सञ्चलन मान, ३. सञ्चलन माया और ४. सञ्चलन लोभा।

‘मन्द बुद्धियों को समझाने के लिये चार प्रकार के कषायों का स्वरूप कहते हैं।

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नरअमरा ।

सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥१८॥

उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार कषाय क्रमशः ।

(जाजीव वरिस चउमास पक्खगा) यावत् जीव, वर्ष चतुर्मास और पक्ष तक रहते हैं और वे (नरयतिरियनरअमरा) नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति तथा देवगति के कारण हैं और (सम्माणु सव्व विरई अहखाय चरित्त घायकरा) सम्यक्त्व, अणुविरति, सर्वविरति तथा यथाख्यातचारित्र का घात करते हैं ॥१८॥

भावार्थ—१. अनन्तानुबन्धी कषाय वे हैं, जो जीवनपर्यन्त बने रहें, जिनसे नरक गति योग्य कर्मों का बन्ध हो और सम्यग्दर्शन का घात होता हो।

२. अप्रत्याख्यानावरणकषाय, एक वर्ष तक बने रहते हैं, उनके उदय से तिर्यञ्च गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है और देश विरति रूप चारित्र होने नहीं पाता।

३. प्रत्याख्यानावरण कषायों की स्थिति चार महीने की है, उनके उदय से मनुष्य गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है और सर्वविरतिरूप चारित्र नहीं होने पाता।

४. सञ्ज्वलन कषाय, एक पक्ष तक रहते हैं, उनके उदय से देवगति योग्य कर्मों का बन्ध होता है और यथाख्यातचारित्र नहीं होने पाता।

कषायों के विषय में ऊपर जो कहा गया है, वह व्यवहारनय को लेकर; क्योंकि बाहुबलि आदि को सञ्ज्वलन कषाय एक वर्ष तक था तथा प्रसन्नचन्द्रराजर्षि को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय अन्तर्मुहूर्त तक था। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहते हुये भी कुछ मिथ्या दृष्टियों की नवग्रैवेयक में उत्पत्ति का वर्णन शास्त्र में मिलता है।

‘दृष्टान्त के द्वारा क्रोध और मान का स्वरूप’

जलरेणुपुढविपव्वयरार्इसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्टट्टियसेलत्थं भोवमो माणो ॥१९॥

(जलरेणुपुढविपव्वयरार्इसरिसो) जलराजि, रेणुराजि, पृथिवीराजि और पर्वतराजि के सदृश (कोहो) क्रोध (चउव्विहो) चार प्रकार का है। (तिणिसलयाकट्टट्टियसेलत्थंभोवमो) तिनिस-लता, काष्ठ, अस्थि और शैल स्तम्भ के सदृश (माणो) मान चार प्रकार का है ॥१७॥

भावार्थ—क्रोध के चार भेद पहले कह चुके हैं, उनका हर एक का स्वरूप दृष्टान्तों के द्वारा समझाते हैं।

१. सञ्ज्वलन क्रोध—पानी में लकीर खींचने से जैसे वह जल्द मिट जाती है, उसी प्रकार किसी कारण के उदय में आया हुआ क्रोध, शीघ्र ही शान्त हो जाये, उसे सञ्ज्वलन क्रोध कहते हैं। ऐसा क्रोध प्रायः साधुओं को होता है।

२. प्रत्याख्यानावरण क्रोध—धूलि में लकीर खींचने पर, कुछ समय में हवा से वह लकीर भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध, कुछ उपाय से शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध।

३. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध—सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने

से दरार हो जाती है, जब वर्षा होती है तब वह फिर से मिलती है, उसी प्रकार जो क्रोध, विशेष परिश्रम से शान्त होता है, वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कहलाता है।

४. अनन्तानुबन्धी क्रोध—पर्वत के फटने पर जो दरार होती है उसका मिलना कठिन है, उसी प्रकार जो क्रोध किसी उपाय से शान्त नहीं होता वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

अब दृष्टान्तों के द्वारा चार प्रकार का मान कहा जाता है—

१. सञ्ज्वलन मान—बेत को बिना मेहनत नमाया जा सकता है, उसी प्रकार, मान का उदय होने पर जो जीव अपने आग्रह को छोड़कर शीघ्र नम जाता है, उसके मान को सञ्ज्वलन मान कहते हैं।

२. प्रत्याख्यानावरण मान—सूखा काठ तेल वगैरह की मालिश करने पर नमता है, उसी प्रकार जिस जीव का अभिमान, उपायों के द्वारा मुश्किल से दूर किया जाय, उसके मान को प्रत्याख्यानावरण मान कहते हैं।

३. अप्रत्याख्यानावरण मान—हड्डी को नमाने के लिये बहुत से उपाय करने पड़ते हैं और बहुत मेहनत उठानी पड़ती है; उसी प्रकार जो मान, बहुत से उपायों से और अति परिश्रम से दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण मान।

४. अनन्तानुबन्धी मान—सूखा काठ तेल वगैरह की मालिश करने पर भी नहीं नमता है, उसी प्रकार जो मान कभी भी दूर नहीं किया जा सके, वह अनन्तानुबन्धी मान।

‘दृष्टान्तों के द्वारा माया और लोभ का स्वरूप कहते हैं।’

मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंघणवंसिमूलसमा ।

लोहो हलिद्वखंजणकदमकिमिरागसामाणो ॥२०॥

(अवलेहिगोमुत्तिमिंढसिंघणवंसिमूलसमा) अवलेखिका, गोमूत्रिका, मेषशृङ्ग और घनवंशीमूल के समान (माया) माया, चार प्रकार की है। (हलिद्वखंजणकदमकिमिरागसामाणो) हरिद्रा, खज्जन, कर्दम और कृमिराग के समान (लोहो) लोभ चार प्रकार का है ॥२०॥

भावार्थ—माया का अर्थ है कपट, स्वभाव का टेढ़ापन, मन में कुछ और, बोलना या करना कुछ और। इसके चार भेद हैं।

१. **संज्वलनी माया**—बाँस का छिलका टेढ़ा होता है, पर बिना मेहनत वह हाथ से सीधा किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया, बिना परिश्रम दूर हो सके, उसे संज्वलनी माया कहते हैं।

२. **प्रत्याख्यानी माया**—चलता हुआ बैल जब मूतता है, उस मूत्र की टेढ़ी लकीर जमीन पर मालूम होने लगती है, वह टेढ़ापन हवा से धूलि के गिरने पर नहीं मालूम देता, उसी प्रकार जिसका कुटिल स्वभाव, कठिनाई से दूर हो सके, उसकी माया को प्रत्याख्यानी माया कहते हैं।

३. **अप्रत्याख्यानी माया**—भेड़ के सींग का टेढ़ापन बड़ी मुश्किल से अनेक उपायों के द्वारा दूर किया जा सकता है; उसी प्रकार जो माया, अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके, उसे अप्रत्याख्यानी माया कहते हैं।

४. **अनन्तानुबन्धिनी माया**—कठिन बाँस की जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार जो माया, किसी प्रकार दूर न हो सके, उसे अनन्तानुबन्धिनी माया कहते हैं।

धन, कटुबन्ध, शरीर आदि पदार्थों में जो ममता होती है, उसे लोभ कहते हैं, इसके चार भेद हैं जिन्हें दृष्टान्तों के द्वारा दिखलाते हैं।

१. **संज्वलन लोभ**—संज्वलन लोभ, हल्दी के रङ्ग के सदृश है, जो सहज ही में छूटता है।

२. **प्रत्याख्यानावरण लोभ**—प्रत्याख्यानावरण लोभ दीपक के काजल के सदृश है, जो कष्ट से छूटता है।

३. **अप्रत्याख्यानावरण लोभ**—अप्रत्याख्यानावरण लोभ गाड़ी के पहिये के कीचड़ के सदृश है, जो अति कष्ट से छूटता है।

४. **अनन्तानुबन्धी लोभ**—अनन्तानुबन्धी लोभ, किरमिजी रङ्ग के सदृश है, जो किसी उपाय से नहीं छूट सकता।

‘नोकषाय मोहनीय के हास्य आदि छह भेद’

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।

सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥

(जस्सुदया) जिस कर्म के उदय से (जिए) जीव में अर्थात् जीव को (हास) हास्य, (रई) रति, (अरइ) अरति, (सोग) शोक, (भय) भय और (कुच्छा) जुगुप्सा (सनिमित्तं) कारणवश (वा) अथवा (अन्नहा) अन्यथा-बिना कारण (होइ)

होती है, (तं) वह कर्म (इह) इस शास्त्र में (हासाइमोहणियं) हास्य आदि मोहनीय कहा जाता है ॥२१॥

भावार्थ—सोलह कषायों का वर्णन पहले हो चुका है। नौ नोकषाय बाकी हैं, उनमें से छह नोकषायों का स्वरूप इस गाथा के द्वारा कहा जाता है, बाकी के तीन नोकषायों को अगली गाथा से कहेंगे। छह नोकषायों के नाम और उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. हास्यमोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश—अर्थात् भांड आदि की चेष्टा को देखकर अथवा बिना कारण हँसी आती है, वह हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

यहाँ यह संशय होता है कि, बिना कारण हँसी किस प्रकार आयेगी? उसका समाधान यह है कि तात्कालिक बाह्य कारण की अविद्यमानता में मानसिक विचारों के द्वारा जो हँसी आती है वह बिना कारण की है। तात्पर्य यह है कि तात्कालिक बाह्य पदार्थ हास्य आदि में निमित्त हों तो सकारण और सिर्फ मानसिक विचार ही निमित्त हों तो अकारण ऐसा विवक्षित है।

२. रतिमोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थों में अनुराग हो—प्रेम हो, वह रति मोहनीय-कर्म है।

३. अरतिमोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थों से अप्रीति हो—उद्वेग हो, वह अरतिमोहनीय-कर्म है।

४. शोकमोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय-कर्म है।

५. भयमोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण भय हो, वह भयमोहनीय-कर्म है।

भय सात प्रकार का है—१. इहलोक भय—जो दुष्ट मनुष्यों को तथा बलवानों को देखकर होता है। २. परलोक भय—मृत्यु होने के बाद कौन-सी गति मिलेगी, इस बात को लेकर डरना। ३. आदान भय—चोर, डाकू आदि से होता है। ४. अकस्मात् भय—बिजली आदि से होता है। ५. आजीविका भय—जीवन निर्वाह के विषय में होता है। ६. मृत्यु भय—मृत्यु से डरना और ७. अपयश भय—अपकीर्ति से डरना।

६. जुगुप्सामोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण, मांसादि वीभत्स पदार्थों को देखकर घृणा होती है, वह जुगुप्सा मोहनीय कर्म।

‘नोकषाय मोहनीय के अन्तिम तीन भेद’

**पुरिसिन्धि तदुभयं पइ अहिलासो जव्वसाहवइ सोउ ।
थीनरनपुवेउदओ फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥२२॥**

(जव्वसा) जिसके वश से—जिसके प्रभाव से (पुरिसिन्धितदुभयं पइ) पुरुष के प्रति, स्त्री के प्रति तथा स्त्री-पुरुष दोनों के प्रति (अहिलासो) अभिलाष—मैथुन की इच्छा (हवइ) होती है, (सोउ) वह क्रमशः (थीनरनपुवेउदओ) स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद का उदय है। इन तीनों वेदों का स्वरूप (फुंफुमतणनगरदाहसमो) करीषाग्नि, तृणाग्नि और नगरदाह के समान है ॥२२॥

भावार्थ—नोकषाय मोहनीय के अन्तिम तीन भेदों के नाम—१. स्त्रीवेद, २. पुरुषवेद, ३. नपुंसकवेद हैं।

१. स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद कर्म है।

अभिलाषा में दृष्टान्त करीषाग्नि है। करीष सूखे गोबर को कहते हैं, उसकी आग, जैसे-जैसे जलाई जाय वैसे ही वैसे बढ़ती है उसी प्रकार पुरुष के कर-स्पर्शादि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा बढ़ती है।

२. पुरुषवेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह पुरुषवेद कर्म है।

अभिलाषा में दृष्टान्त तृणाग्नि है। तृण की अग्नि शीघ्र जलती और शीघ्र ही बुझती है; उसी प्रकार पुरुष को अभिलाषा शीघ्र उत्पन्न होती है और स्त्री-सेवन के बाद शीघ्र शान्त हो जाती है।

३. नपुंसकवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री, पुरुष दोनों के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह नपुंसकवेद कर्म है।

अभिलाषा में दृष्टान्त, नगर-दाह है। शहर में आग लगे तो बहुत दिनों में शहर को जलाती है और उस आग के बुझने में भी बहुत दिन लगते हैं, उसी प्रकार नपुंसकवेद के उदय से उत्पन्न हुई अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती और विषय सेवन से तृप्ति भी नहीं होती। मोहनीय-कर्म का व्याख्यान समाप्त हुआ।

‘मोहनीय-कर्म के अट्टाईस भेद कह चुके, अब आयु-कर्म और नाम-कर्म के स्वरूप और भेदों को कहते हैं।

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं तित्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

(सुरनरतिरिनरयाऊ) सुरायु, नरायु, तिर्यञ्चायु और नरकायु इस प्रकार आयु-कर्म के चार भेद हैं। आयु-कर्म का स्वभाव (हडिसरिसं) हडि-के समान है और (नाम कम्म) नाम-कर्म (चित्तिसमं) चित्री—चित्रकार-चितेरे के समान है। वह नाम-कर्म (बायालतिनवइविहं) बयालीस प्रकार का, तिरानवे प्रकार का (च) और (तित्तर सयंसत्तट्ठी) एक सौ तीन प्रकार का है ॥२३॥

भावार्थ—आयु-कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ चार हैं—१. देवायु, २. मनुष्यायु, ३. तिर्यञ्चायु और ४. नरकायु। कर्म का स्वभाव कारागृह (जेल) के समान है। जैसे, न्यायाधीश अपराधी को उसके अपराध के अनुसार अमुक काल तक जेल में डालता है और अपराधी चाहता भी है कि मैं जेल से निकल जाऊँ; परन्तु अवधि पूर्ण हुये बिना नहीं निकल सकता; वैसे ही आयु-कर्म जब तक बना रहता है तब तक आत्मा स्थूल-शरीर को नहीं त्याग सकता, जब आयु-कर्म को पूरी तौर से भोग लेता है तभी वह शरीर को छोड़ता है। नारक जीव, नरक भूमि में इतने अधिक दुःखी रहते हैं कि, वे वहाँ जीने की अपेक्षा मरना ही पसन्द करते हैं; परन्तु आयु-कर्म के अस्तित्व से अधिक काल तक भोगने योग्य आयु-कर्म के बने रहने से उनकी मरने की इच्छा पूर्ण नहीं होती।

उन देवों और मनुष्यों को-जिन्हें कि विषयभोग के साधन प्राप्त हैं, जीने की प्रबल इच्छा रहते हुये भी, आयु-कर्म के पूर्ण होते ही परलोक सिधारना पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है उसे आयु कहते हैं। आयु कर्म दो प्रकार का है— एक अपवर्तनीय और दूसरा अनपवर्तनीय।

अपवर्तनीय—बाह्यनिमित्तों से जो आयु कम हो जाती है, उस आयु को अपवर्तनीय अथवा अपवर्त्य आयु कहते हैं, तात्पर्य यह है कि जल में डूबने, आग में जलने, शस्त्र की चोट पहुँचने अथवा ज़हर खाने आदि बाह्य कारणों से शेष आयु को, जो कि पच्चीस पचास आदि वर्षों तक भोगने योग्य है, अन्तर्मुहूर्त में भोग लेना, यही आयु का अपवर्तन है, अर्थात् इस प्रकार की आयु को अपवर्त्य आयु कहते हैं, इसी आयु का दूसरा नाम जो कि दुनियाँ में प्रचलित है 'अकाल मृत्यु' है।

अनपवर्त्तनीय—जो आयु किसी भी कारण से कम न हो सके, अर्थात् जितने काल तक की पहले बाँधी गई है उतने काल तक भोगी जाये उस आयु को अनपवर्त्त आयु कहते हैं।

देव, नारक, चरम शरीरी—अर्थात् उसी शरीर से जो मोक्ष जाने वाले हैं वे, उत्तमपुरुष—अर्थात् तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि और जिनकी आयु असंख्यात वर्षों की है ऐसे मनुष्य और तिर्यञ्च-इनकी आयु अनपवर्त्तनीय ही होती है, इनसे इतर जीवों की आयु का नियम नहीं है, किसी जीव की अपवर्त्तनीय और किसी की अनपवर्त्तनीय होती है।

नाम-कर्म चित्रकार के समान है, जैसे चित्रकार नाना भाँति के मनुष्य, हाथी, घोड़े आदि को चित्रित करता है; ऐसे ही नाम-कर्म नाना भाँति के देव, मनुष्य, नारकों की रचना करता है।

नाम-कर्म की संख्या कई प्रकार से कही गई है; किसी अपेक्षा से उसके बयालीस (४२) भेद हैं, किसी अपेक्षा से तिरानवे (९३) भेद हैं, किसी अपेक्षा से एक सौ तीन (१०३) भेद हैं और किसी अपेक्षा से सड़सठ (६७) भेद भी हैं।

‘नाम-कर्म के ४२ भेदों को कहने के लिए १४ पिण्डप्रकृतियों को कहते हैं।

गइजाइतणुउवंगा बंधणसंघायणाणि संघयणा ।

संठाणवण्णगंधरसफासअणुपुव्विविहगगई ॥ २४ ॥

(गइ) गति, (जाइ) जाति, (तणु) तनु, (उवंगा) उपाङ्ग, (बंधण) बन्धन, (संघायणाणि) संघातन, (संघयणा) संहनन, (संठाण) संस्थान, (वण्ण) वर्ण, (गंध) गन्ध, (रस) रस, (फास) स्पर्श, (अणुपुव्वि) आनुपूर्वी और (विहगगई) विहायोगति, ये चौदह पिण्डप्रकृतियाँ हैं ॥२४॥

भावार्थ—नामकर्म की जो पिण्ड-प्रकृतियाँ हैं, उनके चौदह भेद हैं, प्रत्येक के साथ नाम शब्द को जोड़ देना चाहिये, जैसे कि गति के साथ नाम शब्द को जोड़ देने से गतिनाम, इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के साथ नाम शब्द को जोड़ देना चाहिये। पिण्डप्रकृति का अर्थ पच्चीसवीं गाथा में कहेंगे।

१. **गतिनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव, देव, नारक आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उसे गतिनाम-कर्म कहते हैं।

२. **जातिनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि कहा जाय, उसे जातिनाम-कर्म कहते हैं।

३. **तनुनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक, वैक्रिय आदि

शरीरों की प्राप्ति हो उसे तनुनाम-कर्म कहते हैं। इस कर्म को शरीरनाम-कर्म भी कहते हैं।

४. **अङ्गोपाङ्गनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव के अङ्ग (सिर, पैर आदि) और उपाङ्ग (उंगली, कपाल आदि) के आकार में पुद्गलों का परिणामन होता है, उसे अङ्गोपाङ्गनाम-कर्म कहते हैं।

५. **बन्धननाम**—जिस कर्म के उदय से, प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक आदि शरीरपुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध हो, उसे बन्धननाम-कर्म कहते हैं।

६. **सङ्घातननाम**—जिस कर्म के उदय से शरीरयोग्य पुद्गल, प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर-पुद्गलों पर व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे सङ्घातननाम-कर्म कहते हैं।

७. **संहनननाम**—जिस कर्म के उदय से शरीर में हाड़ों की सन्धियाँ (जोड़) टूट होती हैं, जैसे कि लोहे के पट्टियों से किवाड़ मजबूत किये जाते हैं, उसे संहनननाम-कर्म कहते हैं।

८. **संस्थाननाम**—जिस कर्म के उदय से शरीर में हाड़ों की सन्धियाँ (जोड़) टूट होती हैं, जैसे कि लोहे के पट्टियों से किवाड़ मजबूत किये जाते हैं, उसे संहनननाम-कर्म कहते हैं।

९. **वर्णनाम**—जिसके उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि रङ्ग होते हैं, उसे वर्णनाम-कर्म कहते हैं।

१०. **गन्धनाम**—जिसके उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गन्ध हो उसे गन्धनाम-कर्म कहते हैं।

११. **रसनाम**—जिसके उदय से शरीर में खट्टे, मीठे आदि रसों की उत्पत्ति होती है उसे रसनाम-कर्म कहते हैं।

१२. **स्पर्शनाम**—जिसके उदय से शरीर में कोमल, रुक्ष आदि स्पर्श हों, उसे स्पर्शनाम-कर्म कहते हैं।

१३. **आनुपूर्वीनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वीनाम-कर्म कहते हैं।

आनुपूर्वीनाम-कर्म के लिए नाथ (नासा, रज्जु) का दृष्टान्त दिया गया है जैसे इधर-उधर भटकते हुए बैल को नाथ के द्वारा जहाँ चाहते हैं, ले जाते

हैं, उसी प्रकार जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है, तब आनुपूर्वी कर्म, उसे जहाँ उत्पन्न होना हो, वहाँ पहुँचा देता है।

१४. विहायोगतिनाम—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल (चलना), हाथी या बैल की चाल के समान शुभ अथवा ऊँट या गधे की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न—विहायस् आकाश को कहते हैं वह सर्वत्र व्याप्त है उसको छोड़कर अन्यत्र गति हो ही नहीं सकती फिर विहायस् गति का विशेषण क्यों?

उत्तर—विहायस् को विशेषण न कहकर सिर्फ गति कहेंगे तो नाम-कर्म की प्रथम प्रकृति का नाम भी गति होने के कारण पुनरुक्त दोष की शङ्का हो जाती इसलिए विहायस् विशेषण दिया गया है, जिससे जीव की चाल के अर्थ में गति शब्द को समझा जाय न कि देवगति, नारकगति आदि के अर्थ में। 'प्रत्येक प्रकृति के आठ भेद'

**पिण्डपयडिति चउदस परघाउस्सासआयवुज्जोयं ।
अगुरुलहुतित्थनिमिणोवघायमिय अट्ट पत्तेया ॥२५॥**

(पिण्डपयडिति चउदस) इस प्रकार पूर्व गाथा में कही हुई प्रकृतियाँ, पिण्डप्रकृतियाँ कहलाती हैं और उनकी संख्या चौदह है। (परघा) पराघात, (उस्सास) उच्छ्वास, (आयवुज्जोयं) आतप, उद्योत, (अगुरुलहु) अगुरुलघु, (त्थ) तीर्थङ्कर, (निमिण) निर्माण और (उवघायं) उपघात, (इय) इस प्रकार (अट्ट) आठ (पत्तेया) प्रत्येक-प्रकृतियाँ हैं ॥२५॥

भावार्थ—'पिण्डपयडिति चउदस' इस वाक्य का सम्बन्ध चौबीसवीं गाथा के साथ है, उक्त गाथा में कही हुई गति, जाति आदि चौदह प्रकृतियों को पिण्डप्रकृति कहने का मतलब यह है कि उनमें से हर एक के भेद हैं; जैसे कि, गति नाम के चार भेद, जाति नाम के पाँच भेद इत्यादि। पिण्डित का— अर्थात् समुदाय का ग्रहण होने से पिण्डप्रकृति कही जाती है।

प्रत्येक प्रकृति के आठ भेद हैं, उनके हर एक के साथ नाम शब्द को जोड़ना चाहिये; जैसे कि पराघात नाम, उच्छ्वास नाम आदि। प्रत्येक का मतलब एक-एक से है—अर्थात् इन आठों प्रकृतियों के हर एक के भेद नहीं हैं इसलिए ये प्रकृतियाँ, प्रत्येक प्रकृति, शब्द से कही जाती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं— १. पराघात नाम-कर्म, २. उच्छ्वास नाम-कर्म, ३. आतप नाम-कर्म, ४. उद्योत नाम-कर्म, ५. अगुरुलघु नाम-कर्म, ६. तीर्थङ्कर नाम-कर्म, ७. निर्माण नाम-

कर्म और ८. उपघात नाम-कर्म। इन प्रकृतियों का अर्थ यहाँ इसलिये नहीं कहा गया है कि खुद ग्रन्थकार ही आगे कहने वाले हैं।

‘त्रस दशक शब्द से जो प्रकृतियाँ ली जाती हैं उनको इस गाथा में कहते हैं।’

**तस बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च ।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥**

(तस) त्रस, (बायर) बादर, (पज्जत्तं) पर्याप्त, (थिरं) स्थिर, (सुभं) शुभ, (च) और (सुभगं) सुभग, (सुसराइज्ज) सुस्वर, आदेय और (जसं) यशःकीर्ति, ये प्रकृतियाँ (तस दसगं) त्रस-दशक कही जाती हैं। (थावरदसं तु) स्थावर-दशक (इमं) यह जो कि आगे की गाथा में कहेंगे ॥२६॥

भावार्थ—यहाँ भी प्रत्येक-प्रकृति के साथ नाम को जोड़ना चाहिये; जैसे कि त्रसनाम, बादरनाम आदि। त्रस से लेकर यशःकीर्ति तक गिनती में दस प्रकृतियाँ हैं, इसलिए ये प्रकृतियाँ त्रसदशक कही जाती हैं, इसी प्रकार स्थावर-दशक को भी समझना चाहिये; जिसे कि आगे की गाथा में कहने वाले हैं। त्रस दशक की प्रकृतियों के नाम हैं—१. त्रस नाम, २. बादर नाम, ३. पर्याप्त नाम, ४. प्रत्येक नाम, ५. स्थिर नाम, ६. शुभ नाम, ७. सुभग नाम, ८. सुस्वर नाम, ९. आदेय नाम और १०. यशःकीर्ति नाम। इन प्रकृतियों का स्वरूप भी आगे कहा जायगा।

‘स्थावर-दशक शब्द से जो प्रकृतियाँ ली जाती हैं, उनको इस गाथा में कहते हैं।’

**थावर सुहुम अपज्जं साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय नामे सेयरा बीसं ॥२७॥**

(थावर) स्थावर, (सुहुम) सूक्ष्म, (अपज्जं) अपर्याप्त, (साहारण) साधारण, (अथिर) अस्थिर, (असुभ) अशुभ, (दुभगाणि) दुर्भग, (दुस्सरऽणाइज्जाजसं) दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति, (इय) इस प्रकार (नाम) नामकर्म में (सेयरा) इतर अर्थात् त्रसदशक के साथ स्थावर-दशक को मिलाने से (बीसं) बीस प्रकृतियाँ होती हैं ॥२७॥

भावार्थ—त्रस-दशक में जितनी प्रकृतियाँ हैं उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ स्थावर-दशक में हैं; जैसे कि त्रसनाम से विपरीत स्थावरनाम, बादरनाम से

विपरीत सूक्ष्मनाम, पर्याप्तनाम का प्रतिपक्षी अपर्याप्तनाम, इसी प्रकार शेष प्रकृतियों में भी समझना चाहिये। त्रस-दशक की गिनती पुण्य-प्रकृतियों में और स्थावर दशक की गिनती पाप-प्रकृतियों में हैं। इन बीस प्रकृतियों को भी प्रत्येक-प्रकृति कहते हैं। अतएव पच्चीसवीं गाथा में कही हुई आठ प्रकृतियों को इनके साथ मिलाने से अट्ठाईस प्रकृतियाँ, प्रत्येक प्रकृतियाँ हुई। नाम शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध पूर्ववत् समझना चाहिये जैसे कि—

१. स्थावर नाम, २. सूक्ष्म नाम, ३. अपर्याप्त नाम, ४. साधारण नाम, ५. अस्थिर नाम, ६. अशुभ नाम, ७. दुर्भग नाम, ८. दुःस्वर नाम, ९. अनादेय नाम और १०. अयशःकीर्ति नाम।

‘ग्रन्थलाघव के अर्थ, अनन्तरोक्त त्रस आदि बीस प्रकृतियों के अन्दर, कतिपय संज्ञाओं (परिभाषा, सङ्केत) को दो गाथाओं से कहते हैं।’

**तसचउत्थिरछक्कं अत्थिरछक्कसुहुमतिगथावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहिं पयडीहिं ॥२८॥**

(तसचउ) त्रसचतुष्क, (त्थिरछक्कं) स्थिरषट्क, (अत्थिरछक्कं) अस्थिरषट्क (सुहुमतिग) सूक्ष्मत्रिक, (थावरचउक्कं) स्थावरचतुष्क, सुभगत्रिक आदि विभाषाएँ कर लेनी चाहिये, सङ्केत करने की रीति यह है कि (तदाह संखाहिं पयडीहिं) संख्या के आदि में जिस प्रकृति का निर्देश किया गया हो, उस प्रकृति से निर्दिष्ट संख्या की पूर्णता तक, जितनी प्रकृतियाँ मिलें, लेना चाहिये ॥२८॥

भावार्थ—संकेत करने से शास्त्र का विस्तार नहीं बढ़ता इसलिये संकेत करना आवश्यक है। संकेत, विभाषा, परिभाषा, संज्ञा ये शब्द समानार्थक हैं। यहाँ पर संकेत की पद्धति ग्रन्थकार ने यों बतलाई है—जिस संख्या के पहले, जिस प्रकृति का निर्देश किया हो उस प्रकृति को, जिस प्रकृति पर संख्या पूर्ण हो जाय उस प्रकृति को तथा बीच की प्रकृतियों को, उक्त संकेतों से लेना चाहिये; जैसे—

त्रस-चतुष्क—१. त्रसनाम, २. बादरनाम, ३. पर्याप्तनाम और ४. प्रत्येकनाम—ये चार प्रकृतियाँ ‘त्रसचतुष्क’ इस संकेत से ली गई हैं। ऐसे ही आगे भी समझना चाहिये।

स्थिरषट्क—१. स्थिरनाम, २. शुभनाम, ३. सुभगनाम, ४. सुस्वरनाम ५. आदेयनाम और ६. यशःकीर्तिनाम।

अस्थिरषट्क—१. अस्थिरनाम, २. अशुभनाम, ३. दुर्भगनाम, ४. दुःस्वरनाम, ५. अनादेयनाम और ६. अयशःकीर्तिनाम।

स्थावर-चतुष्क—१. स्थावरनाम, २. सूक्ष्मनाम, ३. अपर्याप्तनाम और ४. साधारणनाम।

सुभग-त्रिक—१. सुभगनाम, २. सुस्वरनाम और ३. आदेयनाम।

गाथा में आदि शब्द है इसलिये दुर्भग-त्रिक का भी संग्रह कर लेना चाहिये।

दुर्भग-त्रिक—१. दुर्भग, २. दुःस्वर और ३. अनादेय।

वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्कमिच्चाई।

इय अन्नावि विभासा, तयाइ संखाहि पयडीहिं ॥२९॥

(वण्णचउ) वर्णचतुष्क, (अगुरुलहुचउ) अगुरुलघुचतुष्क, (तसाइ दुति चउर छक्कमिच्चाई) त्रस-द्विक, त्रस-त्रिक, त्रस-चतुष्क, त्रस-षट्क इत्यादि (इय) इस प्रकार (अन्नावि विभासा) अन्य विभाषाएँ भी समझनी चाहिये, (तयाइ संखाहि पयडीहिं) तदादिसंख्यकप्रकृतियों के द्वारा ॥२९॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गाथा में कुछ सङ्केत दिखलाये गये हैं, उसी प्रकार इस गाथा के द्वारा भी कुछ दिखलाए जाते हैं—

वर्णचतुष्क—१. वर्णनाम, २. गन्धनाम, ३. रसनाम और ४. स्पर्शनाम—ये चार प्रकृतियाँ वर्णचतुष्क इस संकेत से ली जाती हैं। इस प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

अगुरुलघु-चतुष्क—१. अगुरुलघुनाम, २. उपघातनाम, ३. पराघातनाम और ४. उच्छ्वासनाम।

त्रस-द्विक—१. त्रसनाम और २. बादरनाम।

त्रस-त्रिक—१. त्रसनाम, २. बादरनाम और ३. पर्याप्तनाम।

त्रस-चतुष्क—१. त्रसनाम, २. बादरनाम, ३. पर्याप्तनाम और ४. प्रत्येकनाम।

त्रस-षट्क—१. त्रसनाम, २. बादरनाम, ३. पर्याप्तनाम, ४. प्रत्येकनाम, ५. स्थिरनाम और ६. शुभनाम।

इनसे अन्य भी संकेत हैं जैसे कि—

स्त्यानर्द्धि-त्रिक—१. स्त्यानर्द्धि, २. निद्रा-निद्रा और ३. प्रचला-प्रचला।

तेइसवींगाथा में कहा गया था कि नामकर्म की संख्याएँ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् उसके बयालीस ४२ भेद भी हैं और तिरानवे ९३ भेद भी हैं इत्यादि। बयालीस भेद अब तक कहे गये उन्हें यों समझना चाहिए— चौदह १४ पिण्डप्रकृतियाँ चौबीसवीं गाथा में कही गई; आठ ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ, पच्चीसवीं गाथा में कही गई; त्रस-दशक और स्थावरदशक की बीस प्रकृतियाँ क्रमशः छब्बीसवीं और सत्ताईसवीं गाथा में कही गई हैं। इन सबको मिलाने से नाम-कर्म की बयालीस प्रकृतियाँ हुई।

‘नामकर्म के बयालीस भेद कह चुके हैं, अब उसी के तिरानवे भेदों को कहने के लिए चौदह पिण्ड-प्रकृतियों की उत्तर-प्रकृतियाँ कही जाती हैं।’

**गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपंचछक्कं ।
पणदुगपणदुचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥ ३० ॥**

(गइयाईण) गति आदि के (उ) तो (कमसो) क्रमशः (चउ) चार, (पण) पाँच, (पण) पाँच, (छ) छह, (छक्कं) छह, (पण) पाँच, (दुग) दो, (पणदु) पाँच, आठ, (चउ) चार, और (दुग) दो, (इय) इस प्रकार (उत्तरभेयपणसट्ठी) पैसठ उत्तर-भेद हैं ॥३०॥

भावार्थ—चौबीसवीं गाथा में चौदह पिण्डप्रकृतियों के नाम कहे गये हैं, इस गाथा में उनके हर एक के उत्तर-भेदों की संख्या को कहते हैं; जैसे कि— १. गतिनाम-कर्म के चार भेद, २. जातिनाम-कर्म के पाँच भेद, ३. तनु (शरीर) नाम-कर्म के पाँच भेद, ४. उपाङ्गनाम-कर्म के तीन भेद, ५. बन्धननाम-कर्म के पाँच भेद, ६. संघातननाम-कर्म के पाँच भेद, ७. संहनननाम-कर्म के छह भेद, ८. संस्थाननाम-कर्म के छह भेद, ९. वर्णनाम-कर्म के पाँच भेद, १०. गन्धनाम-कर्म के दो भेद, ११. रसनाम-कर्म के पाँच भेद, १२. स्पर्शनाम-कर्म के आठ भेद, १३. आनुपूर्वीनाम-कर्म के चार भेद, १४. विहायोगतिनाम-कर्म के दो भेद, इस प्रकार उत्तर-भेदों की कुल संख्या पैसठ ६५ होती हैं।

‘नाम-कर्म की ९३, १०३ और ६७ प्रकृतियाँ किस तरह होती हैं, सो दिखलाते हैं।’

**अडवीस-जुया तिनवइ सन्ते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवणचऊ ॥ ३१ ॥**

(अडवीसजुया) अट्ठाईस प्रत्येक प्रकृतियों को पैसठ प्रकृतियों में जोड़ देने

से (सन्ते) सत्ता में (तिनवइ) तिरानवे ९३ भेद होते हैं। (वा) अथवा इन तिरानवे प्रकृतियों में (पनरबंधणे) पन्द्रह बन्धनों के वस्तुतः दस बन्धनों के जोड़ देने से (सन्ते) सत्ता में (तिसयं) एकसौ तीन प्रकृतियाँ होती हैं, (तणूसु) शरीरों में अर्थात् शरीर के ग्रहण से (बन्धणसंघायगहो) बंधनों और संघातनों का ग्रहण हो जाता है और इसी प्रकार (सामन्नवण्णचउ) सामान्य रूप से वर्ण-चतुष्क का भी ग्रहण होता है ॥३१॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गाथा में चौदह पिण्ड-प्रकृतियों की संख्या, पैसठ कही गई है; उनमें अट्ठाईस प्रत्येक प्रकृतियाँ—अर्थात् आठ ८ पराघात आदि, दस त्रस आदि और दस स्थावर आदि जोड़ दिये जायें तो नाम-कर्म की तिरानवे (९३) प्रकृतियाँ सत्ता की अपेक्षा से समझनी चाहिये। इन तिरानवे प्रकृतियों में, बन्धननाम के पाँच भेद जोड़ दिये गये हैं, परन्तु किसी अपेक्षा से बन्धननाम के पन्द्रह भेद भी होते हैं, ये सब तिरानवे प्रकृतियों में जोड़ दिये जायें तो नाम कर्म के एक सौ तीन भेद होंगे—अर्थात् बन्धननाम के पन्द्रह भेदों में से पाँच भेद जोड़ देने पर तिरानवे भेद कह चुके हैं, सिर्फ बन्धननाम के शेष दस भेद जोड़ना बाकी रह गया था, सो इनके जोड़ देने से $९३+१० = १०३$ नाम कर्म के भेद सत्ता की अपेक्षा से हुये। नामकर्म की ६७ प्रकृतियाँ इस प्रकार समझनी चाहिये—बन्धनाम के १५ भेद और संघातननाम के पाँच भेद, ये बीस प्रकृतियाँ, शरीरनाम के पाँच भेदों में शामिल की जायें, इसी तरह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार प्रकृतियों की बीस उत्तर-प्रकृतियों को चार प्रकृतियों में शामिल किया जाय, इस प्रकार वर्ण आदि की सोलह तथा बन्धन—संघातन की बीस, दोनों को मिलाने से छत्तीस प्रकृतियाँ हुई। नामकर्म की एक सौ तीन प्रकृतियों में से छत्तीस को घटा देने से ६७ प्रकृतियाँ रहीं।

औदारिक आदि शरीर के सदृश ही औदारिक आदि बन्धन तथा औदारिक आदि संघातन है इसलिये बन्धनों और संघातनों का शरीरनाम में अन्तर्भाव कर दिया गया। वर्ण की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ हैं इसी प्रकार गन्ध की दो, रस की पाँच और स्पर्श की आठ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं। साजात्य को लेकर विशेष भेदों की विवक्षा नहीं की; किन्तु सामान्य-रूप से एक-एक ही प्रकृति ली गई।

बन्ध आदि की अपेक्षा कर्म-प्रकृतियों की अलग-अलग संख्याएँ
 इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बन्धे ।
 बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसऽडुवन्नसयं ॥३२॥

(इय) इस प्रकार (सत्तट्टी) ६७ प्रकृतियाँ (बन्धोदए) बन्ध, उदय और (य) च—अर्थात् उदीरणा की अपेक्षा समझना चाहिये। (सम्ममीसया) सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय (बन्ध) बन्ध में (नहुय) न च—नैव-नहीं लिये जाते, (बन्धुदए) सत्ताए बन्ध, उदय और सत्ता की अपेक्षा क्रमशः (वीस दुवी-सडुवन्नसयं) एक सौ बीस, एक सौ बाईस और एक सौ अट्ठावन कर्म प्रकृतियाँ ली जाती हैं ॥३२॥

भावार्थ—इस गाथा में बन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता की अपेक्षा से कुल कर्म-प्रकृतियों की अलग-अलग संख्याएँ कही गई हैं।

एक सौ बीस १२० कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध की अधिकारिणी हैं, सो इस प्रकार—नाम-कर्म की ६७, ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयु की ४, गोत्र की २ और अन्तराय की ५, सबको मिलाकर १२० कर्म-प्रकृतियाँ हुईं।

यद्यपि मोहनीय-कर्म के २८ भेद हैं, परन्तु बन्ध २६ का ही होता है, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, (जिस मिथ्यात्व मोहनीय का बन्ध होता है, उसके कुछ पुद्गलों को जीव अपने सम्यक्त्वगुण से अत्यन्त शुद्ध कर देता है और कुछ पुद्गलों को अर्द्धशुद्ध करता है। अत्यन्त शुद्ध पुद्गल, सम्यक्त्वमोहनीय और अर्द्ध-शुद्ध पुद्गल मिथ्यात्व मोहनीय कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहनीय की दो प्रकृतियों को सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को कम कर देने से शेष १२० प्रकृतियाँ बन्ध योग्य हुईं।

अब इन्हीं बन्ध योग्य प्रकृतियों में जो मोहनीय की दो प्रकृतियाँ घटा दी गई थीं उनको मिला देने से एक सौ बाईस १२२ कर्म-प्रकृतियाँ, उदय तथा उदीरणा की अधिकारिणी हुईं; क्योंकि अन्यान्य प्रकृतियों के समान ही सम्यक्त्वमोहनीय तथा मिश्रमोहनीय की उदय-उदीरणा हुआ करती है।

एक सौ अट्ठावन (१५८) अथवा एक सौ अड़तालीस (१४८) प्रकृतियाँ सत्ता की अधिकारिणी हैं, सो इस प्रकार ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नामकर्म की १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५, सब मिलाकर १५८ हुई इस संख्या में बन्धननाम के १५ भेद मिलाए गये हैं, यदि १५ के स्थान में ५ भेद ही बन्धन के समझे जायें तो १५८ में से १० के घटा देने पर सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या १४८ होगी।

‘चौबीसवीं गाथा में चौदह पिण्डप्रकृतियाँ कही गई हैं, अब उनके उत्तर-भेद कहे जायँगे, पहले तीन पिण्डप्रकृतियों के गति, जाति तथा शरीर नाम के उत्तर-भेदों को इस गाथा में कहते हैं।

निरयतिरिनरसुरगई **इगबियतियचउपणिंदिजाइओ ।**
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण **पण** **सरीरा ॥३३॥**

(निरयतिरिनरसुरगई) नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतिनाम-कर्म के भेद हैं। (इगबियतिय चउपणिंदिजाइओ) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये जातिनाम के पाँच भेद हैं। (ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मणपणसरीरा) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण, ये पाँच शरीरनाम के भेद हैं ॥३३॥

भावार्थ—गतिनामकर्म के चार भेद—

१. जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे ‘यह नारक-जीव है’ ऐसा कहा जाय, उस कर्म को नरकगति नामकर्म कहते हैं।
२. जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख ‘यह तिर्यञ्च है’ ऐसा कहा जाय, उस कर्म को तिर्यञ्चगति नामकर्म कहते हैं।
३. जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख ‘यह मनुष्य है’ ऐसा कहा जाय, उस कर्म को मनुष्यगति नामकर्म कहते हैं।
४. जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख ‘यह देव है’ ऐसा कहा जाय, उस कर्म को देवगति नामकर्म कहते हैं।

जातिनामकर्म के पाँच भेद—

१. जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक इन्द्रिय— त्वगिन्द्रिय की प्राप्ति हो उसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।
२. जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रियाँ—त्वचा और जीभ—प्राप्त हो, वह द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म है।
३. जिस कर्म के उदय से तीन इन्द्रियाँ—त्वचा, जीभ और नाक—प्राप्त हों, वह त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म है।
४. जिस कर्म के उदय से चार इन्द्रियाँ—त्वचा, जीभ, नाक और आँख—प्राप्त हों वह चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म है।

५. जिस कर्म के उदय से पाँच इन्द्रियाँ—त्वचा, जीभ, नाक, आँख और कान—प्राप्त हों, वह पञ्चेन्द्रिय जातिनाम कर्म है।

‘शरीर नाम के पाँच भेद’

१. उदार अर्थात्-प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है, जिस कर्म से ऐसा शरीर मिले उसे औदारिक शरीरनामकर्म कहते हैं।

तीर्थङ्कर और गणधरों का शरीर, प्रधान पुद्गलों से बनता है और सर्वसाधारण का शरीर स्थूल, असारपुद्गलों से बनता है। मनुष्य और तिर्यञ्च को औदारिक शरीर प्राप्त होता है।

२. जिस शरीर से विविध क्रियाएँ होती हैं, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो, उसे वैक्रिय शरीर नामकर्म कहते हैं।

विविध क्रियाएँ ये हैं—एक स्वरूप धारण करना, अनेक स्वरूप धारण करना, छोटा शरीर धारण करना, बड़ा शरीर धारण करना, आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, भूमि पर चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य शरीर धारण करना, अदृश्य शरीर धारण करना, इत्यादि अनेक प्रकार की अवस्थाओं को वैक्रिय शरीरधारी जीव कर सकता है।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार के हैं—१. औपपातिक और २. लब्धिप्रत्यय।

देव और नारकों का शरीर औपपातिक कहलाता है अर्थात् उनको जन्म से ही वैक्रिय शरीर मिलता है। लब्धिप्रत्यय शरीर, तिर्यञ्च और मनुष्यों को होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च तप आदि के द्वारा प्राप्त किये हुये शक्ति-विशेष से वैक्रिय शरीर धारण कर लेते हैं।

३. चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अन्य (महाविदेह) क्षेत्र में वर्तमान तीर्थङ्कर से अपना सन्देह निवारण करने के लिये अथवा उनका ऐश्वर्य देखने के लिये जब उक्त क्षेत्र को जाना चाहते हैं, तब लब्धिविशेष से एक हाथ प्रमाण अतिविशुद्धस्फटिक के समान निर्मल जो शरीर धारण करते हैं, उस शरीर को आहारक शरीर कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो उसे आहारक शरीरनामकर्म कहते हैं।

४. तेजःपुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस कहलाता है, इस शरीर की उष्णता से खाये हुये अन्न का पाचन होता है और कोई-कोई तपस्वी जो क्रोध

से तेजोलेश्या के द्वारा औरों को नुकसान पहुँचाता है तथा प्रसन्न होकर शीतलेश्या के द्वारा फायदा पहुँचाता है वह इसी तेजःशरीर के प्रभाव से समझना चाहिये। अर्थात् आहार के पाक का हेतु तथा तेजोलेश्या और शीतलेश्या के निर्गमन का हेतु जो शरीर है, वह तैजस शरीर कहलाता है, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है उसे तैजस शरीरनामकर्म कहते हैं।

५. कर्मों का बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है, जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुये आठ प्रकार के कर्म-पुद्गलों को कार्मण शरीर कहते हैं। यह कार्मण शरीर, सब शरीरों का बीज है, इसी शरीर से जीव अपने मरण-देश को छोड़कर उत्पत्ति स्थान को जाता है। जिस कर्म से कार्मण शरीर की प्राप्ति हो, उसे कार्मण शरीरनामकर्म कहते हैं।

समस्त संसारी जीवों को तैजस शरीर और कार्मण शरीर, ये दो शरीर अवश्य होते हैं।

‘उपाङ्गनाम कर्म के तीन भेद’

**बाहूरु पिट्टि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा ।
सेसा अंगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥**

(बाहूरु) भुजा, जँघा, (पिट्टि) पीठ, (सिर) सिर, (उर) छाती और (उयरंग) पेट, ये अङ्ग हैं। (अंगुली पमुहा) उंगली आदि (उवंग) उपाङ्ग हैं। (सेसा) शेष (अंगोवंगा) अङ्गोपाङ्ग हैं, (पढमतणुतिगस्सुवंगाणि) ये अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग प्रथम के तीन शरीरों में ही होते हैं ॥३४॥

भावार्थ—पिण्ड-प्रकृतियों में चौथा उपाङ्ग नामकर्म है। उपाङ्ग शब्द से तीन वस्तुओं का—अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग का ग्रहण होता है। ये तीनों—अङ्गादि, औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में ही होते हैं, अन्त के तैजस और कार्मण इन दो शरीरों में नहीं होते, क्योंकि इन दोनों का कोई संस्थान अर्थात् आकार नहीं होता; अङ्गोपाङ्ग आदि के लिये किसी न किसी आकृति की आवश्यकता है, सो प्रथम के तीन शरीरों में ही पाई जाती है।

अङ्ग के आठ भेद हैं—दो भुजाएँ, दो जंघाएँ, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट।

अङ्ग के साथ जुड़े हुए छोटे अवयवों को उपाङ्ग कहते हैं जैसे, उंगली आदि।

अङ्गुलियों की रेखाओं तथा पर्वों आदि को अङ्गोपाङ्ग कहते हैं।

१. औदारिक शरीर के आकार में परिणत पुद्गलों से अङ्गोपाङ्गरूप अवयव, जिस कर्म के उदय से बनते हैं, उसे औदारिक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं।

२. जिस कर्म के उदय से, वैक्रियशरीररूप से परिणत पुद्गलों से अङ्गोपाङ्गरूप अवयव बनते हैं, वह वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग नामकर्म है।

३. जिस कर्म के उदय से, आहारक शरीर रूप से परिणत पुद्गलों से अङ्गोपाङ्गरूप अवयव बनते हैं, वह आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म है।

'बन्धन नामकर्म के पाँच भेद'

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धबज्जंतयाण संबंधं ।
जं कुणइ जउसमं तं^१ उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

(जं) जो कर्म (जउसमं) जतु-लाख के समान (निबद्ध बज्जंतयाण) पहले बंधे हुये तथा वर्तमान में बंधने वाले (उरलाइपुग्गलाणं) औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों का, आपस में (सम्बन्धं) सम्बन्ध (कुणइ) कराता है—परस्पर मिलाता है (तं) उस कर्म का (उरलाईबंधणं) औदारिक आदि बन्धन-नामकर्म (नेयं) समझना चाहिये ॥३५॥

भावार्थ—जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजें आपस में जोड़ दी जाती हैं उसी प्रकार बन्धन-नामकर्म, शरीरनाम के बल से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर-पुद्गलों के साथ, वर्तमान समय में जिनका ग्रहण हो रहा है ऐसे शरीर पुद्गलों को बाँध देता है—जोड़ देता है। यदि बन्धन नामकर्म न होता तो शरीराकार-परिणतपुद्गलों में उसी प्रकार की अस्थिरता हो जाती, जैसी कि वायु-प्रेरित, कुण्ड-स्थित सत्तु (सत्तु) में होती है।

जो शरीर नये पैदा होते हैं, उनके प्रारम्भ काल में सर्व-बन्ध होता है, बाद, वे शरीर जब तक धारण किये जाते हैं, देश-बन्ध हुआ करता है। अर्थात्, जो शरीर नवीन नहीं उत्पन्न होते, उनमें जब तक कि वे रहते हैं, देश-बन्ध ही हुआ करता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में, उत्पत्ति के समय सर्व-बन्ध और बाद देश-बन्ध होता है।

१. 'बंधम मुरलाई तणुनामा' इत्यपि पाठान्तरम् ।

तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये उनमें देश-बन्ध समझना चाहिये।

१. जिस कर्म के उदय से, पूर्व-गृहीत—प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक पुद्गलों के साथ, गृह्यमाण—वर्तमान समय में जिनका ग्रहण किया जा रहा हो ऐसे—औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो जाये, उसे औदारिक शरीर—बन्धन नामकर्म कहते हैं।

२. जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रियपुद्गलों के साथ गृह्यमाणवैक्रिय पुद्गलों का आपस में मेल हो, वह वैक्रिय शरीर-बन्धन नामकर्म है।

३. जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध हो वह आहारक शरीर-बन्धन नामकर्म है।

४. जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजस पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध हो, वह तैजस शरीर-बन्धन नामकर्म है।

५. जिस कर्म के उदय से पूर्व-गृहीत कार्मण पुद्गलों के साथ, गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध हो, वह कार्मण शरीर-बन्धन नामकर्म है।

‘बन्धन नामकर्म का स्वरूप कह चुके हैं। बिना एकत्रित किये हुये पुद्गलों का आपस में बन्ध नहीं होता इसलिये परस्पर सन्निधान का कारण, सङ्घातन नाम-कर्म कहा जाता है।’

**जं संघायइ उरलाइपुग्गले तणगणं व दंताली ।
तं संघायं बंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥ ३६ ॥**

(दंताली) दंताली (तणगणं व) तृण-समूह के सदृश (जं) जो कर्म (उरलाइपुग्गले) औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों को (संघायइ) इकट्ठा करता है (तं संघायं) वह संघातन नामकर्म है। (बंधणमिव) बन्धन नामकर्म की तरह (तणुनामेण) शरीरनाम की अपेक्षा से वह (पंचविहं) पाँच प्रकार का है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण शरीर पुद्गलों का परस्पर बन्ध तभी हो सकता है जब कि उन दोनों प्रकार के—गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो। (पुद्गलों को परस्पर सन्निहित करना—एक-दूसरे के पास व्यवस्था से स्थापन करना संघातन कर्म का कार्य है।) इसमें दृष्टान्त दन्ताली है, जैसे दन्ताली से इधर-उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है फिर उस घास का गड्ढा बाँधा जाता है उसी प्रकार

सङ्घातन नाम-कर्म पुद्गलों को सन्निहित करता है और बन्धन नाम उनको सम्बद्ध करता है।

शरीरनाम की अपेक्षा से जिस प्रकार बन्धन नाम के पाँच भेद किये गये उसी प्रकार संघातननाम के भी पाँच भेद हैं—

१. जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिक संघातन नामकर्म कहलाता है।

२. जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह वैक्रिय संघातन नाम है।

३. जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारक संघातन नाम है।

४. जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजस संघातन नाम कहलाता है।

५. जिस कर्म के उदय से कार्मण शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह कार्मण संघातन नाम कहलाता है।

‘इकतीसवीं गाथा में ‘संतेवा पनरबंधणे तिसयं’ ऐसा कहा है, उसे स्फुट करने के लिए बन्धन नाम के पन्द्रह भेद दिखलाये हैं।’

ओरालविउव्वाहारयाण

सगतेयकम्मजुत्ताणं ।

नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

(सगतेयकम्मजुत्ताणं) अपने-अपने तैजस तथा कार्मण के साथ संयुक्त ऐसे (ओरालविउव्वाहारयाण) औदारिक, वैक्रिय और आहारक के (नव बंधणाणि) नौ बन्धन होते हैं। (इयर दुसहियाणं) इतर दो-तैजस और कार्मण इनके साथ अर्थात् मिश्र के साथ औदारिक, वैक्रिय और आहारक का संयोग होने पर (तिन्नि) तीन बन्धन प्रकृतियाँ होती हैं। (च) और (तेसिं) उनके अर्थात् तैजस और कार्मण के, स्व तथा इतर से संयोग होने पर, तीन बन्धन-प्रकृतियाँ होती हैं ॥३७॥

भावार्थ—इस गाथा में बन्धन-नामकर्म के पन्द्रह भेद किस प्रकार होते हैं वह दिखलाते हैं—

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों का स्वकीय पुद्गलों से अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर रूप से परिणत पुद्गलों से, तैजस पुद्गलों से तथा कार्मण पुद्गलों से सम्बन्ध करानेवाले बन्धन-नामकर्म के नौ भेद हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक का हर एक का, तैजस और कर्मण के साथ युगपत् सम्बन्ध कराने वाले बन्धन-नामकर्म के तीन भेद हैं।

तैजस और कर्मण का स्वकीय तथा इतर से सम्बन्ध कराने वाले बन्धन-नामकर्म के तीन भेद हैं—

पन्द्रह बन्धन-नामकर्म के नाम ये हैं—

१. औदारिक-औदारिक-बन्धन नाम, २. औदारिक-तैजस-बन्धन नाम, ३. औदारिक-कर्मण-बन्धन नाम, ४. वैक्रिय-वैक्रिय-बन्धन नाम, ५. वैक्रिय-तैजस-बन्धन नाम, ६. वैक्रिय-कर्मण-बन्धन नाम, ७. आहारक-आहारक-बन्धन नाम, ८. आहारक-तैजस-बन्धन नाम, ९. आहारक-कर्मण-बन्धन नाम, १०. औदारिक-तैजस-कर्मण-बन्धन नाम, ११. वैक्रिय-तैजस-कर्मण-बन्धन नाम, १२. आहारक-तैजस-कर्मण-बन्धन नाम, १३. तैजस-तैजस-बन्धन नाम, १४. तैजस-कर्मण-बन्धन नाम, १५. कर्मण-कर्मण-बन्धन नाम।

इनका अर्थ यह है कि—

१. जिस कर्म के उदय से, पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है; उसे औदारिक-औदारिक-बन्धन नामकर्म कहते हैं।

२. जिस कर्म के उदय से औदारिक दल का तैजस दल के साथ सम्बन्ध हो उसे औदारिक-तैजस-बन्धन नामकर्म कहते हैं।

३. जिस कर्म के उदय से औदारिक दल का कर्मण दल के साथ सम्बन्ध होता है उसे औदारिक-कर्मण-बन्धन नाम कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य बन्धन नामों का भी अर्थ समझना चाहिये। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं इसलिए उनके सम्बन्ध कराने वाले नाम-कर्म भी नहीं हैं।

‘संहनन नाम-कर्म के छह भेद, दो गाथाओं से कहते हैं’

संघयणमट्टिनिचओ तं छब्बा वज्जरिसहनारायं ।

तहय रिसहनारायं नारायं अब्दनारायं ॥३८॥

कीलिअ छेवट्टं इह रिसहो पट्टो यकीलिया वज्जं ।

उभओ मक्कडबंधो नारायं इममुरालंगे ॥३९॥

(संघयणमट्टिनिचओ) हाड़ों की रचना को संहनन कहते हैं, (तं) वह (छद्दा) छह प्रकार का है—(वज्जरिसहनारायं) वज्रऋषभनाराच, (तहय) उसी प्रकार (रिसहनारायं) ऋषभनाराच, (नारायं) नाराच, (अद्धनारायं) अर्द्धनाराच ॥३८॥

(कीलिय) कीलिका और (छेवट्टं) सेवार्त (इह) इस शास्त्र में (रिसहो पट्टो) ऋषभ का अर्थ, पट्ट; (य) और (कीलिया वज्जं) वज्र का अर्थ, कीलिका-खीला है; (उभओ मक्कडबंधो नारायं) नाराच का अर्थ, दोनों ओर मर्कट बन्ध है (इममुरालंगे) यह संहनन औदारिक शरीर में ही होती है ॥३९॥

भावार्थ—पिण्ड प्रकृतियों का वर्णन चल रहा है उनमें से सातवीं प्रकृति का नाम है, संहनन नाम। उसके छह भेद हैं।

हाड़ों का आपस में जुड़ जाना—मिलना, अर्थात् रचना विशेष जिस नाम कर्म के उदय से होता है, उसे 'संहनन नाम-कर्म' कहते हैं।

१. **वज्रऋषभनाराच संहनन नाम**—वज्र का अर्थ है खीला, ऋषभ का अर्थ है वेष्टनपट्ट और नाराच का अर्थ है दोनों तरफ मर्कट बन्ध, मर्कट बन्ध से बन्धी हुई दो हड्डियों के ऊपर तीसरे हड्डी का बेठन हो और तीनों को भेदने वाला हड्डी का खीला जिस संहनन में पाया जाय उसे वज्रऋषभनाराच संहनन कहते हैं और जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उस कर्म का नाम भी वज्रऋषभनाराच संहनन है।

२. **ऋषभनाराच संहनन नाम**—दोनों तरफ हाड़ों का मर्कट-बन्ध हो, तीसरे हाड़ का बेठन भी हो लेकिन तीनों को भेदने वाला हाड़ का खीला न हो, तो वह ऋषभ-नाराच संहनन है। जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे ऋषभ-नाराच संहनन नामकर्म कहते हैं।

३. **नाराच संहनन नाम**—जिस रचना में दोनों तरफ मर्कट बन्ध हो लेकिन बेठन और खीला न हो उसे नाराच संहनन कहते हैं, जिस कर्म से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे भी नाराच संहनन नाम कहते हैं।

४. **अर्धनाराच संहनन नाम**—जिस रचना में एक तरफ मर्कट बन्ध हो और दूसरी तरफ खीला हो, उसे अर्धनाराच संहनन कहते हैं पूर्ववत् कर्म का भी नाम अर्धनाराच संहनन समझना चाहिये।

५. **कीलिका संहनन नाम**—जिस रचना में मर्कटबन्ध और बेठन न हों; किन्तु खीले से हड्डियाँ जुड़ी हों, तो उसे कीलिका संहनन कहते हैं। पूर्ववत् कर्म का काम भी वही है।

६. **सेवार्त संहनन नाम**—जिस रचना में मर्कट बन्ध बेठन और खीला न होकर, यों ही हड्डियाँ आपस में जुड़ी हों, उसे सेवार्त संहनन कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संहनन की प्राप्ति होती है उस कर्म का नाम भी सेवार्त संहनन है।

सेवार्त का दूसरा नाम छेदवृत्त भी है। पूर्वोक्त छह संहनन, औदारिक शरीर में ही होते हैं, अन्य शरीरों में नहीं।

‘संस्थान नामकर्म के छह भेद और वर्ण नामकर्म के पाँच भेद’

समचउरं सं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं ।
संठाणां वन्ना किपहनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

(समचउरंसं) समचतुरस्र, (निग्गोह) न्यग्रोह) न्यग्रोध, (साइ) सादि, (खुज्जाइ) कुब्ज (वामणं) वामन और (हुण्डं) हुण्ड, ये संठाणा) संस्थान हैं (किणह) कृष्ण, (नील) नील, (लोहिय) लोहित-लाल, (हलिद्द) हारिद्र-पीला, और (सिया) सित-श्वेत, ये (वन्ना) वर्ण हैं ॥४०॥

भावार्थ—शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से संस्थान की प्राप्ति होती है उस कर्म को ‘संस्थान नामकर्म’ कहते हैं; इसके छह भेद हैं—

१. **समचतुरस्रसंस्थान नाम**—सम का अर्थ है समान, चतुः का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण—अर्थात् पलथी मार कर बैठने से जिस शरीर के चार कोण समान हों—अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, दक्षिण स्कन्ध और वाम जानु का अन्तर तथा वाम स्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर समान हो तो समचतुरस्रसंस्थान समझना चाहिये, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव शुभ हों उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उसे समचतुरस्र संस्थान नामकर्म कहते हैं।

२. **न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नाम**—बड़ के वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं, उसके समान, जिस शरीर में, नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण हों किन्तु नाभि से नीचे के अवयव हीन हों तो न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान समझना चाहिये। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उस कर्म का नाम न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान नामकर्म है।

३. **सादिसंस्थान नाम**—जिस शरीर में नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण और नाभि से ऊपर के अवयव हीन होते हैं उसे सादि संस्थान कहते हैं जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे सादिसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

४. **कुब्जसंस्थान नाम**—जिस शरीर के हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हों, उसे कुब्जसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उसे कुब्जसंस्थान नाम-कर्म कहते हैं। लोक में कुब्ज को कुबड़ा कहते हैं।

५. **वामनसंस्थान नाम**—जिस शरीर में हाथ, पैर आदि अवयव हीन-छोटे हों और छाती पेट आदि पूर्ण हों, उसे वामन संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे वामनसंस्थान नामकर्म कहते हैं। लोक में वामन को बौना कहते हैं।

६. **हुण्ड संस्थान नाम**—जिसके समस्त अवयव बेदब हों—प्रमाण-शून्य हों, उसे हुण्ड संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे हुण्ड संस्थान नाम-कर्म कहते हैं।

शरीर के रङ्ग को वर्ण कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीरों में अलग-अलग रङ्ग होते हैं उसे 'वर्ण नाम-कर्म' कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं।

१. **कृष्णवर्ण नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला हो, वह कृष्णवर्ण नामकर्म है।

२. **नीलवर्ण नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पंख जैसा हरा हो, वह नीलवर्ण नामकर्म कहलाता है।

३. **लोहितवर्ण नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हिंगुल या सिंदुर जैसा लाल हो, वह लोहितवर्ण नामकर्म है।

४. **हारिद्रवर्ण नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी जैसा पीला हो, वह हारिद्रवर्ण नामकर्म है।

५. **सितवर्ण नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शङ्खु जैसा सफेद हो, वह सितवर्ण नामकर्म कहलाता है।

'ग्रन्थ नामकर्म के दो भेद, रस नामकर्म के पाँच भेद और स्पर्श नामकर्म के आठ भेद कहते हैं'

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसायअंबिला महुरा ।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्टा ॥४१॥

(सुरहि) सुरभि और (दुरही) दुरभि दो प्रकार का गन्ध है। (तित्त) तिक्त, (कडु) कटु, (कसाय) कषाय, (अंबिला) आम्ल और (महुरा) मधुर, ये (रसा पण) पाँच रस हैं। (गुरु लहु मिउ खर सी उण्ह सिणिद्ध रुक्खऽट्टा) गुरु, लघु, मृदु, खर, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष ये आठ (फासा) स्पर्श हैं ॥४१॥

भावार्थ—गन्ध नामकर्म के दो भेद हैं— सुरभिगन्ध नाम और दुरभिगन्ध नाम।

१. जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्धि होती है, उसे 'सुरभिगन्ध नामकर्म' कहते हैं। तीर्थङ्कर आदि के शरीर सुगन्धित होते हैं।

२. जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की लहसुन या सड़े पदार्थों जैसी गन्ध हो, उसे 'दुरभिगन्ध नामकर्म' कहते हैं।

'रस नामकर्म के पाँच भेद'

तिक्त नाम, कटु नाम, कषाय नाम, आम्ल नाम और मधुर नाम।

१. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस नीम्ब या चिरायते जैसा कड़वा हो, वह 'तिक्तरस नामकर्म' है।
२. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोंठ या काली मिर्च जैसा चरपरा हो, वह 'कटुरस नामकर्म' है।
३. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस आँवला या बहेड़ा जैसा कसैला हो, वह 'कषायरस नामकर्म' है।
४. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस नीबू या इमली जैसा खट्टा हो वह 'आम्लरस नामकर्म' है।
५. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, ईख जैसा मीठा हो, वह 'मधुररस नामकर्म' है।

'स्पर्श नामकर्म के आठ भेद'।

गुरु नाम, लघु नाम, मृदु नाम, खर नाम, शीत नाम, उष्ण नाम, स्निग्ध नाम और रुक्ष नाम।

१. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो वह 'गुरु नामकर्म' है।
२. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई (अर्क-तूल) जैसा हलका हो वह 'लघु नामकर्म' है।
३. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल-मुलायम हो उसे 'मृदुस्पर्श नामकर्म' कहते हैं।
४. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ जैसा कर्कश-खुरदरा हो, उसे 'कर्कश नामकर्म कहते हैं'।
५. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कमल-दण्ड या बर्फ जैसा ठंडा हो, वह 'शीतस्पर्श नामकर्म' है।
६. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अग्नि के समान उष्ण हो वह 'उष्णस्पर्श नामकर्म' है।
७. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो वह 'स्निग्धस्पर्श नामकर्म' है।
८. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर, राख के समान रुक्ष-रूखा हो वह 'रुक्षस्पर्शनामकर्म' है।

'वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की बीस प्रकृतियों में कौन प्रकृतियाँ शुभ और कौन अशुभ हैं, वह कहते हैं।'

**नीलकसिणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥**

(नील) नीलनाम, (कसिणं) कृष्णनाम, (दुगंधं) दुर्गन्धनाम, (तित्तं) तित्तनाम, (कडुयं) कटुनाम, (गुरुं) गुरुनाम, (खरं) खरनाम, (रुक्खं) रुक्षनाम, (च) और (सीयं) शीतनाम यह (असुह नवंग) अशुभ-नवक है—अर्थात् नौ प्रकृतियाँ अशुभ हैं और (सेसं) शेष (इक्कारसगं) ग्यारह प्रकृतियाँ (सुभं) शुभ हैं ॥४२॥

भावार्थ—वर्ण नाम, गन्ध नाम, रस नाम और स्पर्श नाम इन चारों की उत्तर-प्रकृतियाँ बीस हैं। बीस प्रकृतियों में नौ प्रकृतियाँ अशुभ और ग्यारह शुभ हैं।

१. वर्ण नामकर्म की दो उत्तर प्रकृतियाँ अशुभ हैं—१. नीलवर्ण नाम और २. कृष्णवर्ण नाम।

तीन प्रकृतियाँ शुभ हैं—१. सितवर्ण नाम, २. पीतवर्ण नाम और ३. लोहितवर्ण नाम।

२. गन्धनाम की एक प्रकृति अशुभ है—१. दुरभिगन्ध नाम।

एक प्रकृति शुभ है—१. सुरभिगन्ध नाम।

३. रस नामकर्म की दो उत्तर प्रकृतियाँ अशुभ हैं—

१. तिक्तरस नाम और २. कटुरस नाम।

तीन प्रकृतियाँ शुभ हैं—१. कषायरस नाम, २. आम्लरस नाम और ३. मधुररस नाम।

४. स्पर्श नामकर्म की चार उत्तर-प्रकृतियाँ अशुभ हैं—

१. गुरुस्पर्शनाम, २. खरस्पर्शनाम, ३. रुक्षस्पर्शनाम और ४. शीतस्पर्शनाम।

चार उत्तर-प्रकृतियाँ शुभ हैं—१. लघुस्पर्श नाम, २. मृदुस्पर्श नाम, ३. स्निग्धस्पर्श नाम और ४. उष्णस्पर्श नाम।

‘आनुपूर्वी नामकर्म के चार भेद, नरक-द्विक आदि संज्ञाएं तथा विहायोगति नामकर्म’।

**चउह गइव्वणुपुव्वी गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई ॥४३॥**

(चउह गइव्वणुपुव्वी) चतुर्विध गतिनामकर्म के समान आनुपूर्वी नामकर्म भी चार प्रकार का है, (गइपुव्विदुगं) गति और आनुपूर्वी ये दो, गति-द्विक कहलाते हैं (नियाउजुयं) अपनी-अपनी आयु से युक्त द्विक को (तिगं) त्रिक—अर्थात् गति-त्रिक कहते हैं (वक्के) वक्र गति में—विग्रह गति में (पुव्वीउदओ) आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है। (विहगगई) विहायोगति नामकर्म दो प्रकार का है—(सुह असुह) शुभ और अशुभ इसमें दृष्टान्त है (वसुट्ट) बृष—बैल और उट्ट—ऊँट ॥४३॥

भावार्थ—जिस प्रकार गतिनामकर्म के चार भेद हैं, उसी प्रकार आनुपूर्वी नामकर्म के भी चार भेद हैं—१. देवानुपूर्वी २. मनुष्यानुपूर्वी, ३. तिर्यचानुपूर्वी और ४. नरकानुपूर्वी।

जीव की स्वाभाविक गति, श्रेणी के अनुसार होती है। आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

एक शरीर को छोड़ दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव, समश्रेणी से अपने उत्पत्ति स्थान के प्रति जाने लगता है तब आनुपूर्वी नामकर्म उसे उसके विश्रेणी पतित उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचा देता है। जीव का उत्पत्ति स्थान यदि समश्रेणी में हो, तो आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वक्र गति में आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है, ऋजुगति में नहीं।

अब कुछ ऐसे सङ्केत दिखलाते हैं जिनका कि आगे उपयोग है।

जहाँ गति-द्विक ऐसा सङ्केत हो वहाँ गति और आनुपूर्वी ये दो प्रकृतियाँ लेनी चाहिये। जहाँ गति-त्रिक आवे वहाँ गति, आनुपूर्वी और आयु ये तीन प्रकृतियाँ ली जाती हैं। ये सामान्य संज्ञाएँ कहीं गईं, विशेष संज्ञाओं को इस प्रकार समझना चाहिये—

नरक-द्विक—अर्थात् १ नरकगति, २ नरकानुपूर्वी और ३ नरकायु।

तिर्यञ्च-द्विक—अर्थात् १ तिर्यचगति और २ तिर्यचानुपूर्वी।

तिर्यञ्च-त्रिक—अर्थात् १ तिर्यचगति, २ तिर्यचानुपूर्वी और ३ तिर्यचायु।

इसी प्रकार सुर (देव)-द्विक, सुर-त्रिक; मनुष्य-द्विक, मनुष्य-त्रिक को भी समझना चाहिये।

पिण्ड-प्रकृतियों में चौदहवीं प्रकृति, विहायोगतिनाम है, उसकी दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं— १ शुभविहायोगति और २ अशुभविहायोगतिनाम।

१. जिस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ हो, वह 'शुभविहायोगति' प्रकृति है, जैसे कि हाथी, बैल, हंस आदि की चाल शुभ है।

२. जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अशुभ हो वह 'अशुभ विहायोगति' प्रकृति है, जैसे कि ऊँट, गधा, टीढ़ी इत्यादि की चाल अशुभ है।

'पिण्ड-प्रकृतियों का वर्णन हो चुका अब प्रत्येक-प्रकृतियों का स्वरूप कहेंगे, इस गाथा में पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का स्वरूप कहते हैं।'

परघाउदया पाणी परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो।

ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥४४॥

(परघाउदया) पराघात नाम-कर्म के उदय से (पाणी) प्राणी (परेसि बलिणंपि) अन्य बलवानों को भी (दुद्धरिसो) दुर्धर्ष—अजेय (होइ) होता है।

(ऊसासनामवसा) उच्छ्वास नामकर्म के उदय से (ऊससणलद्धिजुतो) उच्छ्वास-लब्धि से युक्त (हवेइ) होता है ॥४४॥

भावार्थ—इस गाथा से लेकर ५१वीं गाथा तक प्रत्येक प्रकृतियों के स्वरूप का वर्णन करेंगे। इस गाथा में पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

१. जिस कर्म के उदय से जीव, कमजोरों का तो कहना ही क्या है, बड़े-बड़े बलवानों की दृष्टि में भी अजेय समझा जाये उसे 'पराघात नामकर्म' कहते हैं। मतलब यह है कि, जिस जीव को इस कर्म का उदय रहता है, वह इतना प्रबल मालूम देता है कि बड़े-बड़े बली भी उसका लोहा मानते हैं, राजाओं की सभा में उसके दर्शन मात्र से अथवा वाक्कौशल से बलवान विरोधियों के छक्के छूट जाते हैं।

२. जिस कर्म के उदय से जीव, श्वासोच्छ्वास लब्धि से युक्त होता है उसे 'उच्छ्वास नामकर्म' कहते हैं। शरीर से बाहर की हवा को नासिका द्वारा अन्दर खींचना 'श्वास' कहलाता है और शरीर के अन्दर की हवा को नासिका-द्वारा बाहर छोड़ना 'उच्छ्वास'—इन दोनों कामों को करने की शक्ति उच्छ्वास नामकर्म से होती है।

'आतप नामकर्म'

**रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं लेहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥**

(आयवाउ) आतप नामकर्म के उदय से (जियंगं) जीवों का अङ्ग (तावजुयं) ताप-युक्त होता है और इस कर्म का उदय (रवि बिंबेउ) सूर्य-मण्डल के पार्थिव शरीरों में ही होता है। (नउजलणे) किन्तु अग्निकाय जीवों के शरीर में नहीं होता, (जमुसिणफासस्स तहिं) क्योंकि अग्निकाय के शरीर में उष्णस्पर्श नाम का और (लेहियवन्नस्स) लोहितवर्ण नाम का (उदउत्ति) उदय रहता है ॥४५॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर, स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है, उसे 'आतप नामकर्म' कहते हैं। सूर्य-मण्डल के बादरएकेन्द्रियपृथ्वीकाय जीवों का शरीर ठण्डा है; परन्तु आतप नामकर्म के उदय से वह (शरीर) उष्ण प्रकाश करता है। सूर्य-मण्डल के एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर अन्य जीवों को आतप नामकर्म का उदय नहीं होता, यद्यपि अग्निकाय के जीवों का शरीर भी उष्ण प्रकाश करता है; परन्तु वह आतप नामकर्म के

उदय से नहीं; किन्तु उष्णस्पर्श नामकर्म के उदय से शरीर उष्ण होता है और लोहितवर्ण नामकर्म के उदय से प्रकाश करता है ॥४५॥

'उद्योत नामकर्म का स्वरूप'

अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।

जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइव्व ॥४६॥

(इह) यहाँ (उज्जोया) उद्योत नामकर्म के उदय से (जियंगं) जीवों का शरीर (अणुसिणपयासरूवं) अनुष्ण प्रकाश रूप (उज्जोयए) उद्योत करता है, इसमें दृष्टान्त (जइदेवुत्तरविक्किय जोइसखज्जोयमाइव्व) साधु और देवों के उत्तर क्रिय-शरीर की तरह, ज्योतिष्क—चन्द्र, नक्षत्र, ताराओं के मण्डल की तरह और खद्योत-जुगनू की तरह ॥४६॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्णस्पर्श रहित-अर्थात् शीत प्रकाश फैलाता है, उसे 'उद्योत नामकर्म' कहते हैं।

लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं तब उनके शरीर में से शीतल प्रकाश निकलता है सो इसे उद्योत नामकर्म के उदय से समझना चाहिये। इसी प्रकार देव जब अपने मूल शरीर की अपेक्षा उत्तर-वैक्रिय शरीर धारण करते हैं तब उस शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है वह उद्योत नामकर्म के उदय से चन्द्र-मण्डल, नक्षत्र-मण्डल और तारा-मण्डल के पृथ्वीकाय जीवों के शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है वह उद्योत नामकर्म के उदय से। इसी प्रकार जुगनू, रत्न तथा प्रकाश वाली औषधियों को भी उद्योत नामकर्म का उदय समझना चाहिये।

'अगुरुलघु नाम-कर्म का और तीर्थकर नाम-कर्म का स्वरूप।'

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।

तित्थेण तिहुयणरस वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

(अगुरुलहुउदया) अगुरुलघु नाम-कर्म के उदय से (जीवस्स) जीव का (अंग) शरीर (न गुरु न लहुयं) न तो भारी और न हल्का (जायइ) होता है। तित्थेण) तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय से (तिहुयणरस वि पुज्जो) त्रिभुवन का भी पूज्य होता है; (से उदओ) उस तीर्थकर नामकर्म का उदय, (केवलिणो) जिसे कि केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी को होता है ॥४७॥

भावार्थ

अगुरुलघु नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न भारी होता है और न हल्का ही होता है, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों का शरीर भारी नहीं होता कि उसे सम्भालना कठिन हो जाय अथवा इतना हलका भी नहीं होता कि हवा में उड़ने से नहीं बचाया जा सके, किन्तु अगुरुलघु-परिमाण वाला होता है इसलिए अगुरुलघु नामकर्म के उदय से समझना चाहिये।

तीर्थकर नाम—जिस कर्म के उदय से तीर्थकर पद की प्राप्ति होती है उसे 'तीर्थकर नामकर्म', कहते हैं। इस कर्म का उदय उसी जीव को होता है जिसे केवलज्ञान (अनन्तज्ञान, पूर्ण ज्ञान) उत्पन्न हुआ है। इस कर्म के प्रभाव से वह अपरिमित ऐश्वर्य का भोक्ता होता है। संसार को दिखलाता है जिस पर खुद चलकर उसने कृत-कृत्य-दशा प्राप्त कर ली है इसलिये संसार के बड़े से बड़े शक्तिशाली देवेन्द्र और नरेन्द्र तक उसकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते हैं।

'निर्माण नामकर्म और उपघात नामकर्म का स्वरूप'

**अङ्गोवंगनियमणं निर्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४८॥**

(निर्माणं) निर्माण नामकर्म (अङ्गोवंगनियमण) अङ्गों और उपाङ्गों का नियमन—अर्थात् यथा योग्य प्रदेशों में व्यवस्थापन कुणइ) करता है, इसलिये यह (सुत्तहारसमं) सूत्रधार के सदृश है। (उवघाया) उपघात नामकर्म के उदय से (सतणुवयवलंबिगाईहिं) अपने शरीर के अवयवभूत लंबिका आदि से जीव (उवहम्मइ) उपहत होता है ॥४८॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से, अङ्ग और उपाङ्ग, शरीर में अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं वह 'निर्माण नामकर्म' है। इसे सूत्रधार की उपमा दी है—अर्थात् जैसे, कारीगर हाथ पैर आदि अवयवों को मूर्ति में यथोचित स्थान पर बना देता है उसी प्रकार निर्माण नामकर्म का काम अवयवों के उचित स्थान में व्यवस्थापित करना है। इस कर्म के अभाव में अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से बने हुये अङ्ग-उपाङ्गों के स्थान का नियम नहीं होता—अर्थात् हाथों की जगह हाथ, पैरों की जगह पैर, इस प्रकार स्थान का नियम नहीं रहता।

जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से—प्रति जिह्वा (पडजीभ), चौरदन्त (ओठ से बाहर निकले हुए दाँत), रसौली, छठी उंगली आदि से—क्लेश पाता है। वह 'उपघात नामकर्म' है।

‘आठ प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप कहा गया अब त्रस-दशक का स्वरूप कहेंगे, इस गाथा में त्रसनाम, बादर नाम और पर्याप्त नामकर्म का स्वरूप कहेंगे।’

**बित्तिचउपण्णिदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लब्धिकरणोहिं ॥४९॥**

(तसा) त्रस नामकर्म के उदय से जीव (बित्तिचउपण्णिदिय) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते हैं। (बायरओ) बादर नामकर्म के उदय से (जिया) जीव (बायरा) बादर—अर्थात् (थूला) स्थूल होते हैं। (पज्जत्ता) पर्याप्त नामकर्म के उदय से, जीव (नियनियपज्जत्तिजुया) अपनी-अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं और वे पर्याप्त जीव (लब्धिकरणोहिं) लब्धि और करण को लेकर दो प्रकार के हैं ॥४९॥

भावार्थ—जो जीव सर्दी-गरमी से अपना बचाव करने के लिये एक स्थान को छोड़ दूसरे स्थान में जाते हैं वे त्रस कहलाते हैं; ऐसे जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं।

त्रसनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति हो, वह त्रस नामकर्म है।

बादरनाम—जिस कर्म के उदय से जीव बादर—अर्थात् स्थूल होते हैं, वह बादरनाम-कर्म है।

आँख जिसे देख सके वह बादर, ऐसा बादर का अर्थ नहीं है; क्योंकि एक-एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आँख से नहीं देखा जा सकता। बादर नामकर्म, जीव विपाकिनी प्रकृति जीव में बादर-परिणाम को उत्पन्न करती है; यह प्रकृति जीव विपाकिनी होकर भी शरीर के पुद्गलों में कुछ अभिव्यक्ति प्रकट करती है, जिससे बादर पृथ्वीकाय आदि का समुदाय, दृष्टिगोचर होता है। जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं है ऐसे सूक्ष्म जीवों के समुदाय दृष्टिगोचर नहीं होते। यहाँ यह शङ्का होती है कि बादर नामकर्म, जीवविपाकी प्रकृति होने के कारण, शरीर के पुद्गलों में अभिव्यक्ति-रूप अपने प्रभाव को कैसे प्रकट कर सकेगा? इसका समाधान यह है कि जीवविपाकी प्रकृति का शरीर में प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि क्रोध, जीवविपाकी प्रकृति है तथापि उससे भौहों का टेढ़ा होना, आँखों का लाल होना, होठों का फड़कना इत्यादि परिणाम स्पष्ट देखा जाता है। सारांश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिये बादर नामकर्म, पृथ्वीकाय आदि जीव में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है और

बादर पृथ्वीकाय आदि जीवों के शरीर-समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट है जिससे कि वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

पर्याप्तनाम-कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, वह पर्याप्त नामकर्म है। जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का काम होता है। अर्थात् पुद्गलों के उपचय से जीव की पुद्गलों के ग्रहण करने तथा परिणामाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। विषय-भेद से पर्याप्ति के छह भेद हैं—आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, उच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति।

मृत्यु के बाद जीव, उत्पत्ति-स्थान में पहुँचकर कार्मण-शरीर के द्वारा जिन पुद्गलों को प्रथम समय में ग्रहण करता है उनके छह विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ छहों पर्याप्तियों का बनना शुरू हो जाता है—अर्थात् प्रथम समय में ग्रहण किये हुये पुद्गलों के छह भागों में से एक-एक भाग लेकर हर एक पर्याप्ति का बनना शुरू हो जाता है, परन्तु उसकी पूर्णता क्रमशः होती है। जो औदारिक-शरीरधारी जीव हैं, उनकी आहार-पर्याप्ति एक समय में पूर्ण होती है, और अन्य पाँच पर्याप्तियाँ अन्तमुहूर्त में क्रमशः पूर्ण होती हैं। वैक्रिय-शरीरधारी जीवों की शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण होने में अन्तमुहूर्त समय लगता है और अन्य पाँच पर्याप्तियों के पूर्ण होने में एक-एक समय लगता है।

१. जिस शक्ति के द्वारा जीव बाह्य आहार को ग्रहण कर उसे, खल और रस के रूप में बदल देता है वह 'आहार-पर्याप्ति' कहलाता है।

२. जिस शक्ति के द्वारा जीव, रस के रूप में बदल दिये हुये आहार को सात धातुओं के रूप में बदल देता है उसे 'शरीर-पर्याप्ति' कहते हैं।

सात धातुओं के नाम—रस, खून, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा (हड्डी के अन्दर का पदार्थ) और वीर्य। यहाँ यह सन्देह होता है कि आहार-पर्याप्ति से आहार का रस बन चुका है, फिर शरीर-पर्याप्ति के द्वारा भी रस बनाने की शुरुआत कैसे कही गई? इसका समाधान यह है कि आहार-पर्याप्ति के द्वारा आहार का जो रस बनता है उसकी अपेक्षा शरीर-पर्याप्ति के द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है। और, यही रस, शरीर के बनने में उपयोगी है।

३. जिस शक्ति के द्वारा जीव, धातुओं के रूप में बदले हुये आहार को इन्द्रियों के रूप में बदल देता है उसे 'इन्द्रिय-पर्याप्ति' कहते हैं।

४. जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास-योग्य पुद्गलों को (श्वासोच्छ्वास-प्रायोग्य वर्णना-दलिकों को) ग्रहण कर, उनको श्वासोच्छ्वास के रूप में बदलकर तथा अवलम्बन कर छोड़ देता है, उसे 'उच्छ्वास-पर्याप्ति' कहते हैं।

जो पुद्गलों, आहार-शरीर-इन्द्रियों के बनने में उपयोगी हैं, उनकी अपेक्षा, श्वासोच्छ्वास के पुद्गल भिन्न प्रकार के हैं। उच्छ्वास-पर्याप्ति का जो स्वरूप कहा गया उसमें पुद्गलों का ग्रहण करना, परिणामाना तथा अवलम्बन करके छोड़ना ऐसा कहा गया है। अवलम्बन कर छोड़ना, इसका तात्पर्य यह है कि छोड़ने में भी शक्ति की जरूरत होती है इसलिये, पुद्गलों के अवलम्बन करने से एक प्रकार को शक्ति पैदा होती है जिससे पुद्गलों को छोड़ने में सहारा मिलता है। इसमें यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे, गेंद को फेंकने के समय, जिस तरह हम उसे अवलम्बन करते हैं; अथवा बिल्ली, ऊपर कूदने के समय, अपने शरीर के अवयवों को सङ्कुचित कर, जैसे उसका सहारा लेती है उसी प्रकार जीव, श्वासोच्छ्वास के पुद्गलों को छोड़ने के समय उसका सहारा लेता है। इसी प्रकार आगे—भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति में भी समझना चाहिये।

५. जिस शक्ति के द्वारा जीव, भाषा-योग्य पुद्गलों को लेकर उनको भाषा के रूप में बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड़ता है उसे 'भाषा-पर्याप्ति' कहते हैं।

६. जिस शक्ति के द्वारा जीव, मनो-योग्य पुद्गलों को लेकर उनको मन के रूप में बदल देता है तथा अवलम्बन कर छोड़ता है, वह 'मनः-पर्याप्ति' कहलाता है।

इन छह पर्याप्तियों में से प्रथम की चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीव को, पाँच पर्याप्तियाँ विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय को और छह पर्याप्तियाँ संज्ञिपञ्चेन्द्रिय हो होती हैं।

पर्याप्त जीवों के दो भेद हैं—१. लब्धि-पर्याप्त और २. करण-पर्याप्त।

१. जो जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नहीं, वे 'लब्धि-पर्याप्त' कहलाते हैं।

२. करण का अर्थ है इन्द्रिय, जिन जीवों ने इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण कर ली है—अर्थात् आहार शरीर और इन्द्रिय तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं, वे 'करण-पर्याप्ति' हैं, क्योंकि बिना आहार पर्याप्ति और शरीर-पर्याप्ति पूर्ण किये,

इन्द्रिय-पर्याप्ति, पूर्ण नहीं हो सकती इसलिये तीनों पर्याप्तियाँ ली गई।

अथवा—अपनी योग्य-पर्याप्तियाँ; जिन जीवों ने पूर्ण की हैं, वे जीव, करण-पर्याप्ति कहलाते हैं। इस तरह करण-पर्याप्त के दो अर्थ हैं।

‘प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग नाम के स्वरूप’

**पत्तेय तणू पत्तेउदयेणं दंतअट्टिमाइ थिरं ।
नाभुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥**

(पत्तेउदयेणं) प्रत्येक नामकर्म के उदय से जीवों को (पत्तेयतणू) पृथक्-पृथक् शरीर होते हैं। जिस कर्म के उदय से (दन्त अट्टिमाइ) दाँत, हड्डी आदि स्थिर होते हैं, उसे (थिर) स्थिर नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से (नाभुवरि सिराइ) नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, उसे (सुहं) शुभ नाम कर्म कहते हैं। (सुभगाओ) सुभगनाम कर्म के उदय से, जीव (सव्वजणइट्ठो) सब लोगों को प्रिय लगता है ॥५०॥

भावार्थ

प्रत्येक नाम—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

स्थिरनाम—जिस कर्म के उदय से दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर—अर्थात् निश्चल होते हैं, उसे स्थिरनाम-कर्म कहते हैं।

शुभनाम—जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, वह शुभनाम कर्म, हाथ, सिर आदि शरीर के अवयवों से स्पर्श होने पर किसी को अप्रीति नहीं होती जैसे कि पैर के स्पर्श से होती है, यही नाभि के ऊपर के अवयवों में शुभत्व है।

सुभगनाम—जिस कर्म के उदय से, किसी प्रकार का उपकार किये बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के बिना भी जीव सब का प्रीति-पात्र होता है, उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनाम और स्थावर-दशक का स्वरूप

**सुसरा महरसुहइण्णो आइज्जा सव्वलोगिज्झवओ ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५१॥**

(सुसरा) सुस्वरनाम के उदय से (महुरसुहृष्णी) मधुर और सुखद ध्वनि होती है। (आइज्जा) आदेयनाम के उदय से (सव्वलोगिज्जवओ) सब लोग वचन का आदर करते हैं। (जसओ) यशःकीर्ति, नाम के उदय से (जसकिती) यशःकीर्ति होती है, (थावर-दसगं) स्थावर-दशक, (इओ) यह त्रस दशक से (विवज्जत्थं) विपरीत अर्थ वाला है ॥५१॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर (आवाज) मधुर और प्रीतिकर हो, वह 'सु स्वर नामकर्म' है। इसमें दृष्टान्त, कोयल-मोर-आदि जीवों का स्वर है।

जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो, वह 'आदेय नामकर्म' है।

जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति फैले, वह 'यशःकीर्ति नामकर्म' है।

किसी एक दिशा में नाम (प्रशंसा) हो, तो 'कीर्ति' और सब दिशाओं में नाम हो, तो 'यश' कहलाता है।

अथवा—दान, तप आदि से जो नाम होता है, वह कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो नाम होता है, वह यश कहलाता है।

त्रस-दशक का त्रस नाम आदि दस कर्मों का—जो स्वरूप कहा गया है, उससे विपरीत, स्थावर-दशक का स्वरूप है। इसी को नीचे लिखा जाता है—

१. स्थावर नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे—सर्दी-गर्मी से बचने की कोशिश न कर सके, वह स्थावर नामकर्म है।

पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजःकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय, ये स्थावर जीव हैं।

यद्यपि तेजःकाय और वायुकाय के जीवों में स्वाभाविक गति है तथापि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी-गरमी से बचने की विशिष्ट-गति उनमें नहीं है।

२. सूक्ष्मनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर—जो किसी को रोक न सके और न खुद ही किसी से रुके, वह सूक्ष्म नामकर्म है।

इस नामकर्म वाले जीव भी पाँच स्थावर ही होते हैं। वे सब लोकाकाश में व्याप्त हैं। आँख से नहीं देखे जा सकते।

३. **अपर्याप्त नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव, स्वयोग्य-पर्याप्ति पूर्ण न करे, वह अपर्याप्त नामकर्म है। अपर्याप्त जीवों के दो भेद हैं—लब्ध्यपर्याप्त और करणापर्याप्त।

जो जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे लब्ध्यपर्याप्त कहलाते हैं। आहार, शरीर तथा इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को जिन्होंने अब तक पूर्ण नहीं किया किन्तु आगे पूर्ण करने वाले हों वे करणापर्याप्त कहलाते हैं। इस विषय में आगम इस प्रकार कहता है—

लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार-शरीर-इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं। क्योंकि आगामी भव की आयु बाँधकर ही सब प्राणी मरा करते हैं और आयु का बन्ध उन्हीं जीवों को होता है जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं।

४. **साधारण नाम**—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो—अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी बनें वह साधारण नाम कर्म है।

५. **अस्थिर नाम**—जिस कर्म के उदय से कान, भौह, जीभ आदि अवयव अस्थिर—अर्थात् चपल होते हैं, वह अस्थिर नामकर्म है।

६. **अशुभ नाम**—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव—पैर आदि अशुभ होते हैं वह अशुभ नामकर्म है। पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यह अशुभत्व है।

दुर्भग नाम—जिस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी अप्रिय लगे वह दुर्भग नामकर्म है।

देवदत्त निरन्तर दूसरों की भलाई किया करता है, तो भी उसे कोई नहीं चाहता, ऐसी दशा में समझना चाहिये कि देवदत्त को दुर्भग नामकर्म का उदय है।

८. **दुःस्वर नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश—सुनने में अप्रिय लगे, वह दुःस्वर नामकर्म है।

९. **अनादेय नाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन, युक्त होते हुए भी अनादरणीय समझा जाता है, वह अनादेय नामकर्म है।

१०. **अयशःकीर्ति नाम**—जिस कर्म के उदय से दुनिया में अपयश और अपकीर्ति फैले, वह अयशःकीर्ति नाम है।

स्थावर-दशक समाप्त हुआ। नामकर्म के ४२, ९३, १०३ और ६७ भेद कह चुके।

‘गोत्रकर्म के दो भेद और अन्तराय के पाँच भेद’

**गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाभे भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥५२॥**

(गोयं) गोत्रकर्म (दुहुच्चनीयं) दो प्रकार का है—उच्च और नीच; यह कर्म (कुलाल इव) कुम्भार के सदृश है जो कि (सुघडभुंभलाईयं) सुघट और मद्यघट आदि को बनाता है। (दाणे) दान, (लाभे) लाभ, (भोगुवभोगेसु) भोग, उपभोग, (य) और (वीरिए) वीर्य, इनमें विघ्न करने के कारण, (विग्घ) अन्तरायकर्म पाँच प्रकार का है ॥५२॥

भावार्थ—गोत्रकर्म सातवाँ है, उसके दो भेद हैं—उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र, यह कर्म कुम्भार के सदृश है। जैसे वह अनेक प्रकार के घड़े बनाता है, जिनमें से कुछ ऐसे होते हैं जिनको कलश बनाकर लोग अक्षत, चन्दन आदि से पूजते हैं; और कुछ घड़े ऐसे होते हैं, जो मद्य रखने के काम में आते हैं अतएव वे निन्द्य समझे जाते हैं, इसी प्रकार—

१. जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है वह ‘उच्चैर्गोत्र’ है।

२. जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है वह ‘नीचैर्गोत्र’ है।

धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध में जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वे हैं उच्च-कुल, जैसे—इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, चन्द्रवंश आदि। अधर्म और अनीति के पालन से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह नीच-कुल, जैसे भिक्षुक कुल, बधक कुल (कसाइयों का) मद्यविक्रेतृ कुल (दारू बेचने वालों का) चौर कुल इत्यादि।

अन्तराय-कर्म, जिसका दूसरा नाम ‘विघ्न-कर्म’ है उसके पाँच भेद हैं—

१. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय, ४. उपभोगान्तराय और ५. वीर्यान्तराय।

१. दान की चीजें मौजूद हों, गुणवान् पात्र आया हो, दान का फल जानता हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता, वह ‘दानान्तरायकर्म’ कहलाता है।

२. दाता उदार हो, दान की चीजें मौजूद हों, याचना में कुशलता हो तो भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो, वह 'लाभान्तरायकर्म' है।

यह न समझना चाहिये कि लाभान्तराय का उदय याचकों को ही होता है। यहाँ तो दृष्टान्त मात्र दिया गया है। योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से नहीं होने पाती वह 'लाभान्तराय' ऐसा कर्म का अर्थ है।

३. भोग के साधन मौजूद हों, वैराग्य न हो, तो भी, जिस कर्म के उदय से जीव, भोग्य चीजों को न भोग सके, वह 'भोगान्तरायकर्म' है।

४. उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति-रहित हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न ले सके वह 'उपभोगान्तरायकर्म' है।

जो पदार्थ एक बार भोगे जायें, उन्हें भोग कहते हैं, जैसे कि फल, फूल, जल, भोजन आदि।

जो पदार्थ बार-बार भोगे जायें उनको उपभोग कहते हैं, जैसे कि—मकान, वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि।

५. वीर्य का अर्थ है— सामर्थ्य। बलवान् हो, रोग रहित हो, युवा हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव एक तृण को भी टेढ़ा न कर सके, उसे 'वीर्यान्तरायकर्म' कहते हैं।

वीर्यान्तराय के अवान्तर भेद तीन हैं—१. बालवीर्यान्तराय, २. पण्डितवीर्यान्तराय और ३. बालपण्डितवीर्यान्तराय।

१. सांसारिक कार्यों को करने में समर्थ हो तो भी जीव, उनको जिसके उदय से न कर सके, वह 'बालवीर्यान्तरायकर्म'।

२. सम्यग्दृष्टि साधु, मोक्ष की चाह रखता हुआ भी, तदर्थ क्रियाओं को, जिसके उदय से न कर सके, वह 'पण्डितवीर्यान्तरायकर्म' है।

३. देश-विरति को चाहता हुआ भी जीव, उसका पालन, जिसके उदय से न कर सके, वह 'बालपण्डितवीर्यान्तरायकर्म' है।

'अन्तरायकर्म भण्डारी के सदृश है'

सिरिहरियसमं एयं जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवोवि ॥५३॥

(एयं) यह अन्तरायकर्म (सिरिहरियसमं) श्रीगृहीभण्डारी के समान है, (जह) जैसे (तेण) उसके भण्डारी के (पडिकूलेण) प्रतिकूल होने से (रायाई) राजा आदि (दाणाईयं) दान आदि (न कुणइ) नहीं करते—नहीं कर सकते। (एवं) इस प्रकार (विग्घेण) विघ्नकर्म के कारण (जीवो वि) जीव भी दान आदि नहीं कर सकता ॥५३॥

भावार्थ—देवदत्त याचक ने राजा साहब के पास आकर भोजन की याचना की। राजा साहब, भण्डारी को भोजन देने की आज्ञा देकर चल दिये। भण्डारी असाधारण है। आँखे लाल कर उसने याचक से कहा—‘चुपचाप चल दो।’ याचक खाली हाथ लौट गया राजा की इच्छा थी, पर भण्डारी ने उसे सफल होने नहीं दिया। इस प्रकार जीव राजा है, दान आदि करने की उसकी इच्छा है पर; अन्तरायकर्म इच्छा को सफल नहीं होने देता।

आठ मूल-प्रकृतियों की तथा एक सौ अट्ठावन उत्तर-प्रकृतियों की सूची

कर्म की आठ मूल-प्रकृतियाँ

१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराया।

ज्ञानावरण की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ

१. मतिज्ञानावरण, २. श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४. मनः पर्यायज्ञानावरण और ५. केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरण की नव उत्तर-प्रकृतियाँ

१. चक्षुर्दर्शनावरण, २. अचक्षुर्दर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण, ५. निद्रा, ६. निद्रा-निद्रा, ७. प्रचला, ८. प्रचला-प्रचला और ९. स्त्यानर्द्धि।

वेदनीय की दो उत्तर-प्रकृतियाँ

१. सातावेदनीय और २. असातावेदनीय।

मोहनीय की अट्ठाईस उत्तर-प्रकृतियाँ

१. सम्यक्त्वमोहनीय, २. मिश्रमोहनीय, ३. मिथ्यात्वमोहनीय, ४. अनन्तानुबन्धिक्रोध, ५. अप्रत्याख्यानक्रोध, ६. प्रत्याख्यानक्रोध,

७. संज्वलनक्रोध, ८. अनन्तानुबन्धिमान, ९. अप्रत्याख्यानमान, १०. प्रत्याख्यानमान, ११. संज्वलनमान, १२. अनन्तानुबन्धिनी माया, १३. अप्रत्याख्यानमाया, १४. प्रत्याख्यानमाया, १५. संज्वलन माया, १६. अनन्तानुबन्धिलोभ, १७. अप्रत्याख्यानलोभ, १८. प्रत्याख्यानलोभ, १९. संज्वलनलोभ, २०. हास्य, २१. रति, २२. अरति, २३. शोक, २४. भय, २५. जुगुप्सा, २६. पुरुषवेद, २७. स्त्रीवेद और २८ नपुंसकवेद।

आयु की चार उत्तर-प्रकृतियाँ

१. देवायु, २. मनुष्यायु, ३. तिर्यञ्चायु और ४. नरकायु।

नामकर्म की एक सौ तीन उत्तर-प्रकृतियाँ

१. नरकगति, २. तिर्यञ्चगति, ३. मनुष्यगति, ४. देवगति, ५. एकेन्द्रियजाति, ६. द्वीन्द्रियजाति, ७. त्रीन्द्रियजाति, ८. चतुरन्द्रिय जाति, ९. पञ्चेन्द्रियजाति, १०. औदारिक शरीरनाम, ११. वैक्रियशरीरनाम, १२. आहारकशरीरनाम, १३. तेजसशरीरनाम, १४. कार्मणशरीरनाम, १५. औदारिक अङ्गोपाङ्ग, १६. वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, १७. आहारकअङ्गोपाङ्ग, १८. औदारिक-औदारिक बन्धन, १९. औदारिक-तैजस बन्धन, २०. औदारिक-कार्मण बन्धन, २१. औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन, २२. वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन, २३. वैक्रिय-तैजस बन्धन, २४. वैक्रिय-कार्मण बन्धन, २५. वैक्रियतैजस-कार्मण बन्धन, २६. आहारक-आहारक बन्धन, २७. आहारक-तैजस बन्धन, २८. आहारक-कार्मण बन्धन, २९. आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन, ३०. तैजस-तैजस बन्धन, ३१. तैजस-कार्मण बन्धन, ३२. कार्मण-कार्मण बन्धन, ३३. औदारिक संघातन, ३४. वैक्रिय संघातन, ३५. आहारक संघातन, ३६. तैजससंघातन, ३७. कार्मणसंघातन, ३८. वज्रऋषभनाराचसंहनन, ३९. ऋषभनाराचसंहनन, ४०. नाराचसंहनन, ४१. अर्द्धनाराचसंहनन, ४२. कीलिकासंहनन, ४३. सेवार्तसंहनन, ४४. समचतुरस्रसंस्थान, ४५. न्यग्रोधसंस्थान, ४६. सादिसंस्थान, ४७. वामनसंस्थान, ४८. कुब्जसंस्थान, ४९. हुण्डसंस्थान, ५०. कृष्णवर्णनाम, ५१. नीलवर्णनाम, ५२. लोहितवर्णनाम, ५३. हारिद्रवर्णनाम, ५४. श्वेतवर्णनाम, ५५. सुरभिगन्ध, ५६. दुरभिगन्ध, ५७. तित्तरस, ५८. कटुरस, ५९. कषायरस, ६०. आम्लरस, ६१. मधुररस, ६२. कर्कशस्पर्श, ६३. मृदुस्पर्श, ६४. गुरुस्पर्श, ६५. लघुस्पर्श,

६६. शीतस्पर्श, ६७. उष्णस्पर्श, ६८. स्निग्धस्पर्श, ६९. रूक्षस्पर्श,
 ७०. नरकानुपूर्वी, ७१. तिर्यचानुपूर्वी, ७२. मनुष्यानुपूर्वी, ७३. देवानुपूर्वी,
 ७४. शुभविहायोगति, ७५. अशुभविहायोगति, ७६. पराघात, ७७. उच्छ्वास,
 ७८. आतप, ७९. उद्योत, ८०. अगुरुलघु, ८१. तीर्थकरनाम, ८२. निर्माण,
 ८३. उपघात, ८४. त्रस, ८५. बादर, ८६. पर्याप्त, ८७. प्रत्येक, ८८. स्थिर,
 ८९. शुभ, ९०. सुभग, ९१. सुस्वर, ९२. आदेय, ९३. यशःकीर्ति,
 ९४. स्थावर, ९५. सूक्ष्म, ९६. अपर्याप्त, ९७. साधारण, ९८. अस्थिर,
 ९९. अशुभ, १००. दुर्भग, १०१. दुःस्वर, १०२. अनादेय और
 १०३. अयशःकीर्ति।

गोत्र की दो उत्तर-प्रकृतियाँ

१. उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र।

(अन्तराय की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ)

१. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय,
 ४. उपभोगान्तराय और ५. वीर्यान्तराय।

बन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता की अपेक्षा आठ कर्मों की उत्तर- प्रकृतियों की सूची-

| कर्म-नाम | ज्ञाना वरण | दर्शना वरण | वेदनीय | मोहनीय | आयु | नाम | गोत्र | अन्तराय | कुल संख्या |
|-------------------------------|---------------|---------------|--------|--------|-----|-------------------|-------|---------|---------------|
| बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६७ | २ | ५ | १२० |
| उदय योग्य प्रकृतियाँ | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ६७ | २ | ५ | १२२ |
| उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ६७ | २ | ५ | १२२ |
| सत्ता-योग्य प्रकृतियाँ | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | १०३ अथवा ९३ | २ | ५ | १५८ १४८ |

अब जिस कर्म के जो स्थूल बन्ध-हेतु हैं उनको कहेंगे, इस गाथा में ज्ञानावरण और दर्शनावरण के बन्ध के कारण कहते हैं।

**पडिणीयत्तण निन्हव उवघायपओसअंतराएणं ।
अच्चासायणयाए आवरणदुगं जिओ जयइ ॥५४॥**

(पडिणीयत्तण) प्रत्यनीकत्व अनिष्ठ आचरण, (निन्हव) अपलाप, (अवघाय) उपघात-विनाश, (पओस) प्रद्वेष, (अन्तराएणं) अन्तराय और (अच्चासायणयाए) अतिआशातना, इनके द्वारा (जिओ) जीव, (आवरणदुगं) आवरण-द्विक का ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्म का (जयइ) उपार्जन करता है ॥५४॥

भावार्थ—कर्म के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार मुख्य हेतु हैं, जिनको कि चौथे कर्म-ग्रन्थ में विस्तार से कहेंगे, यहाँ संक्षेप से साधारण हेतुओं को कहते हैं, ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्म के बन्ध के साधारण हेतु ये हैं—

१. ज्ञानवान व्यक्तियों के प्रतिकूल आचरण करना।
२. अमुक के पास पढ़कर भी मैंने इनसे नहीं पढ़ा है अथवा अमुक विषय को जानता हुआ भी मैं इस विषय को नहीं जानता, इस प्रकार अपलाप करना।
३. ज्ञानियों का तथा ज्ञान के साधन—पुस्तक, विद्या मन्दिर आदि का, शस्त्र, अग्नि आदि से सर्वथा नाश करना।
४. ज्ञानियों तथा ज्ञान के साधनों पर प्रेम न करना उन पर अरुचि रखना।
५. विद्यार्थियों के विद्याभ्यास में विघ्न पहुँचाना, जैसे कि भोजन, वस्त्र, स्थान आदि का उनको लाभ होता हो, तो उसे न होने देना, विद्याभ्यास से छुड़ाकर उनसे अन्य काम करवाना इत्यादि।
६. ज्ञानियों की अत्यन्त आशातना करना; जैसे कि ये नीच कुल के हैं, इनके माँ-बाप का पता नहीं है, इस प्रकार मर्मच्छेदी बातों को लोक में प्रकाशित करना, ज्ञानियों को प्राणान्त कष्ट हो इस प्रकार के जाल रचना इत्यादि।

इसी प्रकार निषिद्ध देश (स्मशान आदि), निषिद्ध काल (प्रतिपद् तिथि, दिन-रात का सन्धिकाल आदि) में अभ्यास करना पढ़ाने वाले गुरु का विनय न करना, ऊँगली में शूँक लगाकर पुस्तकों के पत्रों को उलटना, ज्ञान के साधन

पुस्तक आदि को पैरों से हटाना, पुस्तकों से तकिये का काम लेना, पुस्तकों को भण्डार में पड़े-पड़े सड़ने देना किन्तु उनका सदुपयोग न होने देना, उदर-पोषण को लक्ष्य में रखकर पुस्तकें बेचना, पुस्तकों के पत्रों से जूते साफ़ करना, पढ़कर विद्या को बेचना, इत्यादि कामों से ज्ञानावरणकर्म का बन्ध होता है।

इसी प्रकार दर्शनी—साधु आदि तथा दर्शन के साधन इन्द्रियों का नष्ट करना इत्यादि से दर्शनावरणीय-कर्म का बन्ध होता है।

आत्मा के परिणाम ही बन्ध और मोक्ष के कारण हैं इसलिये ज्ञानी और ज्ञान-साधनों के प्रति जरा-सी भी लापरवाही दिखलाना अपना ही घात करना है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है, उसके अमर्यादित विकास को प्रकृति ने घेर रखा है। यदि प्रकृति के परदे को हटाकर उस अनन्त ज्ञान-शक्ति-रूपिणी देवी के दर्शन करने की लालसा हो, तो उस देवी का और उससे सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानी तथा ज्ञान-साधनों का अन्तःकरण से आदर करना चाहिए, जरा सा भी अनादर हुआ तो प्रकृति का घेरा और भी मूजबूत बनेगा। परिणाम यह होगा कि जो कुछ ज्ञान का विकास है वह और भी सङ्कुचित हो जायेगा। ज्ञान के परिच्छन्न होने से—उसके मर्यादित होने से ही सारे दुःखों की माला उपस्थित होती है, क्योंकि एक मिनट के बाद क्या अनिष्ट होनेवाला है यह यदि मालूम हो, तो व्यक्ति उस अनिष्ट से बचने की बहुत कुछ कोशिश कर सकता है। सारांश यह है कि जिस गुण के प्राप्त करने से वास्तविक आनन्द मिलने वाला होता है उस गुण के अभिमुख होने के लिये जिन-जिन कामों को न करना चाहिये उनको यहाँ प्रस्तुत कर ग्रन्थकार ने ठीक ही किया है।

सातावेदनीय तथा असातावेदनीय के बन्ध के कारण

गुरुभक्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ ।

दृढधर्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ॥५५॥

(गुरुभक्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ) गुरु भक्ति से युक्त, क्षमा से युक्त, करुणा-युक्त, व्रतों से युक्त, योगों से युक्त, कषाय-विजय-युक्त, दान-युक्त और (दृढधर्माई) दृढ धर्म आदि से युक्त जीव (सायं) सातावेदनीय का (अज्जइ) उपार्जन करता है, और (विवज्जयओ) विपर्यय से (असायं) असातावेदनीय का उपार्जन करता है ॥५५॥

भावार्थ—सातावेदनीय कर्म के बन्ध होने में कारण ये हैं—

१. गुरुओं की सेवा करना, अपने से जो श्रेष्ठ हैं वे गुरु, जैसे कि माता, पिता, धर्माचार्य, विद्या सिखलानेवाला, ज्येष्ठ भ्राता आदि।

२. **क्षमा करना**—अर्थात् अपने में बदला लेने का सामर्थ्य रहते हुए भी, अपने साथ बुरा बर्ताव करने वाले के अपराधों को सहन करना।
३. **दया करना**—अर्थात् दीन-दुःखियों के दुःखों को दूर करने की कोशिश करना।
४. अणुव्रतों का अथवा महाव्रतों का पालन करना।
५. **योग का पालन करना**—अर्थात् चक्रवाल आदि दस प्रकार की साधु की सामाचारी, जिसे संयमयोग कहते हैं उसका पालन करना।
६. **कषायों पर विजय प्राप्त करना**—अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के वेग से अपनी आत्मा को बचाना।
७. **दान करना**—सुपात्रों को आहार, वस्त्र आदि का दान करना, रोगियों को औषधि देना, जो जीव, भय से व्याकुल हो रहे हैं, उन्हें भय से छुड़ाना, विद्यार्थियों को पुस्तकों का तथा विद्या का दान करना, अन्न-दान से भी बढ़कर विद्या-दान है क्योंकि अन्न से क्षणिक तृप्ति होती है; परन्तु विद्या-दान से चिरकाल तक तृप्ति होती है। सब दानों में अभय-दान श्रेष्ठ है।
८. **धर्म में—अपनी आत्मा के गुणों में**—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में अपनी आत्मा को स्थिर रखना।

गाथा में आदि शब्द है इसलिये वृद्ध, बाल, ग्लान आदि की वैयावृत्य करना, धर्मात्माओं को उनके धार्मिक कृत्य में सहायता पहुँचाना, चैत्य-पूजन करना इत्यादि भी सातावेदनीय के बन्ध में कारण हैं, ऐसा समझना चाहिये।

जिन कृत्यों से सातावेदनीयकर्म का बन्ध कहा गया है उनसे उलटे काम करनेवाले जीव असातावेदनीयकर्म को बाँधते हैं; जैसे कि—गुरुओं का अनादर करनेवाला, अपने ऊपर किये हुए अपकारों का बदला लेनेवाला, क्रूरपरिणामवाला, निर्दय, किसी प्रकार के व्रत का पालन न करनेवाला, उत्कृष्ट कषायोंवाला, कृपण-दान न करने वाला, धर्म के विषय में बेपरवाह, हाथी-घोड़े बैल आदि पर अधिक बोझा लादनेवाला, अपने आपको तथा औरों को शोक-सन्ताप हो ऐसा बर्ताव करनेवाला, इत्यादि प्रकार के जीव, असातावेदनीयकर्म का बन्ध करते हैं।

साता का अर्थ है सुख और असाता का अर्थ है दुःख। जिस कर्म से सुख हो वह सातावेदनीय—अर्थात् पुण्य। जिस कर्म से दुःख हो, उस असातावेदनीय—अर्थात् पाप।

दर्शनमोहनीयकर्म के बन्ध के कारण

उम्मगगदेसणामगगनासणादेवद्वहरणेहिं ।

दंसणमोहं जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ ॥५६॥

(उम्मगगदेसणा) उन्मार्गदेसना-असत् मार्ग का उपदेश, (मगगनासणा) सत् मार्ग का अपलाप, (देवद्वहरणेहिं) देव-द्रव्य का हरण-इन कामों से जीव (दंसणमोहं) दर्शनमोहनीय कर्म को बाँधता है, और वह जीव भी दर्शनमोहनीय को बाँधता है जो (जिणमुणि चेइयसंघाइपडिणीओ) जिन, तीर्थकर, मुनि साधु, चैत्य जिन-प्रतिमाएँ, संघ-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका इनके विरुद्ध आचरण करता हो ॥५६॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीयकर्म के बन्ध-हेतु ये हैं—

१. उन्मार्ग का उपदेश करना—जिस कृत्यों से संसार की वृद्धि होती है उन कृत्यों के विषय में इस प्रकार का उपदेश करना कि ये मोक्ष के हेतु हैं; जैसे कि, देवी-देवों के सामने पशुओं की हिंसा करने को पुण्य-कार्य है ऐसा समझाना, एकान्त से ज्ञान अथवा क्रिया को मोक्ष-मार्ग बतलाना, दीवाली जैसे पर्वों पर जुआ खेलना पुण्य है इत्यादि उलटा उपदेश करना।
२. मुक्ति मार्ग का अपलाप करना—अर्थात् न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, न आत्मा ही है, खाओ पीओ, ऐशोआराम करो, मरने के बाद न कोई आता है, न जाता है, पास में धन न हो तो कर्ज लेकर घी पीओ (ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्), तप करना यह तो शरीर को निरर्थक सुखाना है, आत्मज्ञान की पुस्तकें पढ़ना मानों समय को बरबाद करना है, इत्यादि उपदेश देकर भोले-भाले जीवों को सन्मार्ग से हटाना।
३. देव-द्रव्य का हरण करना—अर्थात् देव-द्रव्य को अपने काम में खर्च करना, अथवा देव-द्रव्य की व्यवस्था करने में बेपरवाही दिखलाना, या दूसरा कोई उसका दुरुपयोग करता हो तो प्रतिकार की सामर्थ्य रखते हुए भी मौन साध लेना देव-द्रव्य से अपना व्यापार करना है। इसी प्रकार ज्ञान-द्रव्य तथा उपाश्रय-द्रव्य का हरण भी समझना चाहिये।
४. जिनेन्द्र भगवान् की निन्दा करना, जैसे कि दुनियाँ में कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता, समवसरण में छत्र, चामर आदि का उपभोग करने के कारण उनको वीतराग नहीं कह सकते इत्यादि।
५. साधुओं की निन्दा करना या उनसे शत्रुता करना।
६. जिन-प्रतिमा की निन्दा करना या उसे हानि पहुँचाना।

७. संघ की साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं की निन्दा करना या उनसे शत्रुता करना।

गाथा में आदि शब्द है इसलिये सिद्ध, गुरु, आगम वगैरह को लेना चाहिये—अर्थात् उनके प्रतिकूल बर्ताव करने से भी दर्शन मोहनीय-कर्म का बन्ध होता है।

‘चरित्र मोहनीय-कर्म के और नरकायु के बन्ध-हेतु’

**दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्धो ॥५७॥**

(कसायहासाइविसयविवसमणो) कषाय, हास्य आदि तथा विषयों से जिसका मन पराधीन हो गया है ऐसा जीव, (दुविहंपि) दोनों प्रकार के (चरणमोहं) चरित्र मोहनीय-कर्म को (बंधइ) बाँधता है (महारंभपरिग्गहरओ) महान् आरम्भ और परिग्रह में डूबा हुआ तथा (रुद्धो) रौद्र-परिणाम वाला जीव, (नरयाउ) नरक की आयु बाँधता है ॥५७॥

भावार्थ—चरित्र मोहनीय की उत्तर-प्रकृतियों में सोलह कषाय, छह हास्य आदि और तीन वेद प्रथम कहे गये हैं।

- (१) अनन्तानुबन्धी कषाय के—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान माया-लोभ के—उदय से जिसका मन व्याकुल हुआ है ऐसा जीव, सोलहों प्रकार के कषायों को—अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरण संज्वलन कषायों को बाँधता है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि चारों कषायों का—क्रोध, मान, माया, लोभ का—एक साथ ही उदय नहीं होता किन्तु चारों में से किसी एक का उदय होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना।

अप्रत्याख्यानावरण नामक दूसरे कषाय के उदय से पराधीन हुआ जीव, अप्रत्याख्यान आदि बारह प्रकार के कषायों को बाँधता है, अनन्तानुबन्धियों को नहीं।

प्रत्याख्यानावरण कषाय वाला जीव, प्रत्याख्यानावरण आदि आठ कषायों को बाँधता है, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण को नहीं।

संज्वलनकषाय वाला जीव, संज्वलन के चार भेदों को बाँधता है औरों को नहीं।

- (२) हास्य आदि नोकषायों के उदय से जीव व्याकुल होता है, वह हास्य आदि छः नोकषायों को बाँधता है।

- (क) भाँड जैसी चेष्टा करनेवाला, औरों की हँसी करनेवाला स्वयं हँसनेवाला, बहुत बकवास करनेवाला जीव, हास्यमोहनीय कर्म को बाँधता है।
- (ख) देश आदि के देखने की उत्कण्ठावाला, चित्र खींचने वाला, खेलनेवाला, दूसरे के मन को अपने आधीन करनेवाला जीव रति-मोहनीय-कर्म को बाँधता है।
- (ग) ईर्ष्यालु, पाप-शील, दूसरे के सुखों का नाश करनेवाला, बुरे कर्मों में औरों को उत्साहित करनेवाला जीव अरति-मोहनीय-कर्म को बाँधता है।
- (घ) खुद डरनेवाला, औरों को डरानेवाला, औरों को त्रास देनेवाला दया-रहित जीव भय-मोहनीय-कर्म को बाँधता है।
- (ङ) खुद शोक करनेवाला औरों को शोक करानेवाला, रोने वाला जीव शोक-मोहनीय-कर्म को बाँधता है।
- (च) चतुर्विध संघ की निन्दा करनेवाला, घृणा करनेवाला सदाचार की निन्दा करनेवाला जीव, जुगुप्सामोहनीयकर्म को बाँधता है।
- (३) स्त्रीवेद आदि के उदय से जीव वेदमोहनीय-कर्मों को बाँधता है।
- (क) ईर्ष्यालु, विषयों में आसक्त, अतिकुटिल, परस्त्री-लम्पट जीव, स्त्रीवेद को बाँधता है।
- (ख) स्व-दार-सन्तोषी, मन्द-कषायवाला, सरल, शीलव्रती जीव पुरुषवेद को बाँधता है।
- (ग) स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काम-सेवन करनेवाला, तीव्र विषयाभिलाषी, सती स्त्रियों का शील-भंग करनेवाला जीव नपुंसक वेद को बाँधता है। नरक की आयु के बन्ध में ये कारण हैं—
१. बहुत-सा आरम्भ करना, अधिक परिग्रह रखना।
 २. रौद्र परिणाम करना।
- इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय प्राणियों का वध करना, माँस खाना, बार-बार मैथुन-सेवन करना, दूसरे का धन छीनना, इत्यादि कामों से नरक की आयु का बन्ध होता है।

तिर्यञ्च की आयु के तथा मनुष्य की आयु के बन्ध-हेतु
तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तथा मणुस्साउ ।
पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ॥५८॥

(गूढहियओ) गूढहृदयवाला—अर्थात् जिसके दिल की बात कोई न जान सके ऐसा, (सढो) शठ-जिसकी जबान मीठी हो पर दिल में ज़हर भरा हो ऐसा, (ससल्लो) सशल्य-अर्थात् महत्त्व कम हो जाने के भय से प्रथम किये हुए पाप कर्मों की आलोचना न करनेवाला ऐसा जीव (तिरियाउ) तिर्यच की आयु बाँधता है, (तहा) उसी प्रकार (पयईइ) प्रकृति से-स्वभाव से ही (तणुकसाओ) तनु-अर्थात् अल्पकषायवाला, (दाणरुइ) दान देने में जिसकी रुचि है ऐसा (अ) और (मज्झिमगुणो) मध्यमगुणोंवाला—अर्थात् मनुष्यायु-बन्ध के योग्य क्षमा, मृदुता आदि गुणों वाला जीव (मणुस्साउ) मनुष्य की आयु को बाँधता है; क्योंकि अधमगुणोंवाला नरकायु को और उत्तमगुणोंवाला देवायु को बाँधता है इसलिये मध्यगुणों वाला कहा गया ॥५८॥

‘इस गाथा में देवायु, शुभनाम और अशुभनाम के बन्ध हेतुओं को कहते हैं?

अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५९॥

(अविरयमाइ) अविरत आदि, (बालतवोऽकामनिज्जरो) बालतपस्वी तथा अकामनिर्जरा करनेवाला जीव (सुराउं) देवायु का (जयइ) उपार्जन करता है। (सरलो) निष्कपट और (अगारविल्लो) गौरव-रहित जीव (सुहनामं) शुभनाम को बाँधता है (अन्नहा) अन्यथा—विपरीत-कपटी और गौरववाला जीव अशुभनाम को बाँधता है ॥५९॥

भावार्थ—जो जीव देवायु को बाँधते हैं—

१. अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा तिर्यच, देशविरत अर्थात् श्रावक और सराग-संयमी साधु।
२. बाल-तपस्वी—अर्थात् आत्म-स्वरूप को न जानकर अज्ञानपूर्वक कायक्लेश आदि तप करने वाला मिथ्यादृष्टि।
३. अकामनिर्जरा-अर्थात् इच्छा के न होते हुए भी जिसके कर्म की निर्जरा हुई है ऐसा जीव। तात्पर्य यह है कि अज्ञान से भूख, प्यास, ठंडी, गरमी को सहन करना; स्त्री की अप्राप्ति से शील को धारण करना इत्यादि

से जो कर्म की निर्जरा होती है उसे 'अकामनिर्जरा' कहते हैं।

जो जीव शुभनामकर्म को बाँधते हैं वे ये हैं—

१. सरल—अर्थात् माया रहित मन-वाणी-शरीर का व्यापार जिसका एक-सा हो ऐसा जीव शुभनाम को बाँधता है।
२. गौरव-रहित—तीन प्रकार का गौरव है—ऋद्धि-गौरव, रस-गौरव और सात-गौरव। ऋद्धि का अर्थ है ऐश्वर्य—धनसम्पत्ति, उससे अपने को महत्त्व शाली समझना, यह ऋद्धिगौरव है। मधुरआम्ल आदि रसों से अपना गौरव समझना यह रसगौरव है। शरीर के आरोग्य का अभिमान रखना सातगौरव है। इन तीनों प्रकार के गौरव से रहित जीव शुभनामकर्म को बाँधता है।

इसी प्रकार पाप से डरनेवाला, क्षमावान्, मार्दव आदि गुणों से युक्त जीव शुभनाम को बाँधता है। जिन कृत्यों से शुभनाम कर्म का बन्धन होता है उनसे विपरीत कृत्य करनेवाले जीव अशुभनामकर्म को बाँधते हैं, जैसे कि—

मायावी—अर्थात् जिनके मन, वाणी और आचरण में भेद हो; दूसरों को ठगने वाले, झूठी गवाही देने वाले, घी में चर्बी और दूध में पानी मिलाकर बेचनेवाले, अपनी तारीफ और दूसरों की निन्दा करनेवाले; वेश्याओं को वस्त्र-अलंकार आदि देने वाले; देव-द्रव्य, उपाश्रय और ज्ञानद्रव्य-द्रव्य खोनेवाले या उनका दुरुपयोग करने वाले ये जीव अशुभनाम को—अर्थात् नरकगतिअयशकीर्ति एकेन्द्रियजाति आदि कर्मों को बाँधते हैं।

'गोत्रकर्म के बन्ध-हेतु'

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं ।

पकुणा इ जिणाइभत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥६०॥

(गुणपेही) गुण-प्रेक्षी—गुणों को देखनेवाला, (मयरहिओ) मद-रहित—जिसे अभिमान न हो, (निच्चं) नित्य (अज्झयणऽज्झावणारुई) अध्ययनाध्यापनरुचि—पढ़ाने पढ़ने में जिसकी रुचि है, (जिणाइभत्तो) जिन भगवान् आदि का भक्त ऐसा जीव (उच्चं) उच्चगोत्र का (पकुणइ) उपार्जन करता है। (इयरहा उ) इतरथा तु—इस से विपरीत तो (नीयं) नीचगोत्र को बाँधता है ॥६०॥

भावार्थ—उच्चैर्गोत्रकर्म के बाँधने वाले जीव इस प्रकार के होते हैं—

१. किसी व्यक्ति में दोषों के रहते हुए भी उनके विषय में उदासीन, सिर्फ गुणों को ही देखनेवाले, २. आठ प्रकार के मदों से रहित—अर्थात् १. जातिमद, २. कुलमद, ३. बलमद, ४. रूपमद, ५. श्रुतमद, ६. ऐश्वर्यमद, ७. लाभमद और ८. तपोमद इनसे रहित।
३. हमेशा: पढ़ने-पढ़ाने में जिन का अनुराग हो, ऐसे जीव।
४. जिनेन्द्रभगवान्, सिद्ध, आचार्य, उपाचार्य, साधु, माता, पिता तथा गुणवानों की भक्ति करनेवाले जीव, ये उच्चगोत्र को बाँधते हैं।

जिन कृत्यों से उच्चगोत्र का बन्धन होता है उनसे उलटे काम करनेवाले जीव नीचगोत्र को बाँधते हैं—अर्थात् जिनमें गुण-दृष्टि न होकर दोष दृष्टि हो; जाति-कुल आदि का अभिमान करनेवाले, पढ़ने-पढ़ाने से जिन्हें घृणा हो, तीर्थकर-सिद्ध आदि महापुरुषों में जिन की भक्ति न हो, ऐसे जीव नीचगोत्र को बाँधते हैं।

‘अन्तराय-कर्म के बन्धु-हेतु तथा ग्रन्थ समाप्ति’।

**जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविंदसूरिहिं ॥६१॥**

(जिणपूयाविग्घकरो) जिनेन्द्र की पूजा में विघ्न करनेवाला तथा (हिंसाइपरायणो) हिंसा आदि में तत्पर जीव (विग्घं) अन्तराय-कर्म का (जयइ) उपार्जन करता है। (इय) इस प्रकार (देविंदसूरिहिं) श्रीदेवेन्द्रसूरि ने (कम्मविवागोयं) इस, कर्मविपाक’ नामक ग्रन्थ को (लिहिओ) लिखा है ॥६१॥

भावार्थ—अन्तराय-कर्म को बाँधनेवाले जीव—जो जीव जिनेन्द्र की पूजा का यह कहकर निषेध करते हैं कि जल, पुष्प, फलों की हिंसा होती है अतएव पूजा न करना ही अच्छा है; तथा हिंसा, झूठ, चोरी, रात्रि-भोजन करनेवाले; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप मोक्षमार्ग में दोष दिखलाकर भव्य-जीवों को मार्ग से च्युत करनेवाले; दूसरों के दान-लाभ-भोग-उपभोग में विघ्न करनेवाले; मन्त्र आदि के द्वारा दूसरों की शक्ति को हरने वाले ये जीव अन्तराय-कर्म को बाँधते हैं।

इस प्रकार श्रीदेवेन्द्रसूरि ने इस कर्मविपाक-नामक कर्मग्रन्थ की रचना की, जो कि चान्द्रकुल के तपाचार्य श्रीजगच्चन्द्रसूरि के शिष्य हैं।

॥ इति कर्मविपाक-नामक पहला कर्मग्रन्थ ॥

*

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि-विरचित
कर्मविपाक अर्थात् कर्मग्रन्थ
(हिन्दी अनुवाद सहित)
(द्वितीय भाग)

प्रस्तावना

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य

‘कर्मविपाक’ नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में कर्म की मूल तथा उत्तर-प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। उसमें बन्ध-योग्य, उदय-उदीरणा-योग्य और सत्ता-योग्य प्रकृतियों की अलग-अलग संख्या भी दिखलाई गई है। अब उन प्रकृतियों के बन्ध की उदय-उदीरणा की और सत्ता की योग्यता को दिखाने की आवश्यकता है। अतः इसी आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से इस दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना हुई है।

विषय-वर्णन-शैली

संसारी जीव गिनती में अनन्त हैं। इसलिए उनमें से एक-एक व्यक्ति का निर्देश करके उन सब की बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाना असंभव है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति में बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता भी सदा एक-सी नहीं रहती; क्योंकि परिणाम व विचार के बदलते रहने के कारण बन्धादि-विषयक योग्यता भी प्रतिसमय बदला करती है। अतएव आत्मदर्शी शास्त्रकारों ने देहधारी जीवों के १४ वर्ग किये हैं। यह वर्गीकरण, उनकी आभ्यन्तर शुद्धि की उत्क्रान्ति-अपक्रान्ति के आधार पर किया गया है। इसी वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में ‘गुणस्थान-क्रम’ कहते हैं। गुणस्थान का यह क्रम, ऐसा है कि जिसके १४ विभागों में सभी देहधारी जीवों का समावेश हो जाता है जिससे अनन्त देहधारियों की बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को १४ विभागों के द्वारा बतलाना सहज हो जाता है और एक जीव/व्यक्ति की योग्यता—जो प्रतिसमय बदला करती है—उसका भी प्रदर्शन किसी न किसी विभाग के द्वारा किया जा सकता है। संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भाव की पूरी वैज्ञानिक जाँच करके गुणस्थान-क्रम की घटना की गई है। इससे यह बतलाना या समझना सहज हो गया है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या शुद्धिवाला जीव, इतनी ही प्रकृतियों के बन्ध का, उदय-उदीरणा का और सत्ता का अधिकारी हो सकता है। इस कर्मग्रन्थ में उक्त गुणस्थान-क्रम के आधार पर ही जीवों की बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को बतलाया है। यही इस ग्रन्थ की विषय-वर्णन-शैली है।

विषय-विभाग

इस ग्रन्थ के विषय के मुख्य चार विभाग हैं— (१) बन्धाधिकार, (२) उदयाधिकार, (३) उदीरणाधिकार और (४) सत्ताधिकार। बन्धाधिकार में गुणस्थान-क्रम को लेकर प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों की बन्ध-योग्यता को दिखाया है। इसी प्रकार उदयाधिकार में, उनकी उदय-सम्बन्धिनी योग्यता को, उदीरणाधिकार में उदीरणा-सम्बन्धिनी योग्यता को और सत्ताधिकार में सत्ता-सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाया है। उक्त ४ अधिकारों की घटना, जिस वस्तु पर की गई है, उस वस्तु—गुणस्थान-क्रम—का नाम-निर्देश भी ग्रन्थ के आरम्भ में दिया गया है। अतएव, इस ग्रन्थ का विषय, पाँच भागों में विभाजित हो गया है। सबसे पहले गुणस्थान-क्रम का निर्देश और पीछे क्रमशः पूर्वोक्त चार अधिकारों को प्रस्तुत किया गया है।

‘कर्मस्तव’ नाम रखने का अभिप्राय

आध्यात्मिक विद्वानों की दृष्टि, सभी प्रवृत्तियों में आत्मा की ओर रहती है। वे, करें कुछ भी पर उस समय अपने सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित किये होते हैं कि जिससे उनके आध्यात्मिक महत्वाभिलाष पर जगत् के आकर्षण का कुछ भी असर नहीं होता। उन लोगों का अटल विश्वास होता है कि ‘ठीक-ठीक लक्षित दिशा की ओर जो जहाज चलता है वह, बहुत कर विघ्न-बाधाओं का शिकार नहीं होता।’ यह विश्वास, कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्य में भी था। इससे उन्होंने ग्रन्थ-रचना-विषयक प्रवृत्ति के समय भी महान् आदर्श को अपनी नजर के सामने रखना चाहा। ग्रन्थकार की दृष्टि में आदर्श थे भगवान् महावीर। भगवान् महावीर के जिस कर्मक्षयरूप असाधारण गुण पर ग्रन्थकार मुग्ध हुए थे उस गुण को उन्होंने अपनी कृति द्वारा दर्शाना चाहा। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना उन्होंने अपने आदर्श भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से की है। इस ग्रन्थ में मुख्य वर्णन, कर्म के बन्धादि का है, पर वह किया गया है स्तुति के बहाने से। अतएव, प्रस्तुत ग्रन्थ का अर्थानुरूप नाम ‘कर्मस्तव’ रखा गया है।

ग्रन्थ-रचना का आधार

इस ग्रन्थ की रचना ‘प्राचीन कर्मस्तव’ नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के आधार पर हुई है। उसका और इसका विषय एक ही है। भेद इतना ही है कि इस का परिमाण, प्राचीन कर्मग्रन्थ से अल्प है। प्राचीन में ५५ गाथाएँ हैं, पर इसमें

३४। जो बात प्राचीन में कुछ विस्तार से कही है उसे इसमें परिमित शब्दों के द्वारा कह दिया है। यद्यपि व्यवहार में प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम, 'कर्मस्तव' है, पर उसके आरम्भ की गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम, 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त स्तव' है। यथा—

नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनाणदंसणपईवे ।

बंधुदयसंतजुत्त वोच्छामि थयं निसामेह ॥१॥

प्राचीन के आधार से बनाये गये इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने इस ग्रन्थ के किसी भाग में उल्लिखित नहीं किया है, तथापि इसका 'कर्मस्तव' नाम होने में कोई संदेह नहीं है। क्योंकि इसी ग्रन्थ के कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि ने अपनी रचना तीसरे कर्मग्रन्थ के अन्त में 'नेयं कम्मत्थयं सोउं' इस अंश से उस नाम का कथन कर ही दिया है।

'स्तव' शब्द के पूर्व में 'बन्धोदयसत्त्व' या 'कर्म' कोई भी शब्द रखा जाय, मतलब एक ही है। परन्तु इस जगह इसकी चर्चा, केवल इसीलिए की गई है कि प्राचीन दूसरे कर्मग्रन्थ के और गोम्मटसार के दूसरे प्रकरण के नाम में कुछ भी अन्तर नहीं है। यह नाम की एकता, श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों की ग्रन्थ-रचना-विषयक पारस्परिक अनुकरण का पूरा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाम सर्वथा समान होने पर भी गोम्मटसार में तो 'स्तव' शब्द की व्याख्या की गई है वह बिल्कुल विलक्षण है, पर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ में तथा उसकी टीका में 'स्तव' शब्द के उस विलक्षण अर्थ की कुछ भी सूचना नहीं है। इससे यह जान पड़ता है कि यदि गोम्मटसार के बन्धोदयसत्त्व-युक्त नाम का आश्रय लेकर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ का वह नाम रखा गया होता तो उसका विलक्षण अर्थ भी इसमें स्थान पाता। इससे यह कहना पड़ता है कि प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना, गोम्मटसार से पूर्व हुई होगी। गोम्मटसार की रचना का समय, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी बतलाया जाता है। प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का समय तथा उसके कर्ता का नाम आदि ज्ञात नहीं। परन्तु उसकी टीका करने वाले श्री गोविन्दाचार्य हैं जो श्री देवनाग के शिष्य थे। श्री गोविन्दाचार्य का समय भी सन्देह की तह में छिपा है पर उनकी बनाई हुई टीका की प्रति-जो वि.सं. १२८८ में ताड़पत्र पर लिखी हुई मिलती है। इससे यह निश्चित है कि उनका समय, वि.सं. १२८८ से पहले होना चाहिए। यदि अनुमान से टीकाकार का समय १२ वीं शताब्दी माना जाय तो भी यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं कि मूल द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना उससे सौ-दो सौ वर्ष पहले ही होनी

चाहिए। इससे यह हो सकता है कि कदाचित् उस द्वितीय कर्मग्रन्थ का ही नाम गोम्मटसार में लिया गया हो और स्वतन्त्रता दिखाने के लिए 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिल्कुल बदल दी गई हो। अस्तु, इस विषय में कुछ भी निश्चित कहना साहस है। यह अनुमान-सृष्टि, वर्तमान लेखकों की शैली का अनुकरण मात्र है। इस नवीन द्वितीय कर्मग्रन्थ के प्रणेता श्रीदेवेन्द्रसूरि का समय आदि पहले कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना से जानना चाहिए।

गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का साङ्केतिक अर्थ

इस कर्मग्रन्थ में गुणस्थान को लेकर बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया गया है वैसे ही गोम्मटसार में भी किया गया है। इस कर्मग्रन्थ का नाम तो 'कर्मस्तव' है पर गोम्मटसार के उस प्रकरण का नाम 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त-स्तव' जो 'बन्धुदयसत्तजुतं ओघादेसे धवं वोच्छं' इस कथन से सिद्ध है (गो. कर्म गा. ८७)। दोनों नामों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि कर्मस्तव में जो 'कर्म' शब्द है उसी की जगह 'बन्धोदयसत्त्वयुक्त' शब्द रखा गया है। परन्तु 'स्तव' शब्द दोनों नामों में समान होने पर भी, उसके अर्थ में बिल्कुल भिन्नता है। 'कर्मस्तव' में 'स्तव' शब्द का मतलब स्तुति से है जो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है पर गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का स्तुति अर्थ न करके खास सांकेतिक अर्थ किया गया है। इसी प्रकार उसमें 'स्तुति' शब्द का भी पारिभाषिक अर्थ किया है जो और कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे—

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।

वण्णणसत्थं थयथुइधम्मकहा होइ णियमेण ।।

(गो.कर्म.गा. ८८)

अर्थात् किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तव' कहलाता है। एक अंग का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तुति' और एक अंग के किसी अधिकार का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र 'धर्मकथा' कहलाता है।

इस प्रकार विषय और नामकरण दोनों तुल्यप्राय होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदाय-भेद तथा ग्रन्थ-रचना-सम्बन्धी देश-काल के भेद का परिणाम जान पड़ता है।

गुणस्थान का संक्षिप्त सामान्य-स्वरूप

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञानपूर्ण होती है। वह अवस्था सब से प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास की बंदौलत निकलता है, और धीरे-धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णकला—अन्तिम हृद—को पहुँच जाता है। पहली निकृष्ट अवस्था से निकल कर, विकास की आखरी भूमि को पाना ही आत्मा का परमसाध्य है। इस परमसाध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी ऐसी क्रमिक अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणि को 'विकास-क्रम' या 'उत्क्रान्ति-मार्ग' कहते हैं और जैनशास्त्रीय परिभाषा में उसे 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं। इस विकास-क्रम के समय होने वाली आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप, १४ भागों में कर दिया गया है। ये १४ भाग, गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर-साहित्य में 'गुणस्थान' के अर्थ में संक्षेप, ओष, सामान्य और जीवसमास शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा—इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक रहती है। विकास की न्यूनाधिकता का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है। स्थिरता, समाधि, अन्तर्दृष्टि, स्वभाव-रमण, स्वोन्मुखता—इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र-शक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शन शक्ति का जितना अधिक विकास, जितनी अधिक निर्मलता, उतना ही अधिक आविर्भाव, सद्दिश्वास, सद्गुरुचि, सद्भक्ति, सत्श्रद्धा या सत्याग्रह का विकास समझना चाहिए। दर्शन-शक्ति के विकास के बाद चारित्र-शक्ति के विकास का नम्बर आता है। जितना-जितना चारित्र-आविर्भाव क्षमा, संतोष, गाम्भीर्य इन्द्रिय-जय आदि चारित्र-गुणों का होता है। जैसे-जैसे दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति की विशुद्धि बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे स्थिरता की मात्रा भी अधिक से अधिक होती जाती है। दर्शन व चारित्रशक्ति की विशुद्धि का बढ़ना-घटना, उन शक्तियों के प्रतिबन्धक (रोकनेवाले) संस्कारों की न्यूनता-अधिकता या मन्दता-तीव्रता पर अवलम्बित है। प्रथम तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति का विकास इसलिये नहीं होता कि उनमें उन शक्तियों के प्रतिबन्धक संस्कारों की अधिकता या तीव्रता है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में वे ही प्रतिबन्धक संस्कार कम (मन्द) हों जाते हैं; इससे उन

गुणस्थानों में शक्तियों का विकास आरम्भ हो जाता है।

इन प्रतिबन्धक (कषाय) संस्कारों के स्थूल दृष्टि से ४ विभाग किये हैं। ये विभाग उन काषायिक संस्कारों की विपाक-शक्ति के तरतम-भाव पर आश्रित हैं। उनमें से पहला विभाग—जो दर्शन-शक्ति का प्रतिबन्धक है—उसे **दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी** कहते हैं। शेष तीन विभाग चारित्र-शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। उनको यथाक्रम अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते हैं।

प्रथम विभाग की तीव्रता, न्यूनाधिक प्रमाण में तीन गुणस्थानों (भूमिकाओं) तक रहती है। इससे पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति का आविर्भाव सम्भव नहीं होता। कषाय के उक्त प्रथम विभाग की अल्पता, मन्दता या अभाव होते ही दर्शन-शक्ति व्यक्त होती है। इसी समय आत्मा की दृष्टि खुल जाती है। दृष्टि के इस उन्मेष को विवेकख्याति, भेदज्ञान, प्रकृति-पुरुषान्यता-साक्षात्कार और ब्रह्मज्ञान भी कहते हैं।

इसी शुद्ध दृष्टि से आत्मा जड़-चेतन का भेद, असंदिग्ध रूप से जान लेता है। यह उसके विकास-क्रम की चौथी भूमिका है। इसी भूमिका से वह अन्तर्दृष्टि बन जाता है, और आत्म-मन्दिर में वर्तमान तात्त्विक परमात्म-स्वरूप को देखता है। पहले की तीन भूमिकाओं में दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी नाम के कषाय संस्कारों की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्म-भाव को देख नहीं सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शनमोह आदि संस्कारों के वेग के कारण उस समय उसकी दृष्टि, इतनी अस्थिर व चंचल बन जाती है जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्म-स्वरूप या ईश्वरत्व को देख नहीं सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है, परन्तु है वह अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिये स्थिर व निर्मल दृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथी भूमिका या चौथे गुणस्थान को परमात्म-भाव के या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार कहना चाहिये और उतनी हद तक पहुँचे हुये आत्मा को अन्तरात्मा कहना चाहिये। इसके विपरीत पहली तीन भूमिकाओं में वर्तने के समय, आत्मा को बहिरात्मा कहना चाहिये। क्योंकि वह उस समय बाहरी वस्तुओं में ही आत्मत्व की भ्रान्ति से इधर-उधर दौड़ लगाया करता है। चौथी भूमिका में दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी संस्कारों का वेग तो नहीं रहता, पर चारित्र-शक्ति के आवरण-भूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। उनमें से अप्रत्याख्यानावरण संस्कार का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं होता। इससे पाँचवीं भूमिका में चारित्र-शक्ति का प्राथमिक विकास होता है; जिससे उस समय आत्मा, इन्द्रिय-जय, यम-नियम आदि को थोड़े बहुत

रूप में करता है—थोड़े बहुत नियम पालने के लिये सहिष्णु हो जाता है। प्रत्याख्यानानावरण नामक संस्कार—जिनका वेग पाँचवीं भूमिका से आगे नहीं है—उनका प्रभाव घटते ही चारित्र-शक्ति का विकास और भी बढ़ता है, जिससे आत्मा बाहरी भोगों से हटकर पूरा संन्यासी बन जाता है। यह हुई विकास की छठी भूमिका। इस भूमिका में भी चारित्र-शक्ति के विपक्षी 'संज्वलन' नाम के संस्कार कभी-कभी ऊधम मचाते हैं, जिससे चारित्र-शक्ति का विकास दयता तो नहीं, पर उसकी शुद्धि या स्थिरता में अन्तराय इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार वायु के वेग के कारण, दिये की ज्योति की स्थिरता व अधिकता। आत्मा जब 'संज्वलन' नाम के संस्कारों को दबाता है, तब उत्क्रान्तिपथ की सातवीं आदि भूमिकाओं को लाँघकर ग्यारहवीं बारहवीं भूमिका तक पहुँच जाता है। बारहवीं भूमिका में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जिससे उक्त दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। तथापि उस अवस्था में शरीर का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता परिपूर्ण होने नहीं पाती। वह चौदहवीं भूमिका में सर्वथा पूर्ण बन जाती है और शरीर का वियोग होने के बाद वह स्थिरता, वह चारित्र-शक्ति अपने यथार्थरूप में विकसित होकर सदा के लिये एक-सी रहती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च ।

अज्ञान-हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥

(शिवगीता-१३-३२)

यह विकास की पराकाष्ठा, यह परमात्म-भाव का अभेद, यह चौथी भूमिका (गुणस्थान) में देखे हुये ईश्वरत्व का तादात्म्य, यह वेदान्तियों का ब्रह्म-भाव, यह जीव का शिव होना, और यही उत्क्रान्ति-मार्ग का अन्तिम साध्य है। इसी साध्य तक पहुँचने के लिये आत्मा को विरोधी संस्कारों के साथ लड़ते झगड़ते, उन्हें दबाते, उत्क्रान्ति-मार्ग की जिन-जिन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, उन भूमिकाओं के क्रम को ही 'गुणस्थान-क्रम' समझना चाहिये। यह तो हुआ गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप। उन सबका विशेष स्वरूप थोड़े बहुत विस्तार के साथ इसी कर्मग्रन्थ की दूसरी गाथा की व्याख्या में लिख दिया गया है।

कर्मस्तव नामक दूसरा कर्मग्रन्थ

बन्धाधिकार

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकंमाइं ।

बन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

(तथा स्तुमो वीरजिनं यथा गुणस्थानेषु सकलकर्माणि ।

बन्धोदयोदीरणसत्ताप्राप्तानि क्षपितानि ॥१॥

अर्थ—गुणस्थानों में बन्ध को, उदय को, उदीरणा को और सत्ता को प्राप्त हुये सभी कर्मों का क्षय जिस प्रकार भगवान् वीर ने किया, उसी प्रकार से उस परमात्मा की स्तुति हम करते हैं।

भावार्थ—असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन ही स्तुति कहलाती है। सकल कर्मों का नाश यह भगवान् का असाधारण और यथार्थ गुण है, इससे उस गुण का कथन करना ही स्तुति है।

मिथ्यात्व आदि निमित्तों से ज्ञानावरण आदि रूप में परिणत होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध पानी के समान मिल जाना, 'बंध' कहलाता है।

उदय काल आने पर कर्मों के शुभाशुभ फल का भोगना 'उदय' कहलाता है।

[अबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर जिस समय कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को 'उदयकाल' समझना चाहिये।

बन्धे हुये कर्म से जितने समय तक आत्मा को अबाध नहीं होती—अर्थात् शुभाशुभ-फल का वेदन नहीं होता उतने समय को 'अबाधा काल' समझना चाहिये।

सभी कर्मों का अबाधा काल अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अलग-अलग होता है। कभी तो वह अबाधा काल स्वाभाविक क्रम से ही व्यतीत होता है, और कभी अपवर्तनाकरण से जल्द पूरा हो जाता है।

जिस वीर्यविशेष से पहले बंधे हुये कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं उसको, 'अपवर्तनाकरण' समझना चाहिये।]

अबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय में आने वाले होते हैं, उनको प्रयत्नविशेष से खींचकर उदय-प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना 'उदीरणा' है।

बंधे हुये कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगा रहना 'सत्ता' कहलाती है।

[बद्ध-कर्म, निर्जरा से और संक्रमण से अपने स्वरूप को छोड़ देता है।

बंधे हुये कर्म का तप-ध्यान-आदि साधनों के द्वारा आत्मा से अलग हो जाना 'निर्जरा' कहलाती है।

जिस वीर्य-विशेष से कर्म, एक स्वरूप को छोड़ दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उस वीर्य विशेष का नाम 'संक्रमण' है। इस तरह एक कर्म-प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म-प्रकृतिरूप बन जाना भी संक्रमण कहलाता है। जैसे—मतिज्ञानावरणीय-कर्म का श्रुतज्ञानावरणीय-कर्म रूप में बदल जाना या श्रुतज्ञानावरणीय-कर्म का मतिज्ञानावरणीय-कर्म रूप में बदल जाना। क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म का भेद होने से आपस में सजातीय हैं।]

प्रत्येक गुणस्थान में जितनी कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है, जितनी कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है, जितनी कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा की जा सकती है और जितनी कर्म-प्रकृतियाँ सत्तागत हो सकती हैं, उनका क्रमशः वर्णन करना, यही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से इस ग्रन्थ में पूरा किया है।।१॥

पहले गुणस्थानों को दिखाते हैं—

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।

नियट्टि अनियट्टि सुहुसु वसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ।। २ ।।

(मिथ्यात्वासस्वादनमिश्रमविरतदेशं प्रमत्ताप्रमत्तम्।

निवृत्यनिवृत्ति सूक्ष्मोपशम क्षीणसयोग्यऽयोगिगुणाः ।। २ ।।

अर्थ—गुणस्थान के १४ (चौदह) भेद हैं। जैसे—(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, (२) सास्वादन (सासादन) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, (५) देशविरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान, (७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, (८) निवृत्ति (अपूर्वकरण), गुणस्थान (९) अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान,

(१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान, (१२) क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान, (१३) सयोगि केवल गुणस्थान और, (१४) अयोगि केवल गुणस्थान।

भावार्थ—जीव के स्वरूपविशेष को (भिन्न स्वरूप को) गुणस्थान कहते हैं। ये स्वरूपविशेष ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि-गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होते हैं। जिस वक्त अपना आवरणभूत कर्म कम हो जाता है, उस वक्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट होती है। और जिस वक्त आवरणभूत कर्म की अधिकता हो जाती है, उस वक्त उक्त गुणों की शुद्धि कम हो जाती है, और अशुद्धि तथा अशुद्धि से होनेवाले जीव के स्वरूप विशेष असंख्य प्रकार के होते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप चौदह गुणस्थानों के रूप में कर दिया गया है। चौदहों गुणस्थान मोक्षरूप महल को प्राप्त करने के लिये सीढ़ियों के समान हैं। पूर्व-पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थान में ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है, और अशुद्धि घटती जाती है। अतएव आगे-आगे के गुणस्थानों में अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियाँ अधिक बाँधी जाती हैं, और अशुभ प्रकृतियों का बँध भी क्रमशः रुकता जाता है।

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—मिथ्यात्व-मोहनीय-कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा या प्रतिपत्ति) मिथ्या (उलटी) हो जाती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है—जैसे धतूरे के बीज को खानेवाला मनुष्य सफेद-चीज़ को भी पीली देखता और मानता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव भी जिसमें देव के लक्षण नहीं है उसको देव मानता है, तथा जिसमें गुरु के लक्षण नहीं उस पर गुरु-बुद्धि रखता है, और जो धर्मों के लक्षणों से रहित है उसे धर्म समझता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव का स्वरूप-विशेष ही 'मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान' कहलाता है।

प्रश्न—मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं? क्योंकि जब उसकी दृष्टि मिथ्या (अयथार्थ) है तब उसका स्वरूप-विशेष भी विकृत—अर्थात् दो दोषात्मक हो जाता है।

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि सर्वथा यथार्थ नहीं होती, तथापि वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप से जानता तथा मानता है। इसलिये उसके स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहा है। जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण

होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती, किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती ही है जिससे कि दिन-रात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय-कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टि-गुण सर्वथा आवृत नहीं होता। अतएव किसी न किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है।

प्रश्न—जब मिथ्यात्वी की दृष्टि किसी भी अंश में यथार्थ हो सकती है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या बाधा है?

उत्तर—एक अंश मात्र की यथार्थ प्रतीति होने से जीव सम्यग्दृष्टि नहीं कहलाता, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि जो जीव सर्वज्ञ के कहे हुये बारह अङ्गों पर श्रद्धा रखता है, परन्तु उन अङ्गों के किसी भी एक अक्षर पर विश्वास नहीं करता, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है, जैसे जमालि। मिथ्यात्व की अपेक्षा सम्यक्त्वी-जीव में विशेषता यही है कि सर्वज्ञ के कथन के ऊपर सम्यक्त्वी का विश्वास अखण्डित रहता है, और मिथ्यात्वी का नहीं ॥१॥

२. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वी है, परन्तु अनन्तानुबन्धि कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, वह जीव जब तक मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक—अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है और उस जीव का स्वरूप—विशेष 'सासादन सम्यग्दृष्टि—गुणस्थान' कहलाता है ॥१०१॥

इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर झुके हुये उस जीव को भी, कुछ काल के लिये सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है। अतएव इस गुणस्थान को 'सास्वादन सम्यग्दृष्टिगुणस्थान' भी कहते हैं ॥

प्रसंगवश इसी जगह औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का क्रम लिख दिया जाता है ॥

जीव अनादि-काल से संसार में घूम रहा है, और तरह-तरह के दुःखों को पाता है। जिस प्रकार पर्वत की नदी का पत्थर इधर-उधर टकरा कर गोल और चीकना बन जाता है, उसी प्रकार जीव भी अनेक दुःख सहते हुए कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि जिसके

बल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासंख्यात भाग न्यून कोटा-कोटी सागरोपम प्रमाण कर देता है। इसी परिणाम का नाम शास्त्र में यथाप्रवृत्तिकरण है। यथाप्रवृत्तिकरण से जीव राग-द्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जो कि कर्कश, दृढ और गूढ़ रेशम की गाँठ के समान दुर्भेद है वहाँ तक आता है, परन्तु उस गाँठ को भेद नहीं सकता, इसी की ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण से अभव्य जीव भी ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकते हैं—अर्थात् कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति को घटाकर अन्तः कोटा-कोटी सागरोपम प्रमाण कर सकते हैं, परन्तु वे राग-द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को तोड़ नहीं सकते। और भव्य जीव यथाप्रवृत्तिकरण नामक परिणाम से भी विशेष शुद्ध—परिणाम को पा सकता है तथा उसके द्वारा राग-द्वेष की दृढतम ग्रन्थि की—अर्थात् राग-द्वेष के अति दृढ-संस्कारों को छिन्न-भिन्न कर सकता है। भव्य जीव जिस परिणाम से राग-द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को लाँघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में 'अपूर्वकरण' कहते हैं। 'अपूर्वकरण' नाम रखने का मतलब यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है, बार-बार नहीं होता। अतएव वह परिणाम अपूर्व-सा है। इसके विपरीत 'यथाप्रवृत्तिकरण' नामक परिणाम तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार आता है। अपूर्वकरण-परिणाम से जब राग-द्वेष की ग्रन्थि टूट जाती है, तब तो और भी अधिक शुद्ध परिणाम होता है। इस अधिक शुद्ध परिणाम को 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं। इसे अनिवृत्तिकरण कहने का अभिप्राय यह है कि इस परिणाम के बल से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है। सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना वह निवृत्त नहीं होता—अर्थात् पीछे नहीं हटता। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य-समुल्लास—अर्थात् सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाता है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण मानी जाती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति में से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं, और एक भाग मात्र शेष रह जाता है, तब अन्तःकरण की क्रिया शुद्ध होती। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग—जिसमें अन्तःकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है—वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की होता है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं, इस लिये यह स्पष्ट है कि अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा उसके अन्तिम भाग का अन्तर्मुहूर्त जिसको अन्तःकरण क्रियाकाल कहना चाहिये—वह छोटा होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग में अन्तःकरण की क्रिया होती है इसका मतलब यह है कि अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय-कर्म उदयमान है, उसके उन दलिकों को जो कि अनिवृत्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आनेवाले हैं,

आगे पीछे कर लेना अर्थात् अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के जितने दलिक उदय में आनेवाले हों, उनमें से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त उदय में आनेवाले दलिकों में स्थापित किया जाता है और कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिला दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का दलिक रहता ही नहीं। अतएव जिसका अबाधा काल पूरा हो चुका है, ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय-कर्म के दो भाग हो जाते हैं। एक भाग तो वह जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदयमान रहता है, और दूसरा भाग वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल व्यतीत हो चुकने पर उदय में आता है। इन दो भागों में से पहले भाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे भाग को द्वितीय स्थिति कहते हैं। जिस समय में अन्तःकरण क्रिया शुरू होती है—अर्थात् निरन्तर उदययोग्य दलिकों का व्यवधान किया जाता है, उस समय से अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उक्त दो भागों में से प्रथम भाग का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का किसी भी प्रकार का उदय नहीं रहता। क्योंकि उस वक्त जिन दलिकों के उदय का सम्भव है, वे सब दलिक, अन्तःकरण क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त मिथ्यात्व का उदय रहता है, इसलिये उस वक्त तक जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। परन्तु अनिवृत्तिकरण काल व्यतीत हो चुकने पर जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नहीं होता। इसलिये जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्वगुण व्यक्त होता है और औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व उतने काल तक रहता है जितने काल तक के उदय योग्य दलिक आगे पीछे कर लिये जाते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वेदनीय दलिकों को आगे पीछे कर दिया जाता है इससे यह भी सिद्ध है कि औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है। इस औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को पदार्थों की स्फुट या असंदिग्ध प्रतीति होती है, जैसे कि जन्मान्ध मनुष्य को नेत्रलाभ होने पर होती है तथा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही मिथ्यात्व-रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है जैसा कि किसी बीमार को अच्छी औषधि के सेवन से बीमारी के हट जाने पर अनुभव में आता है। इस औपशमिक सम्यक्त्व के काल को

उपशान्ताद्धा तथा अन्तरकरण काल कहते हैं (प्रथम स्थिति के चरम समय में, जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुँज करता है) जो कि उपशान्ताद्धा के पूरा हो जाने के बाद उदय में आने वाला है। जिस प्रकार कोद्रव धान्य (कोदो नामक धान्य) औषधि विशेष से साफ किया जाता है, तब उसका एक भाग इतना शुद्ध हो जाता है जिससे कि, खाने वाले को नशा नहीं होता कुछ भाग शुद्ध होता है परन्तु बिल्कुल शुद्ध नहीं होता, अर्द्ध शुद्ध-सा रह जाता है और कोद्रव का कुछ भाग तो अशुद्ध ही रह जाता है जिससे कि खाने वाले को नशा हो जाता है। इसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत-मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के तीन पुञ्जों (भागों) में से एक पुञ्ज तो इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्वघातकरस (सम्यक्त्वनाशशक्ति) का अभाव हो जाता है। दूसरा पुञ्ज आधाशुद्ध (शुद्धाशुद्ध) हो जाता है। तीसरा पुञ्ज तो अशुद्ध ही रह जाता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण हो जाने के बाद उक्त तीनों पुञ्जों में से कोई एक पुञ्ज जीव के परिणामानुसार उदय में आता है। यदि जीव विशुद्धपरिणामी ही रहा तो शुद्धपुञ्ज उदयगत होता है। शुद्धपुञ्ज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो होता है, किन्तु दोष उत्पन्न अवश्य कराता है। न ही इससे उस समय जो सम्यक्त्व प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम न तो बिल्कुल शुद्ध रहा और न बिलकुल अशुद्ध, किन्तु मिश्र ही रहा तो अर्धविशुद्ध पुंज का उदय हो आता है और परिणाम अशुद्ध पुञ्ज के उदय प्राप्त होने से जीव, फिर मिथ्यादृष्टि बन जाता है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्त-श्रद्धा, जिसमें जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द हो जाता है, उसका जघन्य एक समय या उत्कृष्ट छः (६) आवलिकाये जब बाकी रह जाती हैं, तब किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्वी जीव को विघ्न आ पड़ता है—अर्थात् उसकी शान्ति में भङ्ग पड़ता है। क्योंकि उस समय अनन्तानुबन्धि कषाय का उदय हो आता है। अनन्तानुबन्धि कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व परिणाम का त्याग कर मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक, अर्थात् उपशान्त-श्रद्धा के जघन्य एक समय पर्यन्त अथवा उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त सासादन भाव का अनुभव करता है। इसी से उस समय वह जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। जिसको औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वही सासादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है; दूसरा नहीं॥२॥

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान—मिथ्यात्वमोहनीय के पूर्वोक्त तीन पुंजों में से जब अर्द्ध-विशुद्ध-पुंज का उदय हो आता है, तब जैसे गुड़ से

मिश्रित दही का स्वाद कुछ अम्ल (खट्टा) और कुछ मधुर (मीठा) अर्थात् मिश्र होता है। इस प्रकार जीव की दृष्टि भी कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध)-अर्थात् मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र दृष्टि) कहलाता है तथा उसका स्वरूपविशेष सम्यग्मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान)। इस गुणस्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता-सी आ जाती है। जिससे जीव सर्वज्ञ के कहे हुए तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि करता है, और न एकान्त अरुचि। किन्तु वह सर्वज्ञ-प्रणीत तत्त्वों के विषय में इस प्रकार मध्यस्थ रहता है, जिस प्रकार कि नालिकेर द्वीप निवासी मनुष्य ओदन (भात) आदि अन्न के विषय में। जिस द्वीप में प्रधानतया नरियल पैदा होते हैं, वहाँ के अधिवासियों ने चावल-आदि अन्न न तो देखा होता है और न सुना। इससे वे अदृष्ट और अश्रुत अन्न को देखकर उसके विषय में रुचि या घृणा नहीं करते। किन्तु समभाव ही रहते हैं। इसी तरह सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति न करके, समभाव ही रहते हैं। अर्धविशुद्ध पुंज का उदय अन्तर्मुहूर्त्त मात्र पर्यन्त रहता है। इसके अनन्तर शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुञ्ज का उदय हो आता है। अतएव तीसरे गुणस्थान की स्थिति, मात्र अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है।३॥

४. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—सावद्य व्यापारों को छोड़ देना अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाने को विरति कहते हैं। चारित्र और व्रत, विरति ही का नाम है। जो सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी भी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि, और उसका स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान कहलाता है अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं। जैसे—

१. जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं। वे सामान्यतः सब लोग।
२. जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं। वे तपस्वीविशेष।
३. जो व्रतों को जानते नहीं, परन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालते नहीं, वे पार्श्वस्थ नामक साधुविशेष।
४. जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है, किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन बराबर करते हैं, वे अगीतार्थ मुनि।
५. जिनको व्रतों का ज्ञान तो है, परन्तु जो व्रतों को स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते, वे श्रेणिक, कृष्ण आदि।

६. जो व्रतों को जानते हुये भी स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु उनका पालन अवश्य करते हैं, वे अनुत्तरविमानवासी देव।
७. जो व्रतों को जानकर स्वीकार लेते हैं, किन्तु पीछे से उनका पालन नहीं कर सकते, वे संविग्नपाक्षिक।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिन को व्रतों का सम्यग्ज्ञान नहीं है, जो व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का यथार्थ पालन नहीं करते, वे सब घुणाक्षरन्याय से व्रतों को पाल भी लें तथापि उससे फल सम्भव नहीं है। उक्त सात प्रकार के अविरतों में से पहले चार प्रकार के अविरत—जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं। क्योंकि उनको व्रतों का यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। और पिछले तीन प्रकार के अविरत जीव सम्यग्दृष्टि हैं। क्योंकि वे व्रतों को यथाविधि ग्रहण तथा पालन नहीं कर सकते, तथापि उन्हें यथार्थ जानते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों में भी कोई औपशमिक सम्यक्त्वी होते हैं, कोई क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी होते हैं और कोई पाक्षिक-सम्यक्त्वी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रत-नियम को यथावत् जानते हुये भी स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते क्योंकि उनको अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय रहता है, और यह उदय चारित्र के ग्रहण तथा पालन का प्रतिबंधक (रोकने वाला) है।॥४॥

५. देशविरतगुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव, पापजनक क्रियाओं से बिल्कुल नहीं किन्तु देश (अंश) से अलग हो सकते हैं वे देशविरत या श्रावक कहलाते हैं; और उनका स्वरूप-विशेष देशविरत गुणस्थान। कोई श्रावक एक व्रत को ग्रहण करता है, और कोई दो व्रत को। इस प्रकार अधिक से अधिक व्रत को पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं जो कि पापकार्यों में अनुमति के अतिरिक्त और किसी प्रकार से भाग नहीं लेते। अनुमति तीन प्रकार की है, जैसे—१. प्रतिसेवनानुमति, २. प्रतिश्रवणानुमति और ३. संवासानुमति। अपने या दूसरे के किये हुये भोजन-आदि का उपभोग करना 'प्रतिसेवनानुमति' कहलाती है। पुत्र-आदि किसी सम्बन्धी के द्वारा किये गये पाप कर्मों को केवल सुनना, और सुनकर भी उन कामों के करने से पुत्र आदि को नहीं रोकना; उसे 'प्रतिश्रवणानुमति' कहते हैं। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों के पाप-कार्य में प्रवृत्त होने पर, उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना-अर्थात् न तो पाप-कर्मों को सुनना और सुनकर भी न उसकी प्रशंसा करना, इसे 'संवासानुमति' कहते हैं। जो श्रावक, पापजनक-आरम्भों में किसी भी प्रकार

से योग नहीं देता केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों से श्रेष्ठ है।।५।।

६. **प्रमत्तसंयतगुणस्थान**—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, संयत (मुनि) हैं। संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तब तक प्रमत्तसंयत कहलाते हैं, और उनका स्वरूपविशेष प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहलाता है। जो जीव संयत होते हैं, वे यहाँ तक सावध कर्मों का त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुमति को भी नहीं सेवते। इतना त्यागकर सकने का कारण यह है कि, छोटे गुणस्थान से लेकर आगे प्रत्याख्यानारण कषाय का उदय रहता ही नहीं है।।६।।

७. **अप्रमत्तसंयतगुणस्थान**—जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय विकथा-आदि प्रमादों को नहीं सेवते वे अप्रमत्तसंयत हैं, और उनका स्वरूप-विशेष, जो ज्ञान-आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होता है, वह अप्रमत्तसंयत गुणस्थान है। प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है; इसलिये सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में वर्तमान मुनि, अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं।।७।।

८. **निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान**—जो इस गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं तथा जो प्राप्त कर रहे हैं और जो आगे प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसाय स्थानों की (परिणाम-भेदों की) संख्या, असंख्यात-लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर है। क्योंकि इस आठवें गुणस्थान की स्थिति-अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात समय होते हैं जिनमें से केवल प्रथम समयवर्ती त्रैकालिक-(तीनों काल के) जीवों के अध्यवसाय भी असंख्यात-लोकाकाशों के प्रदेशों के तुल्य हैं। इस प्रकार दूसरे, तीसरे आदि प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में असंख्यात-लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर ही हैं। असंख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार हैं। इसलिये एक-एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या—ये दोनों संख्यायें सामान्यतः एक-सी अर्थात् असंख्यात् ही हैं। तथापि वे दोनों असंख्यात संख्यायें परस्पर भिन्न हैं। यद्यपि इस आठवें गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक-जीव अनन्त ही होते हैं, तथापि उनके अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं। इसका कारण यह है कि समान समयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपस में अलग-अलग (न्यूनाधिक शुद्धिवाले) होते हैं, तथापि समसमयवर्ती बहुत जीवों के अध्यवसाय तुल्य

शुद्धिवाले होने से अलग-अलग नहीं माने जाते। प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायों में से जो अध्यवसाय कम शुद्धिवाले होते हैं, वे जघन्य तथा जो अध्यवसाय अन्य सब अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धिवाले होते हैं, वे उत्कृष्ट कहलाते हैं। इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायों का होता है। इन दो वर्गों के बीच में असंख्यात वर्ग है, जिनके सब अध्यवसाय मध्यम कहलाते हैं। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्त-गुण-अधिक मानी जाती है और बीच के सब वर्गों में से पूर्व-पूर्व-वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा पर-वर्ग के अध्यवसाय, विशेष-शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार माना जाता है कि सम-समयवर्ती अध्यवसाय एक-दूसरे से अनन्त-भाग-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, संख्यात-भाग-अधिक शुद्ध, संख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध और अनन्त-गुण-अधिक-शुद्ध होते हैं। इस तरह की अधिक-शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त-भाग-अधिक आदि छः प्रकारों को शास्त्र में 'षट्स्थान' कहते हैं। प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं, और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों से पर समय के अध्यवसाय भिन्न-भिन्न समझने चाहिये तथा पूर्व-पूर्व समय के उत्कृष्ट-अध्यवसायों की अपेक्षा पर-पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध समझने चाहिये।

इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। जैसे—१. स्थितिघात, २. रसघात, ३. गुणश्रेणि, ४. गुणसंक्रमण और ५. अपूर्व स्थितिबंध।

१. जो कर्म-दलिक उदय में आनेवाले हैं, उन्हें अपवर्तना-करण के द्वारा अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटा देना—अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तना-करण से घटा देना इसे 'स्थितिघात' कहते हैं।
२. बँधे हुये ज्ञानावरणादि-कर्मों के प्रचुर रस (फल देने की तीव्र शक्ति) को अपवर्तना-करण के द्वारा मन्द कर देना यही 'रसघात' कहलाता है।
३. जिन कर्म-दलिकों का स्थितिघात किया जाता है अर्थात् जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत-समयों से हटाये जाते हैं, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना 'गुणश्रेणि' है। स्थापन का क्रम इस प्रकार

है—उदय-समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते हैं, उनमें से उदयावलिका के समयों को छोड़कर शेष जितने समय रहते हैं इनमें से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते हैं वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जानेवाले दलिक प्रथम समय में स्थापित-दलिकों से असंख्यात-गुण-अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरमसमयपर्यन्त पर समय में स्थापित किये जानेवाले दलिक, पूर्व-पूर्व समय में स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यात-गुण ही समझने चाहिये।

४. जिन शुभ-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध अभी हो रहा है उनमें पहले बाँधी हुई अशुभ-प्रकृतियों का संक्रमण कर देना अर्थात् पहले बाँधी हुई अशुभ-प्रकृतियों को वर्तमान बन्धवाली शुभ-प्रकृतियों के रूप में परिणत करना 'गुण-संक्रमण' कहलाता है।

गुण-संक्रमण का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—प्रथम समय में अशुभ-प्रकृति के जितने दलिकों का शुभ-प्रकृति में संक्रमण होता है, उनकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात-गुण-अधिक दलिकों का संक्रमण होता है। इस प्रकार जब तक गुण-संक्रमण होता रहता है तब तक पूर्व-पूर्व समय में संक्रमण किये गये दलिकों से उत्तर समय में असंख्यात-गुण अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

५. पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प-स्थिति के कर्मों को बाँधना 'अपूर्वस्थितिबन्ध' कहलाता है।

ये स्थितिघात—आदि पाँच पदार्थ, यद्यपि पहले के गुण स्थानों में भी होते हैं, तथापि आठवें गुणस्थान में वे अपूर्व ही होते हैं। क्योंकि पहले के गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में अध्यवसायों की शुद्धि अत्यन्त अधिक होती है। अतएव पहले के गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अति अल्प रस का घात होता है। परन्तु आठवें गुणस्थान में अधिक स्थिति का तथा अधिक-रस का घात होता है। इसी तरह पहले के गुणस्थानों में गुणश्रेणि की काल-मर्यादा अधिक होती है तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है वे दलिक भी अल्प ही होते हैं, और आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणि-योग्य-दलिक तो बहुत अधिक होते हैं, परन्तु गुणश्रेणि का काल-मान बहुत कम होता है। पहले गुणस्थानों की अपेक्षा आठवें गुणस्थान में गुणसंक्रमण भी बहुत कर्मों का होता है, अतएव वह अपूर्व होता है। और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्प-स्थिति के कर्म बाँधे जाते हैं

कि जितनी अल्प-स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कदापि नहीं बँधते। इस प्रकार उक्त स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस आठवें गुणस्थान का दूसरा नाम 'अपूर्वकरण' गुणस्थान यह भी शास्त्र में प्रसिद्ध है।

जैसे राज्य को पाने की योग्यतामात्र से भी राजकुमार राजा कहलाता है, वैसे ही आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव, चारित्र-मोहनीय-कर्म के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशमक या क्षपक कहलाते हैं। क्योंकि चारित्र-मोहनीय-कर्म के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ नौवें गुणस्थान में ही होता है, आठवें गुणस्थान में तो उसके उपशमन या क्षपण के प्रारम्भ की योग्यतामात्र होती है।८॥

अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं उतने ही अध्यवसाय-स्थान, इस नौवें गुणस्थानक में माने जाते हैं, क्योंकि नौवें गुणस्थानक में जो जीव सम-समयवर्ती होते हैं उन सब के अध्यवसाय एक से अर्थात् तुल्य-शुद्धिवाले होते हैं। जैसे प्रथम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्तजीवों के भी अध्यवसाय समान ही होते हैं इस प्रकार दूसरे समय से लेकर नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक तुल्य समय में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी तुल्य ही होते हैं, और तुल्य अध्यवसायों को एक ही अध्यवसाय-स्थान मान लिया जाता है। इस बात को समझने की सरल रीति यह भी है कि नौवें गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते हैं जितने कि उस गुणस्थान के समय हैं। एक-एक वर्ग में चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त अभिव्यक्तियाँ शामिल हों, परन्तु प्रतिवर्ग अध्यवसाय-स्थान एक ही माना जाता है; क्योंकि एक वर्ग के सभी अध्यवसाय, शुद्धि में बराबर ही होते हैं, परन्तु प्रथम समय के अध्यवसाय-स्थान से अर्थात् प्रथम-वर्गीय अध्यवसायों से-दूसरे समय के अध्यवसाय-स्थान—अर्थात् दूसरे वर्ग के अध्यवसाय—अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय-स्थान के उत्तर-उत्तर समय के अध्यवसाय-स्थान को अनन्त-गुण-विशुद्ध समझना चाहिये। आठवें गुणस्थानक से नौवें गुणस्थानक में यही विशेषता है कि आठवें गुणस्थानक में तो समान-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय, शुद्धि के तरतम-भाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं, परन्तु नौवें गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त-जीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के

कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं, और कषाय की (संक्लेशकी) जितनी ही कमी हुई, उतनी ही विशुद्ध जीव के परिणामों की बढ़ जाती है। आठवें गुणस्थान से नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नतायें आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती है।

दसवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में बादर (स्थूल) सम्पराय (कषाय) उदय में आता है। तथा नौवें गुणस्थान के सम-समयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती। इसीलिये इस गुणस्थान का 'अनिवृत्तिबादरसम्पराय' ऐसा सार्थक नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है।

नौवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव, दो प्रकार के होते हैं—एक उपशमक और दूसरे क्षपक। जो चारित्र मोहनीय-कर्म का उपशमन करते हैं, वे उपशमक और जो चारित्र मोहनीय-कर्म का क्षपण (क्षय) करते हैं वे क्षपक कहलाते हैं॥९॥

सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान में सम्पराय के अर्थात् लोभ-कषाय के सूक्ष्म-खण्डों का ही उदय रहता है। इसलिये इसका 'सूक्ष्मसम्पराय-गुणस्थान' ऐसा सार्थक नाम प्रसिद्ध है। इस गुणस्थान के जीव भी उपशमक और क्षपक होते हैं। जो उपशमक होते हैं वे लोभ-कषायमात्र का उपशमन करते हैं और जो क्षपक होते हैं वे लोभ-कषाय-मात्र का क्षपण करते हैं। क्योंकि दसवें गुणस्थान में लोभ के अतिरिक्त दूसरी चारित्रमोहनीय-कर्म की ऐसी प्रकृति ही नहीं है जिसका कि उपशमन या क्षपण न हुआ हो॥१०॥

उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान

जिनके कषाय उपशान्त हुये हैं, जिनको राग का भी (माया तथा लोभ का भी) सर्वथा उदय नहीं है, और जिनको छद्म (आवरण भूत घातिकर्म) लगे हुये हैं, वे जीव उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ तथा उनका स्वरूप-विशेष 'उपशान्त कषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान, कहलाता है।

(विशेषण दो प्रकार का होता है—१. स्वरूप विशेषण ओर २. व्यावर्तक विशेषण। 'स्वरूपविशेषण' उस विशेषण को कहते हैं जिस विशेषण के न रहने पर भी शेष भाग से इष्ट-अर्थ का बोध हो ही जाता है—अर्थात् जो विशेषण

अपने विशेष्य के स्वरूप मात्र को जनाता है। 'व्यावर्तक विशेषण' उस विशेषण को कहते हैं जिस विशेषण के रहने से ही इष्ट-अर्थ का बोध हो सकता है— अर्थात् जिस विशेषण के अभाव में इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का भी बोध होता है।)

'उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान' इस नाम में १. उपशान्तकषाय, २. वीतराग और ३ छद्मस्थ, ये तीन विशेषण हैं। जिनमें 'छद्मस्थ' यह विशेषण स्वरूप-विशेषण है; क्योंकि उस विशेषण के न होने पर भी शेष भाग से— अर्थात् उपशान्तकषाय-वीतराग-गुणस्थान इतने ही नाम से इष्ट अर्थ का (ग्यारहवें गुणस्थान का) बोध हो जाता है, और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। अतएव छद्मस्थ यह विशेषण अपने विशेष्य का स्वरूपमात्र बतलाता है। उपशान्तकषाय और वीतराग ये दो, व्यावर्तक-विशेषण हैं; क्योंकि उनके रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है, और उनके अभाव में इष्ट के सिवा अन्य अर्थ का भी बोध होता है। जैसे—उपशान्त कषाय इस विशेषण के अभाव में वीतरागछद्मस्थ-गुणस्थान इतने नाम से इष्ट-अर्थ के (ग्यारहवें गुणस्थान के) अतिरिक्त बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्योंकि बारहवें गुणस्थान में भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण-आदि घाति कर्म) तथा वीतरागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु 'उपशान्त कषाय' इस विशेषण के ग्रहण करने से बारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि बारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते, बल्कि क्षीण हो जाते हैं। इसी तरह वीतराग इस विशेषण के अभाव में 'उपशान्तकषाय छद्मस्थ गुणस्थान' इतने नाम से चतुर्थ पंचम-आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। क्योंकि चतुर्थ, पञ्चम आदि गुणस्थानों में भी जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय उपशान्त हो सकते हैं। परन्तु 'वीतराग' इस विशेषण के रहने से चतुर्थ पञ्चम आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि उन गुणस्थानों में वर्तमान जीव को राग के (माया तथा लोभ के) उदय का सद्भाव ही होता है। अतएव वीतरागत्व असंभव है।

इस ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी जाती है।

इस गुणस्थान में वर्तमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं होता; क्योंकि जो जीव क्षपक-श्रेणि को करता है वही आगे के गुणस्थानों को पा सकता है। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव तो नियम से उपशम-श्रेणि करनेवाला ही होता है, अतएव वह जीव ग्यारहवें

गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है। गुणस्थान का समय पूरा न हो पाने पर भी जो जीव भव के (आयु के) क्षय से गिरता है वह अनुत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न होता है और चौथे ही गुणस्थान को प्राप्त करता है। क्योंकि उस स्थान में चौथे के अतिरिक्त अन्य गुणस्थानों का सम्भव नहीं है। चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उस गुणस्थान में जितनी कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का, उदय का तथा उदीरणा का सम्भव है उन सब कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को एक साथ शुरू कर देता है। परन्तु आयु के रहते हुए भी गुणस्थान का समय पूरा हो जाने से जो गिरता है वह आरोहण-क्रम के अनुसार, पतन के समय, गुणस्थानों को प्राप्त करता है—अर्थात् उसने आरोहण के समय जिस-जिस गुणस्थान को पाकर जिन-जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का, उदय का और उदीरणा का विच्छेद किया हुआ होता है, गिरने के वक्त भी उस-उस गुणस्थान को पाकर वह जीव उन-उन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को शुरू कर देता है। अद्धा-क्षय से—अर्थात् गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरनेवाला कोई जीव छट्टे गुणस्थान तक आता है, कोई पाँचवें गुणस्थान में, कोई चौथे गुणस्थान में और कोई दूसरे गुणस्थान में भी आता है।

यह कहा जा चुका है कि उपशमश्रेणिवाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है। इसका कारण यह है कि उसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति क्षपक-श्रेणि के बिना नहीं होती। एक जन्म में दो से अधिक बार उपशम-श्रेणि नहीं की जा सकती और क्षपक-श्रेणि तो एक बार ही होती है। जिसने एक बार उपशम-श्रेणि की है वह उस जन्म में क्षपकश्रेणि कर मोक्ष को पा सकता है। परन्तु जो दो बार उपशम-श्रेणि कर चुका है वह उस जन्म में क्षपक-श्रेणि कर नहीं सकता। यह तो हुआ 'कर्मग्रन्थ' का अभिप्राय। परन्तु सिद्धान्त का अभिप्राय ऐसा है कि जीव एक जन्म में एक बार ही श्रेणि कर सकता है। अतएव जिसने एक बार उपशम-श्रेणि की है वह फिर उसी जन्म में क्षपक-श्रेणि नहीं कर सकता।

उपशम-श्रेणि के आरम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—चौथे, पाँचवे, छट्टे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुबन्धिकषायों का उपशम करता है और पीछे दर्शनमोहनीय-त्रिक का उपशम करता है। इसके बाद वह जीव छट्टे तथा सातवें गुणस्थान में सैकड़ों बार आता और जाता है। पीछे आठवें गुणस्थान में होकर नौवें गुणस्थान को प्राप्त करता है और नौवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम शुरू करता

है। सबसे पहले वह नपुंसकवेद को उपशान्त करता है। इसके बाद स्त्रीवेद को उपशान्त करता है। इसके अनन्तर क्रम से हास्यादि—षट्क को, पुरुषवेद को, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-क्रोध-युगल को, संज्वलन क्रोध को अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-मान-युगल को संज्वलन मान को, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-माया-युगल को, संज्वलन माया को और अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-लोभ-युगल को नौवें गुणस्थान के अन्त तक में उपशान्त करता है तथा वह संज्वलन लोभ को दसवें गुणस्थान में उपशान्त करता है॥११॥

क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान

जिन्होंने मोहनीय-कर्म का सर्वथा क्षय किया है, परन्तु शेष घद्म (घतिकर्म) अभी विद्यमान हैं, वे क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहलाते हैं और उनका स्वरूप-विशेष क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान कहलाता है। बारहवें गुणस्थान के इस नाम में १ क्षीण-कषाय, २. वीतराग और ३. छद्मस्थ ये तीन विशेषण हैं और ये तीनों विशेषण व्यावर्तक हैं। क्योंकि 'क्षीणकषाय' इस विशेषण के अभाव में 'वीतरागछद्मस्थ' इतने नाम से बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त ग्यारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है और 'क्षीणकषाय' इस विशेषण से केवल बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है, (क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय क्षीण नहीं होते, किन्तु उपशान्त मात्र होते हैं।) तथा 'वीतराग' इस विशेषण के अभाव में भी क्षीणकषाय छद्मस्थगुणस्थान इतना ही नाम बारहवें गुणस्थान का ही बोधक नहीं होता, किन्तु चतुर्थ आदि गुणस्थानों का भी बोधक हो जाता है; क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबन्धि-आदि कषायों का क्षय हो सकता है। परन्तु 'वीतराग' इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि उन गुणस्थानों में किसी न किसी अंश में राग का उदय रहता ही है। अतएव वीतरागत्व असंभव है। इस प्रकार 'छद्मस्थ' इस विशेषण के न रहने से भी 'क्षीणकषाय वीतराग' इतना नाम बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु 'छद्मस्थ' इस विशेषण के रहने से बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। (क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को छद्म (घातिकर्म) नहीं होता।

बारहवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी जाती है। बारहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपक-श्रेणि वाले ही होते हैं।

क्षपक-श्रेणि का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—जो जीव क्षपक-श्रेणि को

करनेवाला होता है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सबसे पहले अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन-त्रिक इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय करता है। और इसके बाद आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क तथा प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क इन आठ कर्म-प्रकृतियों के क्षय का प्रारम्भ करता है तथा ये आठ प्रकृतियाँ पूर्ण क्षीण नहीं होने पातीं कि बीच में ही नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में १६ प्रकृतियों का क्षय कर डालता है। वे प्रकृतियाँ ये हैं—स्त्यानद्धि-त्रिक ३, नरक-द्विक ५, तिर्यग्-द्विक ७, जाति-चतुष्क ११, आतप १२, उद्योत १३, स्थावर १४, सूक्ष्म १५ और साधारण १६, इसके अनन्तर वह अप्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क का तथा प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का शेष भाग, जो कि क्षय होने से अभी तक बचा हुआ है, उसका क्षय करता है। और अनन्तर नौवें गुणस्थान के अन्त में क्रम से नपुंसकवेद का, स्त्रीवेद का, हास्यादि—षट्क का, पुरुषवेद का, संज्वलन क्रोध का, संज्वलन मान का और संज्वलन माया का क्षय करता है तथा अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय वह दसवें गुणस्थान में करता है॥१२॥

सयोगिकेवलिगुणस्थान

जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है और जो योग के सहित हैं वे सयोगि-केवली कहलाते हैं तथा उनका स्वरूप विशेष सयोगिकेवलिगुणस्थान कहलाता है।

आत्म-वीर्य, शक्ति, उत्साह, पराक्रम और योग इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। मन, वचन और काय इन तीन साधनों से योग की प्रवृत्ति होती है अतएव योग के भी अपने साधन के अनुसार तीन भेद होते हैं। जैसे—१. मनोयोग, २. वचनयोग और ३. काययोग। केवलिभगवान् को मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करना पड़ता है। जिस समय कोई मनःपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् को शब्द द्वारा न पूछकर मन से ही पूछता है। उस समय केवलिभगवान् उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करनेवाला मनःपर्यायज्ञानी या अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् के द्वारा उत्तर देने के लिये संगठित किये गये मनोद्रव्यों को, अपने मनः पर्यायज्ञान से अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है। और देखकर मनोद्रव्यों की रचना के आधार से अपने प्रश्न का उत्तर देने के लिये संगठित किये गये मनोद्रव्यों को, अपने मनःपर्यायज्ञान से अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है और

देखकर मनोद्वयों की रचना के आधार से अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। केवलिभगवान् उपदेश देने के लिये वचन योग का उपयोग करते हैं और हलन-चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं॥१३॥

अयोगिकेवलिगुणस्थान

जो केवलिभगवान् योगों से रहित हैं वे अयोगि-केवली कहलाते हैं तथा उनका स्वरूप-विशेष 'अयोगिकेवलिगुणस्थान' कहलाता है।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगि-अवस्था प्राप्त होती है। केवलज्ञानिभगवान्, सयोगि-अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिन केवली भगवान् के वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति तथा पुद्गल (परमाणु), आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे केवलज्ञानी समुद्धात करते हैं और समुद्धात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र-कर्म की स्थिति तथा परमाणुओं को आयु-कर्म की स्थिति तथा परमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म, स्थिति में तथा परमाणुओं में आयुकर्म के बराबर हैं, उनको समुद्धात करने की आवश्यकता नहीं है। अतएव वे समुद्धात को करते भी नहीं।

सभी केवलज्ञानी भगवान् सयोगि-अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं, जो कि परम-निर्जरा का कारणभूत तथा लेश्या से रहित और अत्यन्त स्थिरतारूप होता है।

योगों के निरोध का क्रम इस प्रकार है—

पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग तथा बादर वचनयोग को रोकते हैं। अनन्तर सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकते हैं, और पीछे उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग को तथा सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अन्त में वे केवलज्ञानी भगवान्, सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति-शुक्लध्यान के बल से सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस तरह सब योगों का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी भगवान् अयोगी बन जाते हैं। और उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति-शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग को—मुख, उदर-आदि भाग को—आत्मा के प्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। उनके आत्म-प्रदेश इतने संकुचित हो जाते हैं कि वे शरीर के तीसरे हिस्से में ही समा जाते हैं। इसके बाद वे अयोगिकेवलिभगवान् समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति-शुक्लध्यान को प्राप्त

करते हैं और मध्यम रीति से पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय का 'शैलेशीकरण' करते हैं। सुमेरु-पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व-संवर-रूप योग-निरोध-अवस्था को 'शैलेशी' कहते हैं तथा उस अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्र-कर्म की गुण-श्रेणि से और आयु-कर्म की यथास्थितश्रेणि से निर्जरा करने को 'शैलेशीकरण' कहते हैं। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगि-केवलज्ञानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपग्राहि-कर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एकसमयमात्र में ऋजु-गति से ऊपर की ओर सिद्धि-क्षेत्र में चले जाते हैं। सिद्धि-क्षेत्र, लोक के ऊपर के भाग में वर्तमान है। इसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय-द्रव्य की सहायता अपेक्षित होती है। परन्तु, लोक के आगे—अर्थात् अलोक में धर्मास्तिकाय-द्रव्य का अभाव है। कर्म-मल के हट जाने शुद्ध आत्मा के लेपों से युक्त तुम्बा, लेपों के हट जाने पर जल के तल से ऊपर की ओर चला आता है॥१४॥

गुणस्थानों का स्वरूप कहा गया। अब बन्ध के स्वरूप को दिखाकर प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियों को १० गाथाओं से दिखाते हैं—

**अभिनव-कम्म-ग्रहणं, बंधो ओहेण तत्थवीस-सयं।
तित्थयराहारग-दुग-वज्जं मिच्छंमि सत्तर-सयं।।३।।
(अभिनव-कर्म-ग्रहणं बन्ध ओघेन तत्र विंशति-शतम्।
तीर्थकराहारक-द्विक-वर्जं मिथ्यात्वे सप्तदश-शतम्।।३।।**

अर्थ—नये कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। सामान्य रूप से—अर्थात् किसी खास गुणस्थान की अथवा किसी जीवविशेष की विवक्षा किये बिना ही, बन्ध में १२० कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं—अर्थात् सामान्य रूप से बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ हैं। १२० कर्म-प्रकृतियों में से तीर्थङ्कर-नामकर्म और आहारक-द्विक को छोड़कर शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में होता है।

भावार्थ—जिस आकाश-क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश हैं उसी क्षेत्र में रहनेवाली कर्म-योग्य पुद्गलस्कन्धों की वर्गणाओं को कर्म-रूप से परिणत कर, जीव के द्वारा उनका ग्रहण होना यही अभिनव-कर्म-ग्रहण है। कर्म-योग्य पुद्गलों का कर्म-

रूप से परिणामन मिथ्यात्व-आदि हेतुओं से होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार, जीव के वैभाविक (विकृत) स्वरूप हैं, और इसी से वे, कर्म-पुद्गलों के कर्म-रूप बनने में निमित्त होते हैं। कर्म-पुद्गलों में जीव के ज्ञान-दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ति का हो जाना यही कर्म-पुद्गलों का कर्म-रूप बनना कहलाता है। मिथ्यात्व-आदि जिन वैभाविक स्वरूपों से कर्म-पुद्गल कर्म-रूप बन जाते हैं, उन वैभाविक-स्वरूपों को भाव-कर्म समझना चाहिये और कर्म-रूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्गलों को द्रव्य-कर्म समझना चाहिये। पहले ग्रहण किये गये द्रव्य-कर्म के अनुसार भाव-कर्म होते हैं और भाव-कर्म के अनुसार फिर से नवीन द्रव्यकर्मों का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार द्रव्य-कर्म से भाव-कर्म और भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म ऐसी कार्य-कारण-भाव की अनादि परम्परा चली आती है। आत्मा के साथ बँधे हुये कर्म जब परिणाम-विशेष से एक स्वभाव का परित्याग कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं तब उस स्वाभावान्तर-प्राप्ति को संक्रमण समझना चाहिये; बन्ध नहीं। इसी अभिप्राय को जनाने के लिये कर्म-ग्रहण मात्र को बन्ध न कह कर, गाथा में अभिनव-कर्म-ग्रहण को बन्ध कहा है। जीव के मिथ्यात्व आदि परिणामों के अनुसार कर्म-पुद्गल १२० रूपों में परिणत हो सकते हैं इसी से १२० कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध योग्य मानी जाती हैं। यद्यपि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय में कर्म-पुद्गलों को १२० रूपों में परिणत नहीं कर सकता— अर्थात् १२० कर्म-प्रकृतियों को बाँध नहीं सकता; परन्तु अनेक जीव एक समय में ही १२० कर्म-प्रकृतियों को बाँध सकते हैं। इसी तरह एक जीव भी भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न समय सब मिलाकर १२० कर्म-प्रकृतियों को भी बाँध सकता है। अतएव ऊपर कहा गया है कि किसी खास गुणस्थान की, और किसी खास जीव की विवक्षा किये बिना बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ १२० मानी जाती हैं। इसी से १२० कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को सामान्य बन्ध या ओष-बन्ध कहते हैं।

बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—

१. ज्ञानावरण की ५ कर्म-प्रकृतियाँ, जैसे—(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्यायज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।
२. दर्शनावरण की ९ प्रकृतियाँ, जैसे—(१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण,

- (५) निद्रा, (६) निद्रा-निद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला और (९) स्त्यानर्द्धि।
३. वेदनीय की २ प्रकृतियाँ, जैसे—(१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय।
४. मोहनीय की २६ प्रकृतियाँ, जैसे—मिथ्यात्वमोहनीय (१), अनन्तानुबन्धि-क्रोध, अनन्तानुबन्धि-मान, अनन्तानुबन्धि-माया, अनन्तानुबन्धि-लोभ (४), अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण-मान, अप्रत्याख्यानावरण-माया, अप्रत्याख्यानावरण-लोभ (४), प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण-मान, प्रत्याख्यानावरण-माया, प्रत्याख्यानावरण-लोभ (४), संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान, संज्वलनमाया, संज्वलनलोभ (४), स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद (३), हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा (६)।
५. आयु-कर्म की (४)-प्रकृतियाँ, जैसे—(१) नारक-आयु, (२) तिर्यञ्च-आयु, (३) मनुष्य-आयु और (४)-देव-आयु।
६. नामकर्म की ६७-प्रकृतियाँ जैसे—(१) नरकगतिनामकर्म, तिर्यञ्चगतिनामकर्म, मनुष्यगतिनामकर्म और देवगतिनामकर्म, ये चार गतिनामकर्म (२) एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, त्रीन्द्रिय-जातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म और पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म, ये पाँच जातिनामकर्म (३) औदारिकशरीरनामकर्म वैक्रियशरीरनामकर्म, आहारकशरीरनामकर्म, तैजसशरीरनामकर्म और कर्मणशरीरनामकर्म ये पाँच शरीरनामकर्म। (४) औदारिकअङ्गोपाङ्गनामकर्म, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग-नामकर्म और आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म ये तीन अङ्गोपाङ्गनामकर्म (५)। वज्रऋषभनाराचसंहनननामकर्म, ऋषभनाराचसंहनननामकर्म। नाराचसंहनननामकर्म, अर्धनाराचसंहनननामकर्म, कीलिकासंहनननामकर्म, सेवार्थसंहनननामकर्म—ये छः संहनननामकर्म (६) समचतुरस्र संस्थाननामकर्म, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्म, सादिसंस्थाननामकर्म, वामनसंस्थाननामकर्म, कुब्जसंस्थाननामकर्म और हुण्डसंस्थाननामकर्म ये छः संस्थाननामकर्म (७) वर्णनामकर्म (८) गन्धनामकर्म (९) रसनामकर्म (१०) स्पर्शनामकर्म (११) नरकानुपूर्वीनामकर्म, तिर्यगानुपूर्वीनामकर्म, मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म और देवानुपूर्वीनामकर्म—ये चार आनुपूर्वीनामकर्म (१२) शुभविहायोगतिनामकर्म और अशुभविहायोगतिनामकर्म ये दो

विहायोगतिनामकर्म, इस प्रकार ३९ भेद बारह पिण्ड-प्रकृतियों के हुये; क्योंकि बन्धननामकर्म और संघातनामकर्म—इन दो पिण्ड-प्रकृतियों का समावेश शरीरनामकर्म में ही किया जाता है।

- (१) पराघात-नामकर्म, (२) उपघातनामकर्म, (३) उच्छ्वासनामकर्म,
 (४) आतपनामकर्म, (५) उद्योतनामकर्म, (६) अगुरुलघुनामकर्म,
 (७) तीर्थङ्करनामकर्म (८) निर्माणनामकर्म ये आठ प्रत्येकनामकर्म।
 (१) त्रसनामकर्म, (२) बादरनामकर्म, (३) पर्याप्तनामकर्म,
 (४) प्रत्येकनामकर्म, (५) स्थिरनामकर्म (६) शुभनामकर्म,
 (७) सुभगनामकर्म, (८) सुस्वरनामकर्म, (९) आदेयनामकर्म और
 (१०) यशःकीर्तिनामकर्म—ये त्रसदशकनामकर्म
 (१) स्थावरनामकर्म, (२) सूक्ष्मनामकर्म, (३) अपर्याप्तनामकर्म,
 (४) साधारणनामकर्म, (५) अस्थिरनामकर्म, (६) अशुभनामकर्म,
 (७) दुर्भगनामकर्म, (८) दुःस्वर-नामकर्म, (९) अनादेयनामकर्म और
 (१०) अयशः कीर्तिनामकर्म-ये स्थावरदशकनामकर्म। ये कुल ६७ भेद हुये।
 ७. गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ, जैसे—(१) उच्चैर्गोत्र और (२) नीचैर्गोत्र।
 ८. अन्तरायकर्म की पाँच कर्म-प्रकृतियाँ, जैसे—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, और (५) वीर्यान्तराय।

इन १२० कर्म-प्रकृतियों में से तीर्थङ्करनामकर्म, आहारक शरीर और आहारकअङ्गोपाङ्ग इन तीन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध, मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवों को नहीं होता। इसका कारण यह है कि तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध, सम्यक्त्व से होता है और आहारक-द्विक का बन्ध, अप्रमत्तसंयम से। परन्तु मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में जीवों को न तो सम्यक्त्व ही सम्भव है और न अप्रमत्तसंयम ही; क्योंकि चौथे गुणस्थान से पहले सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता तथा सातवें गुणस्थान से पहले अप्रमत्तसंयम भी नहीं हो सकता। उक्त तीन कर्म-प्रकृतियों के बिना शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों से होता है, इसी से मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में वर्तमान जीव शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों को यथासम्भव बाँध सकते हैं।३॥

नरयतिगजाइथावर चउ, हुण्डायवछिवट्ट नपुमिच्छं।
 सोलंतो इगहिय सय, सासाणि तिरिथीणट्टहुगतिंगं ॥४॥
 नरकत्रिकजातिस्थावरचतुष्क, हुण्डातपसेवार्त नपुमिथ्यात्वम्
 षोडशान्तएकाधिकशतं, सास्वादने तिर्यक्स्थानर्द्धिदुर्भगत्रिकम् ॥४॥
 अणमज्झागिइ संघयण चउ, निउज्जोय कुखगइत्थिति।
 पणवीसंतो मीसे चउसयरिदुआउअअबन्धा ॥५॥

अनमध्याकृतिसंहनन चतुष्कनीचोदद्योत कुखगतिस्त्रीति।
 पंचविंशत्यन्तो मिश्रे, चतुःसप्तति द्वर्यायुष्काऽबन्धात् ॥५॥

अर्थ—सास्वादन-गुणस्थान में १०१ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि पूर्वोक्त ११७ कर्म-प्रकृतियों में से नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, हुण्डसंस्थान, आतपनामकर्म, सेवार्तसंहनन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व-मोहनीय इन १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान के अन्त में ही हो जाता है। इससे वे १६ कर्म-प्रकृतियाँ पहले गुणस्थान से आगे नहीं बाँधी जा सकतीं तथा तिर्यञ्चत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक अनन्तानुबन्धिकषाय चतुष्क, मध्यमसंस्थानचतुष्क, मध्यमसंहननचतुष्क, नीच गोत्र, उद्योतनामकर्म, अशुभविहायोगतिनामकर्म और स्त्रीवेद इन २५-कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में ही हो जाता है। इससे दूसरे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में उन २५ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो नहीं सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त १०१-कर्म-प्रकृतियों में से तिर्यञ्च-त्रिक-आदि उक्त २५ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ७७ कर्म-प्रकृतियाँ रह जाती हैं। उन ७६ कर्म-प्रकृतियों में से भी मनुष्य-आयु तथा देव-आयु को छोड़कर शेष ७४ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में (तीसरे गुणस्थान में) हो सकता है ॥५॥

भावार्थ—नरकगति, नरक-आनुपूर्वी और नरक-आयु इन तीन कर्म-प्रकृतियों को नरकत्रिक शब्द से लेना चाहिये जातिचतुष्क-शब्द का मतलब एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रियजाति इन चार जातिनामकर्मों से है। स्थावरचतुष्क शब्द, स्थावरनामकर्म से साधारण नामकर्म-पर्यन्त चार कर्म-प्रकृतियों का बोधक है। वे चार प्रकृतियाँ ये हैं—स्थावरनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म और साधारणनामकर्म।

नरक-त्रिक से लेकर मिथ्यात्व-मोहनीय-पर्यन्त, जो-१६ कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर दिखाई गई हैं वे अत्यन्त अशुभरूप हैं तथा बहुत कर नारक-जीवों के, एकेन्द्रिय जीवों के और विकलेन्द्रिय जीवों के योग्य हैं। इसी से ये सोलह कर्म-प्रकृतियाँ मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म के उदय से ही बाँधी जाती हैं। मिथ्यात्व-मोहनीय-कर्म का उदय पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है दूसरे गुणस्थान के समय नहीं। अतएव मिथ्यात्वमोहनीय-कर्म के उदय से बँधनेवाली उक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक हो सकता है। दूसरे गुणस्थान के समय नहीं। इसीलिये पहले गुणस्थान में जिन ११७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है उनमें से उक्त १६ कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०१-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध दूसरे गुणस्थान में माना जाता है।

तिर्यञ्चत्रिकशब्द से तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्च-आनुपूर्वी और तिर्यञ्च आयु इन तीन प्रकृतियों का ग्रहण होता है। स्त्यानर्द्धित्रिक शब्द से निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि इन तीन कर्म-प्रकृतियों का तथा दुर्भमत्रिक-शब्द से दुर्भगनामकर्म, दुःखरनामकर्म और अनादेयनामकर्म इन तीन कर्म-प्रकृतियों का ग्रहण होता है। अनन्तानुबन्धि-चतुष्कशब्द, अनन्तानुबन्धिक्रोध, अनन्तानुबन्धिमान, अनन्तानुबन्धिमाया और अनन्तानुबन्धिलोभ इन चार कषायों का बोधक है। मध्यमसंस्थान-चतुष्कशब्द आदि के और अन्त के संस्थान को छोड़ मध्य के शेष चार संस्थानों का बोधक है। जैसे—न्यग्रोधपरिमण्डल-संस्थान, सादिसंस्थान, वामनसंस्थान और कुब्जसंस्थान। इसी तरह मध्यम-संहननचतुष्क शब्द से आदि और अन्त के संहनन के अतिरिक्त बाद के चार संहनन ग्रहण किये जाते हैं। वे चार संहनन ये हैं—ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन और कोलिकासंहनन।

तिर्यञ्चत्रिक से लेकर स्त्रीवेदपर्यन्त जो २५ कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर कही हुई हैं उनका बन्ध अनन्तानुबन्धि-कषाय के उदय से होता है—अनन्तानुबन्धिकषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थानक में ही होता है, तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं। इसी से तिर्यञ्चत्रिक-आदि उक्त पच्चीसकर्म-प्रकृतियाँ भी दूसरे गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त ही बाँधी जा सकती हैं, परन्तु तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं बाँधी जा सकती। तीसरे गुणस्थान के समय जीव का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जिससे उस समय आयु का बन्ध होने नहीं पाता। इसी से मनुष्य-आयु तथा देव-आयु इन दो आयुओं का बन्ध भी तीसरे गुणस्थानक में नहीं होता। नरक-आयु तो नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त १६ कर्म-प्रकृतियों में ही गिनी जा चुकी

है तथा तिर्यञ्च-आयु भी तिर्यञ्चत्रिक आदि पूर्वोक्त पच्चीस कर्म-प्रकृतियों में आ जाती है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य जो १०१-कर्म-प्रकृतियाँ हैं उनमें से तिर्यञ्चत्रिक-आदि पूर्वोक्त २५ तथा मनुष्य-आयु और देव-आयु कुल २७ कर्म-प्रकृतियों के घट जाने से शेष ७४ कर्म-प्रकृतियाँ तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य रहती हैं॥४॥

सम्भे सगसयरि जिणाउबंधि, वइर नरतिग बियकसाया।

उरल दुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥६॥

सम्यक्त्वे सप्तसप्तति जिनायुर्बन्धे, वज्रनरत्रिक द्वितीय कषाया।

औदारिकद्विकान्तो देशे, सप्तषष्टिस्तृतीयकषायान्तः ॥६॥

तेवट्ठि पमते सोग अरइ, अथिर दुग अजस अस्सायं।

बुच्छिञ्ज छच्च सत्तव, नेइ सुराउं जयानिट्ठं ॥७॥

त्रिषष्टिः प्रमत्ते शोकारत्यस्थिर द्विकायशोऽसातम् ।

व्यवच्छिद्यंते षट्च सप्त वा नयति सुरायुर्थदा निष्ठां ॥७॥

गुणसट्ठि अपमत्ते सुराउबंधंतु जइ इहागच्छे ।

अन्नेह अट्ठावण्णा जं आहारग दुगं बंधे ॥८॥

एकोनषष्टिरप्रमत्ते सुरायुर्बंधन् यदीहागच्छेत् ।

अन्यथाऽष्टपञ्चाशद्यदाऽऽहारक द्विकं बन्धे ॥८॥

अर्थ—अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में ७७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। क्योंकि तीसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य पूर्वोक्त ७४ कर्म-प्रकृतियों को तथा जिननामकर्म, मनुष्य-आयु और देव-आयु को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव बाँध सकते हैं। देशविरति-नामक पाँचवें गुणस्थान में ६७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। क्योंकि पूर्वोक्त ७७ कर्म-प्रकृतियों में से वज्रऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यत्रिक, अप्रत्याख्यानावरण चार कषाय और औदारिकद्विक इन १० कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद चौथे गुणस्थान से आगे के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे चौथे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में उन १० कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में तीसरे चार कषायों का—अर्थात् प्रत्याख्यानावरण-कषाय की चार प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है॥६॥ अतएव पूर्वोक्त ६७ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त चार कषायों के घट जाने से शेष ६३ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध प्रमत्त-

संयत-नाम के छट्टे गुणस्थान में हो सकता है। छट्टे गुणस्थान के अन्तिम समय में शोक, अरक्ति अस्थिरद्विक, अयशःकीर्तिनामकर्म और असातावेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इससे उन छः कर्म-प्रकृतियों का बन्ध छट्टे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में नहीं होता। यदि कोई छट्टे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर देता है, तो उस जीव की अपेक्षा से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म-प्रकृतियाँ तथा देव-आयु कुल ७ कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध-विच्छेद छट्टे गुणस्थान के अन्तिम-समय में माना जाता है॥७॥

जो जीव छट्टे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये बिना ही, सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है अर्थात्—छट्टे गुणस्थान में देव आयु का बन्ध प्रारम्भ कर सातवें गुणस्थान में ही उसे समाप्त करता है, उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५९-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसके विपरीत जो जीव छट्टे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देव-आयु के बन्ध को, छट्टे गुणस्थान में ही समाप्त करता है—अर्थात् देव-आयु का बन्ध समाप्त करने के बाद ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है; क्योंकि सातवें गुणस्थान में आहारकद्विक का बन्ध भी हो सकता है॥८॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्करनामकर्म बाँधा जा सकता है। तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक, मनुष्य-आयु को बाँधते हैं। और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती मनुष्य तथा तिर्यञ्च देव-आयु को बाँधते हैं। इसी तरह चौथे गुणस्थान में उन ७४ कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध हो सकता है, जिनका कि बन्ध तीसरे गुणस्थान में होता है अतएव सब मिलाकर ७७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थानक में माना जाता है। अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध-मान-माया और लोभ इन चार कषायों का बन्ध चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है, इससे आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि पञ्चम-आदि गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय नहीं होता और कषाय के बन्ध के लिये यह साधारण नियम है कि जिस कषाय का उदय जितने गुणस्थानों में होता है उतने गुणस्थानों में ही उस कषाय का बन्ध हो सकता है। मनुष्यगति मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्य-आयु ये तीन कर्म-प्रकृतियाँ केवल मनुष्य-जन्म में ही भोगी जा सकती हैं। इसलिये उनका बन्ध भी चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है। क्योंकि पाँचवें—आदि गुणस्थानों में

मनुष्य-भव-योग्य-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। किन्तु देव-भव-योग्य कर्म-प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इस प्रकार वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन और औदारिकद्विक अर्थात् औदारिक शरीर तथा औदारिक अङ्गोपाङ्ग इन तीन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी पाँचवें आदि गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि वे तीन कर्म-प्रकृतियाँ मनुष्य के अथवा तिर्यञ्च के जन्म में ही भोगने योग्य हैं और पञ्चम-आदि गुणस्थानों में देव के भव में भोगी जा सकें ऐसी कर्म-प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इस तरह चौथे गुणस्थान में जिन ७७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें से वज्रऋषभ-नाराच-संहनन-आदि उक्त १० कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ६७ कर्म-प्रकृतियों का ही बन्ध पाँचवें गुणस्थानक में होता है।

प्रत्याख्यानावरण-क्रोध, प्रत्याख्यानावरण-मान, प्रत्याख्यानावरण-माया और प्रत्याख्यानावरण-लोभ इन चार कषायों का बन्ध पञ्चम-गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि छठे आदि गुणस्थानों में उन कषायों का उदय ही नहीं है। इसलिये पाँचवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६७ कर्म-प्रकृतियों में से, प्रत्याख्यानावरणक्रोध-आदि उक्त चार कषायों को छोड़कर शेष ६३ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध छठे गुणस्थान में माना जाता है।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर, उसे उस गुणस्थान में समाप्त किये बिना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, और फिर सातवें गुणस्थान में ही देव-आयु के बन्ध को समाप्त करते हैं तथा दूसरे वे, जो देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ तथा उसकी समाप्ति दोनों छठे गुणस्थान में ही करते हैं और अनन्तर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छठे गुणस्थान के अन्तिम-समय में अरति, शोक, अस्थिरनाम-कर्म, अशुभनाम-कर्म, अयशःकीर्तिनाम-कर्म और असातावेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है और दूसरे प्रकार के जीवों को छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उक्त ६ कर्म-प्रकृतियाँ तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद होता है। अतएव छठे गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६३ कर्म-प्रकृतियों में से अरति, शोक-आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने पर, पहले प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध योग्य ५७-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती हैं और अरति, शोक-आदि उक्त ६ तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने पर दूसरे प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध-योग्य ५६

कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। परन्तु आहारक-शरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग इन दो कर्म-प्रकृतियों को उक्त दोनों प्रकार के जीवों की अपेक्षा से सातवें गुणस्थान में उक्त ५७ और २ कुल ५९ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है। दूसरे प्रकार के जीवों की अपेक्षा से उक्त ५६ और २-कुल ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध सातवें गुणस्थान में माना जाता है॥६७॥८॥

अडवम्न अपुव्वाइमि निह दुगंतो छपन्न पणभागे।

सुर दुग पणिंदि सुखगइ, तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥९॥

अष्टापञ्चाशदपूर्वादौ निद्राद्विकान्तः षट्पञ्चाशत् पञ्चभाग।

सुरद्विक पञ्चेन्द्रिय सुखगति त्रसनवकमौदारिकाद्विना तनूपाङ्गानि॥९॥७॥

समचउरनिमिण जिणवण्ण अगुरुलहु चउ छलंसि तीसंतो।

चरमे छवीस बंधो हासरई कुच्छभयभेओ ॥१०॥

समचतुरस्रनिर्माण जिनवणाऽगुरुलघुचतुष्कं षष्ठांशे त्रिंशदन्तः

चरमे षड्विंशतिबन्धो हास्यरतिकुत्साभयभेदः॥१०॥

अनियद्वि भागपणगे, इगोग हीणो दुवीसवीहबंधो।

पुम संजलण चउण्हं, कमेण छेओ सतरसुहुमे ॥११॥

अनिवृत्ति भागपञ्चक, एकैकहीनो द्वाविंशतिविधबन्धः।

पुंसंज्वलन चतुर्णो क्रमेणच्छेदः सप्तदशसूक्ष्मे ॥११॥

अर्थ—आठवें गुणस्थान के पहले भाग में ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। दूसरे भाग से लेकर छठे भाग तक पाँच भागों में ५६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का बन्ध विच्छेद पहले भाग के अन्त में ही हो जाता है। इससे वे दो कर्म-प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के पहले भाग के आगे बाँधी नहीं जा सकती। तथा सुरद्विक (२) (देवगति देव-आनुपूर्वी), पञ्चेन्द्रियजाति, (३) शुभ-विहायोगति (४), त्रसनवक (१३) (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय), औदारिक शरीर के अतिरिक्त चार शरीर नामकर्म, जैसे—वैक्रियशरीरनामकर्म (१४), आहारक-शरीरनामकर्म (१५), तैजस्रशरीरनामकर्म, (१६) और कार्मण-शरीरनामकर्म (१७), औदारिक-अङ्गोपाङ्ग को छोड़कर दो अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-(१८) तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग (१९)॥ समचतुरस्रसंस्थान (२०), निर्माणनामकर्म (२१), तीर्थङ्करनामकर्म (२२), वर्ण (२३), गन्ध

(२४), रस (२५) और स्पर्शनामकर्म (२६), अगुरुलघुचतुष्क; जैसे— अगुरुलधुनामकर्म (२७) उपघातनामकर्म (२८) पराघातनामकर्म (२९), और उच्छ्वासनामकर्म (३०) ये नामकर्म की ३० प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक ही बाँधी जाती हैं; इससे आगे नहीं। अतएव पूर्वोक्त ५६ कर्म-प्रकृतियों में से नाम-कर्म की इन ३० प्रकृतियों के घटा देने पर शेष २६-कर्म-प्रकृतियों का ही बन्ध आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में होता है। हास्य, रति, जुगुप्सा और भय इन नो-कषाय—मोहनीयकर्म की चार प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे उन ४ प्रकृतियों का बन्ध नौवें आदि गुणस्थानों में नहीं होता।।१०॥

अतएव पूर्वोक्त २६-कर्म-प्रकृतियों में से हास्य-आदि उक्त चार प्रकृतियों को घटाकर शेष कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नौवें गुणस्थान के पहले भाग में होता है। पुरुषवेद, संज्वलन-क्रोध, संज्वलन-मान, संज्वलन-माया और संज्वलन-लोभ इन पाँच प्रकृतियों में से एक-एक प्रकृति का बन्ध-विच्छेद क्रमशः नौवें गुणस्थान के पाँच भागों में से प्रत्येक भाग के अन्तिम समय में होता है, जैसे— पूर्वोक्त २२ कर्म-प्रकृतियों में से पुरुष-वेद का बन्ध-विच्छेद नौवें गुणस्थान के पहले भाग के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे शेष २१ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध दूसरे भाग में हो सकता है। इन २१ कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन-क्रोध का बन्ध-विच्छेद दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे शेष २०-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध तीसरे भाग में हो सकता है। इन २० कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलनमान का बन्ध तीसरे भाग के अन्तिम-समय तक ही हो सकता है, आगे, नहीं; इसी से शेष १९ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध, चौथे भाग में होता है। तथा इन १९ कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन माया चौथे भाग के अन्तिम-समय तक ही बाँधी जाती है, आगे नहीं। अतएव शेष १८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नौवें गुणस्थान के पाँचवें भाग में होता है। इस प्रकार इन १८ कर्म-प्रकृतियों में से भी संज्वलन-लोभ का बन्ध नौवें गुणस्थान के पाँचवें भाग-पर्यन्त ही होता है, आगे दसवें आदि गुणस्थानों में नहीं होता। अतएव उन १८ कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन लोभ को छोड़कर शेष १७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध दसवें गुणस्थान में होता है।।११॥

भावार्थ—सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में परिणाम इतने स्थिर और शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उन गुणस्थानों में आयु का बन्ध नहीं होता। यद्यपि सातवें गुणस्थान में ५९ कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का भी पक्ष

ऊपर कहा गया है और उसमें देव-आयु के बन्ध की सातवें गुणस्थान में जो समाप्ति होती है उसी की अपेक्षा से सातवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य ५९ कर्म-प्रकृतियों में देव-आयु की गणना की गई है। सातवें गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ नहीं होता और आठवें आदि गुणस्थानों में तो देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ और समाप्ति दोनों नहीं होता। अतएव देव-आयु को छोड़ ५८ कर्म-प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में बन्ध-योग्य मानी जाती हैं। आठवें तथा नौवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। आठवें गुणस्थान की स्थिति के सात भाग होते हैं। इनमें से प्रथम भाग में, दूसरे से लेकर छठे तक पाँच भागों में और सातवें भाग में जितनी-जितनी कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है; वह नौवीं तथा दसवीं गाथा के अर्थ में दिखाया गया है। इस प्रकार नौवें गुणस्थान की स्थिति के पाँच भाग होते हैं। उनमें से प्रत्येक भाग में जो बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ हैं, उनका कथन ग्यारहवीं गाथा के अर्थ में कर दिया गया है॥९॥१०-११॥

चउदसणुच्चजसनाण विग्घदसगति सोल सुच्छेओ।

तिसु सायबंध छेओ सजोगिबंधंतु णंतो अ॥१२॥

(चतुर्दशानोच्चयशोज्ञानविघ्नदशकमिति षोडशोच्छेदः।

त्रिषु सातबन्धश्छेदः सयोगिनि बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च ॥१२॥

अर्थ—दसवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य १७ कर्म-प्रकृतियों में से ४-दर्शनावरण, उच्चगोत्र, यशःकीर्तिनामकर्म, ५-ज्ञानावरण और ५-अन्तराय इन १६-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध विच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्त में होता है। इससे केवल सातावेदनीय कर्म-प्रकृति शेष रहती है। उसका बन्ध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में होता है। तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में सातावेदनीय का बन्ध भी रुक जाता है इससे चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता। अर्थात्—अबन्धक अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार जिन-जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का जहाँ-जहाँ अन्त (विच्छेद) होता है और जहाँ-जहाँ अन्त नहीं होता; उसका वर्णन हो चुका॥१२॥

भावार्थ—४ दर्शनावरण-आदि जो १६ कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर दिखाई गई हैं उनका बन्ध कषाय के उदय से होता है और दसवें गुणस्थान से आगे कषाय का उदय नहीं होता; इसी से उक्त सोलह कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी दसवें गुणस्थान तक ही होता है। यह सामान्य नियम है कि कषाय का उदय कषाय

के बन्ध का कारण होता है और दसवें गुणस्थान में लोभ का उदय रहता है। इसलिये उस गुणस्थान में उक्त नियम के अनुसार लोभ का बन्ध होना चाहिये। ऐसी शङ्का यद्यपि हो सकती है; तथापि इसका समाधान यह है कि स्थूल-लोभ के उदय से लोभ का बन्ध होता है; सूक्ष्म-लोभ के उदय से नहीं। दसवें गुणस्थान में तो सूक्ष्म लोभ का ही उदय रहता है। इसलिये उस गुणस्थान में लोभ का बन्ध माना नहीं जाता।

ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थान में सातावेदनीय का बन्ध होता है, सो भी योग के निमित्त से; क्योंकि उन गुणस्थानों में कषायोदय का सर्वथा अभाव ही होता है। अतएव योग-मात्र से होनेवाला वह सातावेदनीय का बन्ध, मात्र दो समयों की स्थिति का ही होता है।

चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाता है, इसी से सातावेदनीय का बन्ध भी उस गुणस्थान में नहीं होता, और अबन्धकत्व-अवस्था प्राप्त होती है। जिन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध जितने कारणों से होता है, उतने कारणों के रहने तक ही, उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है और उतने कारणों में से किसी एक कारण के कम हो जाने से भी उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। शेष सब कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। जैसे—नरक-त्रिक-आदि पूर्वोक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन चार कारणों से होता है। ये चारों कारण पहले गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त रहते हैं इसलिये उक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी उस समयपर्यन्त हो सकता है, परन्तु पहले गुणस्थान से आगे मिथ्यात्व आदि उक्त चार कारणों में से मिथ्यात्व नहीं रहता, इससे नरकत्रिक-आदि पूर्वोक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी पहले गुणस्थान से आगे नहीं होता; और सब कर्म-प्रकृतियों का बन्ध यथासम्भव होता ही है। इस प्रकार दूसरी २ कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का अन्त (विच्छेद) और अन्ताभाव (विच्छेदाभाव) ये दोनों, बन्ध के हेतु के विच्छेद और अविच्छेद पर निर्भर हैं॥१२॥

॥ बन्धाधिकार समाप्त ॥

*

बन्ध-यत्र

| गुणस्थानों के नाम | मूल-प्रकृतियों | उत्तर-प्रकृतियों | ज्ञानावरणीय | दर्शनावरणीय | वेदनीय | मोहनीय | आयुर्कर्म | नामकर्म | गोत्रकर्म | अन्तरायकर्म | |
|------------------------|----------------|------------------|-------------|-------------|--------|--------|-----------|---------|-----------|-------------|---|
| ० ओघ से. | ८ | १२० | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६७ | २ | ५ | |
| १. मिथ्यात्व में | ८ | ११७ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ | |
| २. सास्वादन में. | ८ | १०१ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ | |
| ३. मिश्र में. | ८ | ७४ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ | |
| ४. अविरत में. | ८ | ७७ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ | |
| ५. देशविरत में. | ८ | ६७ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ | |
| ६. प्रमत्त में. | ८ | ६३ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ | |
| ७. अप्रमत्त में. | ८ | ५९ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ३१ | १ | ५ | |
| | ७ | ५८ | ५ | ९ | १ | ९ | ० | ३१ | १ | ५ | |
| अपूर्वकरणगुणस्थान में. | १ | ७ | ५८ | ५ | ३ | १ | ९ | ० | ३१ | १ | ५ |
| | २ | ७ | ५९ | ५ | ४ | १ | ९ | ० | ३१ | १ | ५ |
| | ३ | ७ | ५९ | ५ | ४ | १ | ९ | ० | ३१ | १ | ५ |
| | ४ | ७ | ५९ | ५ | ४ | १ | ९ | ० | ३१ | १ | ५ |
| | ५ | ७ | ५९ | ५ | ४ | १ | ९ | ० | ३१ | १ | ५ |
| | ६ | ७ | ५९ | ५ | ४ | १ | ९ | ० | ३१ | १ | ५ |
| | ७ | ७ | २६ | ५ | ४ | १ | ९ | ० | १ | १ | ५ |
| अलिवृत्ति गु. में. | १ | ७ | २२ | ५ | ४ | १ | ५ | ० | १ | १ | ५ |
| | २ | ७ | २१ | ५ | ४ | १ | ४ | ० | १ | १ | ५ |
| | ३ | ७ | २० | ५ | ४ | १ | ३ | ० | १ | १ | ५ |
| | ४ | ७ | १९ | ५ | ४ | १ | २ | ० | १ | १ | ५ |
| | ५ | ७ | १८ | ५ | ४ | १ | १ | ० | १ | १ | ५ |
| सूक्ष्मसम्पराय में. | ६ | १७ | ५ | ४ | १ | ० | ० | १ | १ | ५ | |
| उपशान्तमोह में | १ | १ | ० | ० | १ | ० | ० | १ | १ | ५ | |
| क्षीणमोह में. | १ | १ | ० | ० | १ | ० | ० | ० | ० | ० | |
| सयोगि गु. में. | १ | १ | ० | ० | १ | ० | ० | ० | ० | ० | |
| अयोगि गु. में. | १ | १ | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | |

॥ ओम् ॥

उदयाधिकार

पहले उदय और उदीरणा का लक्षण कहते हैं, अनन्तर प्रत्येक गुणस्थान में जितनी-जितनी कर्म-प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है उनको बारह गाथाओं से दिखाते हैं

उदओ विवाग-वेयण मुदीरण मपत्ति इह दुवीससयं।

सतर-सयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणणुदया ॥१३॥

उदयो विपाक-वेदन मुदीरणमप्राप्त इह द्वाविंशति-शतम्।

सप्तदश-शतं मिथ्यात्वेमिश्र-सम्यगाहारक-जिनानुदयात् ॥१३॥

अर्थ—विपाक का समय प्राप्त होने पर ही कर्म के विपाक (फल) को भोगना उदय कहते हैं और विपाक का समय प्राप्त न होने पर कर्मफल को भोगना 'उदीरणा' कहते हैं। उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ १२२ हैं। उनमें से ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में हो सकता है, क्योंकि १२२ में से मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारक-शरीर, आहारक-अङ्गोपाङ्ग और तीर्थङ्करनामकर्म इन पाँच कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में नहीं होता॥१६॥

भावार्थ—आत्मा के साथ लगे हुये कर्म-दलिक, नियत समय पर अपने शुभाशुभ-फलों का जो अनुभव कराते हैं वे 'उदय' कहलाते हैं। कर्म-दलिकों को प्रयत्न-विशेष से खींचकर नियत-समय के पहले ही उनके शुभाशुभ फलों को भोगना, 'उदीरणा' कहलाती है। कर्म के शुभाशुभ फल के भोगने का ही नाम उदय तथा उदीरणा है, किन्तु दोनों में भेद इतना ही है कि एक में प्रयत्न के बिना ही स्वाभाविक क्रम से फल का भोग होता है और दूसरे में प्रयत्न के करने पर ही फल का भोग होता है। कर्म-विपाक के वेदन को उदय तथा उदीरणा कहने का अभिप्राय यह है कि प्रदेशोदय, उदयाधिकार में इष्ट नहीं है।

तीसरी गाथा के अर्थ में बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं, वे तथा मिश्र-मोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय ये दो, कुल १२२ कर्म-प्रकृतियाँ

उदययोग्य तथा उदीरणा योग्य मानी जाती हैं।

बन्ध केवल मिथ्यात्व-मोहनीय का ही होता है, मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्व-मोहनीय का नहीं। परन्तु वही मिथ्यात्व; जब परिणाम-विशेष से अर्द्धशुद्ध तथा शुद्ध हो जाता है तब मिश्र-मोहनीय तथा सम्यक्त्व-मोहनीय के रूप में उदय में आता है। इसी से उदय में ये दोनों कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध की अपेक्षा अधिक मानी जाती हैं।

मिश्र-मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में ही होता है। सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक हो सकता है। आहारक-शरीर तथा आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय छठे या सातवें गुणस्थान में ही हो सकता है। तीर्थङ्कर-नामकर्म का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ही हो सकता है। इसी से मिश्र-मोहनीय-आदि उक्त पाँच कर्म-प्रकृतियों को छोड़ शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में यथासम्भव माना जाता है ॥१३॥

सुहुम-तिगायव मिच्छं मिच्छंतं सासणे इगार-सवं।

निरयाणुपुव्वि-णुदया अण-थावर-इग-विगल-अन्तो।।१४।।

सूक्ष्म-त्रिकातप-मिथ्यं मिथ्यान्तं सास्वादन एकादश-शतम्।

निरयानुपूर्व्यनुदया दनस्थावरैकविकलान्तः।।१४।।

मीसे सयमणुपुव्वी-णुदयामीसोदएण मीसंतो।

चउसयमजएसम्माणुपुव्वि-खेवा बिय-कसाया।।१५।।

मिश्रे शत मानुपूर्व्यनुदयान्मिश्रोदयेन मिश्रान्तः।

चतुःशतमयते सम्यगानुपूर्वीक्षेपाद्द्वितीयकषायाः।।१५।।

मणुतिरिणु पुव्विविउवट्ट दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ।

सगसीइ देसि तिरिगइ आउ निउज्जोय तिकसाया।।१६।।

मनुज-तिर्यगानुपूर्वी-वैक्रियाष्टकंदुर्भगमनादेयद्विकंसप्तदशच्छेद

सप्ताशितिर्देशे तिर्यगत्यायुर्नीचोद्योत-तृतीय-कषायाः १६।

अट्टुच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा।

थीणतिगा-हारग-दुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते।।१७।।

अष्टच्छेद एकाशितिः प्रमत्ते आहारक-युगलप्रक्षेपात्।

स्त्यानर्द्धित्रिकाहारक-द्विकच्छेदः षट्-सप्तति रप्रमत्ते।।१७।।

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है; क्योंकि जिन ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में होता है उनमें से सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनामकर्म और साधारणनामकर्म) आतपनामकर्म मिथ्यात्वमोहनीय और नरकानुपूर्वी-इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान में वर्तमान-जीवों को नहीं होता। अनन्तानुबन्धी चार कषाय, स्थावरनामकर्म, एकेन्द्रिय-जाति नामकर्म, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) जातिनामकर्म॥१४॥ और शेष आनुपूर्वी तीन अर्थात् तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुजानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन १२-कर्मप्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान के समय नहीं होता; परन्तु मिश्र-मोहनीयकर्म का उदय होता है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान की उदय-योग्य १११-कर्म-प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी चार कषाय-आदि उक्त १२ कर्म-प्रकृतियों के घट जाने पर, शेष जो ९९ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं उनमें मिश्र-मोहनीय-कर्म मिलाकर कुल १०० कर्म-प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान स्थित जीवों को हो सकता है।

चौथे गुणस्थान में वर्तमान जीवों को १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है; क्योंकि जिन १०० कर्म-प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है उनमें से केवल मिश्र मोहनीय-कर्म का ही उदय चौथे गुणस्थान में नहीं होता, शेष ९९ कर्म-प्रकृतियों का उदय तो होता ही है तथा सम्यक्त्व मोहनीयकर्म और चारों आनुपूर्वियों का उदय भी सम्भव है। अप्रत्याख्यानावरण चार कषाय॥१५॥ मनुष्य-आनुपूर्वी (५) तिर्यञ्च-आनुपूर्वी (६) वैक्रियअष्टक (देवगति, देव-आनुपूर्वी, नरकगति, नरक-आनुपूर्वी, देव-आयु, नरक-आयु, वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग (१४) दुर्भगनामकर्म (१५) और अनादेयद्विक (अनादेयनामकर्म तथा अयशः कीर्तिनामकर्म) (१७) इन सत्रह कर्म-प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य (१०४) कर्म-प्रकृतियों में से घटा देने पर, शेष (८७) कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। उन्हीं (८७) कर्म-प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में होता है।

उक्त ८७-कर्म-प्रकृतियों में से तिर्यञ्चगति (१) तिर्यञ्चायु (२) नीचगोत्र (३) उद्योतनामकर्म (४) और प्रत्याख्यानावरण चार कषाय (८) ॥१६॥

उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों को घटाने से, शेष (७९) कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। उनमें आहारक शरीर नामकर्म तथा आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म इन दो प्रकृतियों के मिलाने से कुल (८१) कर्म-प्रकृतियाँ हुईं। छठे गुणस्थान में इन्हीं (८१) कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

सातवें गुणस्थान में ७६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि पूर्वोक्त (८१)-कर्म-प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहरकद्विक इन (५) कर्म-प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है; आगे के गुणस्थानों में नहीं।।१७।।

भावार्थ—सूक्ष्मनामकर्म-का उदय, सूक्ष्म-जीवों को ही अपर्याप्त-नामकर्म का उदय, अपर्याप्त जीवों को ही और साधारण-नाम-कर्म का उदय अनन्त-कायिक-जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और अनन्त-कायिक जीवों को न तो सास्वादन-सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न कोई सास्वादन-प्राप्त-जीव, सूक्ष्म, अपर्याप्त या अनन्तकायिक रूप से पैदा होता है। तथा आतप-नाम-कर्म का उदय बादर-पृथ्वी-कायिक जीव को ही होता है, सो भी शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही; पहले नहीं। परन्तु सासादन-सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर-पृथ्वीकाय में जन्म ग्रहण करते हैं वे शरीर-पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही-अर्थात् आतप-नामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही-पूर्वप्राप्त सास्वादनसम्यक्त्व का वमन कर देते हैं अर्थात् बादर-पृथ्वी-कायिक जीवों को, जब सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव होता है तब आतप नामकर्म का उदय सम्भव नहीं है और जिस समय आतपनामकर्म का सम्भव होता है उस समय उनको सास्वादन-सम्यक्त्व सम्भव नहीं होता है। तथा मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में ही होता है किन्तु सास्वादन-सम्यक्त्व पहले गुणस्थान के समय, कदापि नहीं होता। इससे मिथ्यात्व के उदय का और सम्यक्त्व का किसी भी जीव में एक समय में होना असंभव है। इसी प्रकार नरक-आनुपूर्वी का उदय, वक्रगति से नरक में जानेवाले जीवों को होता है। परन्तु उन जीवों को उस अवस्था में सास्वादन सम्यक्त्व नहीं होता। इससे नरक-आनुपूर्वी का उदय और सास्वादन-सम्यक्त्व इन दोनों का किसी भी जीव में एक साथ होना असम्भव है। अतएव सासादन सम्यग्दृष्टि नामक दूसरे गुणस्थान में सूक्ष्म-नामकर्म से लेकर नरक-आनुपूर्वीपर्यन्त ६-कर्म-प्रकृतियों के उदय का निषेध किया है, और पहले गुणस्थान की उदययोग्य कर्म-प्रकृतियों में से उक्त ६-प्रकृतियों को छोड़कर, शेष कर्म-प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान के समय माना गया है। अनन्तानुबन्धी-कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान में ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। स्थावर-नामकर्म, एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म, त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म, और चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म के उदयवाले जीवों में, तीसरे गुणस्थान से लेकर आगे का कोई भी गुणस्थान नहीं

होता। क्योंकि स्थावर-नामकर्म का और एकेन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवों को होता है। द्वीन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय द्वीन्द्रियों को; त्रीन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय त्रीन्द्रियों को और चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय चतुरिन्द्रिय-पर्यन्त के जीवों में, पहला या दूसरा दो ही गुणस्थान हो सकता है। आनुपूर्वी का उदय जीवों को उसी समय में होता है जिस समय कि वे दूसरे स्थान में जन्म ग्रहण करने के लिये वक्रगति से जाते हैं। परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव मरता नहीं है; इससे आनुपूर्वी-नाम-कर्म के उदयवाले जीवों में तीसरे गुणस्थान की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। अतएव दूसरे गुणस्थान में जिन १११ कर्म-प्रकृतियों का उदय माना जाता है उनमें से अनन्तानुबन्धिकाषाय-आदि पूर्वोक्त १२-कर्म-प्रकृतियों को छोड़ देने से ९९-कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग्य रहती हैं। मिश्रमोहनीयकर्म का उदय भी तीसरे गुणस्थान में अवश्य ही होता है इसीलिये, उक्त ९९ और १ मिश्रमोहनीय, कुल १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय उस गुणस्थान में माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में जिन १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है उन में से मिश्रमोहनीय के अतिरिक्त शेष ९९ ही कर्म-प्रकृतियों का उदय चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों को हो सकता है तथा चतुर्थ गुणस्थान के समय सम्यक्त्व-मोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वी नामकर्मों के उदय का सम्भव है; इसीलिये पूर्वोक्त ९९ और सम्यक्त्व-मोहनीय-आदि (५), कुल १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, उक्त गुणस्थान में वर्तमान जीवों को माना जाता है।

जब तक अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय रहता है तब तक जीवों को पञ्चम गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय, पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों में ही समझना चाहिये; पाँचवें आदि गुणस्थानों में नहीं तथा पाँचवें से लेकर आगे के गुणस्थान, मनुष्यों और तिर्यञ्चों में यथासम्भव हो सकते हैं; देवों तथा नारकों में नहीं। मनुष्य और तिर्यञ्च भी आठ वर्ष की उम्र होने के बाद ही, पञ्चम-आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर सकते हैं; पहले नहीं। परन्तु आनुपूर्वी का उदय वक्रगति के समय ही होता है। इसलिये, किसी भी आनुपूर्वी के उदय के समय जीवों में पञ्चम-आदि गुणस्थान असम्भव हैं, नरक-गति तथा नरक-आयु का उदय नारकों को ही होता है; देवगति तथा देववायु का उदय देवों में ही पाया जाता है; और वैक्रिय-शरीर तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय देव तथा नारक दोनों में होता है। परन्तु कहा जा चुका है कि देवों और नारकों में पञ्चम-आदि गुणस्थान

नहीं होते। इस प्रकार दुर्भग-नामकर्म, अनादेय-नामकर्म और अयशः-कीर्तिनामकर्म, ये तीनों प्रकृतियाँ, पहले चार गुणस्थानों में ही उदय को पा सकती हैं; क्योंकि पञ्चम-आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने पर, जीवों के परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उस समय, उन तीन प्रकृतियों का उदय हो ही नहीं सकता। अतएव चौथे गुणस्थान में उदययोग्य जो १०४ कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं उनमें से अप्रत्याख्यानारण-कषाय-चतुष्क आदि पूर्वोक्त १७ कर्म-प्रकृतियों को घटा कर, शेष ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में माना जाता है। पञ्चम-गुणस्थानवर्ती मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही, जिनको कि वैक्रियलब्धि प्राप्त हुई है, वैक्रियलब्धि के बल से वैक्रियशरीर को तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग को बना सकते हैं। इसी तरह छठे गुणस्थान में वर्तमान वैक्रियलब्धि-सम्पन्न, मुनि भी वैक्रिय-शरीर तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग को बना सकते हैं। उस समय उन मनुष्यों को तथा तिर्यञ्चों को, वैक्रियशरीर नामकर्म का तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय अवश्य रहता है इसीलिये, यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि पाँचवें तथा छठे गुणस्थान की उदय-योग्य प्रकृतियों में वैक्रिय-शरीर-नाम-कर्म तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म इन दो प्रकृतियों की गणना क्यों नहीं की जाती है? तथापि इसका समाधान इतना ही है कि, जिनको जन्मपर्यन्त वैक्रिय-शरीर-नामकर्म का तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय रहता है उनकी (देव तथा नारकों की) अपेक्षा से ही उक्त दो प्रकृतियों के उदय का विचार इस जगह किया गया है। मनुष्यों में और तिर्यञ्चों में तो कुछ समय के लिये ही उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, वह भी सब मनुष्यों और तिर्यञ्चों में नहीं। इसी से मनुष्यों और तिर्यञ्चों की अपेक्षा से पाँचवें तथा छठे गुणस्थान में, उक्त दो कर्म-प्रकृतियों के उदय का सम्भव होने पर भी, उसकी विवक्षा नहीं की है।

जिन ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में माना जाता है उन में से तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्च-आयु, नीचगोत्र, उद्द्योत-नामकर्म और प्रत्याख्यानारण-कषाय-चतुष्क इन ८ कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर, शेष ७९—कर्म-प्रकृतियों का उदय, छठे गुणस्थान में हो सकता है। तिर्यञ्च-गति आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों का उदय, पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है, आगे नहीं। इसका कारण यह है कि, तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्च-आयु और उद्द्योत नामकर्म इन तीन प्रकृतियों का उदय तो तिर्यञ्चों को ही होता है परन्तु तिर्यञ्चों में पहले पाँच गुणस्थान ही हो सकते हैं, आगे के गुणस्थान नहीं। नीच

गोत्र का उदय भी मनुष्यों को चार गुणस्थान तक ही हो सकता है। पञ्चम आदि गुणस्थान प्राप्त होने पर, मनुष्यों में ऐसे गुण प्रकट होते हैं कि जिनसे उनमें नीच-गोत्र का उदय हो ही नहीं सकता और उच्च-गोत्र का उदय अवश्य हो जाता है। परन्तु तिर्यञ्चों को तो अपने योग्य सब गुणस्थानों में—अर्थात् पाँचों गुणस्थानों में स्वभाव से ही नीच गोत्र का उदय रहता है; उच्च-गोत्र का उदय होता ही नहीं तथा प्रत्याख्यानावरण चार कषायों का उदय जब तक रहता है तब तक छठे गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती; और छठे आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने के बाद भी प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय हो नहीं सकता। इस प्रकार तिर्यञ्च-गति-आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों के बिना जिन ७९-कर्म-प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में होता है उनमें आहारक-शरीर-नामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग नामकर्म, ये दो प्रकृतियाँ और भी मिलानी चाहिये जिससे छठे गुणस्थान में उदय योग्य कर्म-प्रकृतियाँ ८१ होती हैं। छठे गुणस्थान में आहारक शरीर-नामकर्म का तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय उस समय पाया जाता है जिस समय कि कोई चतुर्दश पूर्वधर-मुनि, लब्धि के द्वारा आहारक-शरीर की रचना कर उसे धारण करता है। जिस समय कोई वैक्रिय-लब्धिधारी मुनि, लब्धि से वैक्रिय-शरीर को बनाकर उसे धारण करता है उस समय उसको उद्द्योत-नामकर्म का उदय होता है। क्योंकि शास्त्र में इस आशय का कथन पाया जाता है कि यति को वैक्रिय-शरीर धारण करते समय और देव को उत्तर वैक्रिय-शरीर धारण करते समय उद्द्योत-नामकर्म का उदय होता है। अब इस जगह यह शङ्का हो सकती है कि जब वैक्रिय-शरीर यति की अपेक्षा से छठे गुणस्थान में भी उद्द्योत-नामकर्म का उदय पाया जाता है तब पाँचवें गुणस्थान तक ही उसका उदय क्यों माना जाता है? परन्तु इसका समाधान सिर्फ इतना ही है कि जन्म के स्वभाव से उद्द्योत-नामकर्म का जो उदय होता है वही इस जगह विवक्षित है; लब्धि के निमित्त से होनेवाला उद्द्योत-नामकर्म का उदय विवक्षित नहीं है। छठे गुणस्थान में उदययोग्य जो ८१ कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं उनमें से स्त्यानर्द्धि-त्रिक और आहारक-द्विक इन पाँच कर्म-प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि स्त्यानर्द्धि-त्रिक का उदय प्रमादरूप है, परन्तु छठे से आगे किसी भी गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता। इस प्रकार आहारक-शरीर-नामकर्म का तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय, आहारकशरीर रचनेवाले मुनि को ही होता है। परन्तु वह मुनि लब्धि का प्रयोग करनेवाला होने से अवश्य ही प्रमादी होता है। जो लब्धि का प्रयोग करता है वह उत्सुक हो

ही जाता है। उत्सुकता हुई कि स्थिरता या एकाग्रता का भंग हुआ। एकाग्रता के भंग को ही प्रमाद कहते हैं इसलिये, आहारकद्विक का उदय भी छठे गुणस्थान तक ही माना जाता है। यद्यपि आहारकशरीर बना लेने के बाद कोई मुनि विशुद्ध अध्यवसाय से फिर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं, तथापि ऐसा बहुत कम होता है इसलिये इसकी विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। इसी से सातवें गुणस्थान में आहारक-द्विक के उदय को गिना नहीं है॥१४-१७॥

संमत्तंतिमसंघयण तियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे ।

हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्ठिवेयतिगं ॥१८॥

सम्यक्त्वान्तिमसंहननत्रिककच्छेदो द्वासप्ततिरपूर्वें।

हास्यादिषट्कान्तः षट्षष्टिरनिवृत्तौ वेदत्रिकम् ॥१८॥

संजखणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहुमंसि तुरियलोभंतो ।

उवसंत गुणे गुणसट्ठि रिसहनाराय द्दुगअंतो ॥१९॥

संज्वलनत्रिकं षट्छेदः षष्टि सूक्ष्मे तुरियलोभान्तः ।

उपशान्तगुण एकोनषष्टि ऋषभनाराचद्विकान्तः ॥१९॥

—सम्यक्त्व मोहनीय और अन्त के तीन संहनन इन ४ कर्म-प्रकृतियों का उदय-विच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे सातवें गुणस्थान की उदय योग्य ७६ कर्म-प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोहनीय आदि उक्त चार कर्म-प्रकृतियों को घटा देने पर, शेष ७२ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान में रहता है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है, आगे नहीं। इससे आठवें गुणस्थान की उदय-योग्य ७२ कर्म-प्रकृतियों में से हास्य-आदि ६ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ६६ कर्म-प्रकृतियों का ही उदय नौवें गुणस्थान में रह जाता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, १८ संज्वलन क्रोध, संज्वलन-मान और संज्वलन माया इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय, नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। इससे नौवें गुणस्थान की उदय-योग्य ६६ कर्म-प्रकृतियों में से स्त्रीवेद आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर शेष ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय दसवें गुणस्थान में होता है। संज्वलन-लोभ का उदय-विच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। इससे दसवें गुणस्थान में जिन ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से एक संज्वलन-लोभ के बिना शेष ५९ कर्म-प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में हो सकता

है। इन ५९ कर्म-प्रकृतियों में से ऋषभनाराचसंहनन और नाराचसंहनन इन दो कर्म-प्रकृतियों का उदय, ग्यारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय-पर्यन्त ही होता है॥१९॥

भावार्थ—जो मुनि, सम्यक्त्वमोहनीय का उपशम या क्षय करता है वही सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों को पा सकता है, दूसरा नहीं। इसी में ऊपर कहा गया है कि सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक में सम्यक्त्व मोहनीय का उदय-विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार अर्द्धनाराच, कीलिका और सेवार्त इन तीन अन्तिम संहननों का उदय-विच्छेद भी सातवें गुणस्थान के अन्त तक हो जाता है—अर्थात् अन्तिम तीन संहननवाले जीव, सातवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकते। इसका कारण यह है कि जो श्रेणि कर सकते हैं वे ही आठवें आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर सकते हैं परन्तु श्रेणि को प्रथम तीन संहननवाले ही कर सकते हैं, अन्तिम तीन संहननवाले नहीं। इसी से उक्त सम्यक्त्व मोहनीय आदि ४ कर्म-प्रकृतियों को सातवें गुणस्थान की ७६ कर्म-प्रकृतियों में से घटाकर शेष ७२ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान में माना जाता है।

नौवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में अध्यवसाय इतने विशुद्ध हो जाते हैं कि जिससे गुणस्थानों में वर्तमान जीवों को हास्य, रति आदि उपर्युक्त ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होने नहीं पाता। अतएव कहा गया है कि आठवें गुणस्थान की उदय-योग्य ७२ कर्म-प्रकृतियों में से हास्य-आदि ६ प्रकृतियों को छोड़कर शेष ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान में हो सकता है।

नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है। परन्तु अध्यवसायों की विशुद्धि बढ़ती ही जाती है। इससे तीन वेद और संज्वलन-त्रिक, कुल ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है। अतएव दसवें गुणस्थान में उदय-योग्य प्रकृतियाँ ६० ही रहती हैं। नौवें गुणस्थान में वेदत्रिक-आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय विच्छेद इस प्रकार होता है-यदि श्रेणि का प्रारम्भ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्रीवेद के, पीछे पुरुष-वेद के अनन्तर नपुंसकवेद के उदय का विच्छेद करके क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को रोकती है। श्रेणि का प्रारम्भ करनेवाला यदि पुरुष होता है तो वह सबसे पहले पुरुष-वेद के, पीछे स्त्रीवेद के अनन्तर नपुंसकवेद के उदय को रोक कर क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय का विच्छेद करता है और श्रेणि को करने वाला यदि नपुंसक है तो सबसे पहले वह नपुंसक-वेद के उदय को रोकता

है; इसके बाद स्त्रीवेद के उदय को तत्पश्चात् पुरुष-वेद के उदय को रोक कर क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को बन्द कर देता है।

दसवें गुणस्थान में ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है। इनमें से संज्वलन-लोभ का उदय, दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। इसी से संज्वलन-लोभ को छोड़कर शेष ५९ कर्म-प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में माना जाता है॥१८-१९॥

सगवन्न खीण-दुचरिमि निहदुगंतो अ चरिमि पणवन्ना।

नाणंतरायदंसण-चउछेओ सजोगि वायाल।।२०।।

सप्तपञ्चाशत् क्षीणद्विचरमे निद्राद्विकान्तश्च चरमे पञ्चपञ्चाशत्।

ज्ञानान्तरायदर्शनचतुश्छेदः सयोगिनि द्विचत्वारिंशत्।।२०।।

अर्थ—अतएव बारहवें गुणस्थान में ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय रहता है। ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त—अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय-पर्यन्त पाया जाता है; क्योंकि निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का उदय, अन्तिम समय में नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५७ कर्म-प्रकृतियों में से निद्रा और प्रचला को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। ज्ञानावरणकर्म की ५, अन्तरायकर्म की ५ और दर्शनावरणकर्म की ४—कुल १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय पर्यन्त ही होता है; आगे नहीं। इससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय की उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से ४१ कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थान से लेकर तीर्थकर नामकर्म के उदय का भी सम्भव है। इसलिये पूर्वोक्त ४१, और तीर्थङ्कर नामकर्म, कुल ४२ कर्म-प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में हो सकता है॥२०॥

भावार्थ—जिनको ऋषभनाराचसंहनन का या नाराचसंहनन का उदय रहता है वे उपशम-श्रेणि को ही कर सकते हैं। उपशम-श्रेणि करनेवाले, ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ही चढ़ सकते हैं; क्योंकि क्षपकश्रेणि किये बिना बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षपक-श्रेणि को वे ही कर सकते हैं जिनको कि वज्रऋषभनाराचसंहनन का उदय होता है। इसी से ग्यारहवें गुणस्थान की उदय-योग्य ५९ कर्म-प्रकृतियों में से ऋषभनाराच दो संहननों को घटाकर शेष ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान में माना जाता है। इन ५७ कर्म-

प्रकृतियों में से भी निद्रा का तथा प्रचला का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नहीं होता। इससे उन दो कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में माना जाता है। ज्ञानावरण ५, अन्तराय ५ और दर्शनावरण ४, सब मिलाकर १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय से आगे नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के निकल जाने से शेष ४१ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवालों में जो तीर्थकर होनेवाले होते हैं उनको तीर्थकरनामकर्म का उदय भी हो जाता है। अतएव पूर्वोक्त ४१ और तीर्थकरनामकर्म, कुल ४२ कर्म-प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान में उदय को पा सकती हैं।॥२०॥

तित्थुदया उरलाथिरखगइदुगपरित्ततिगछसंठाणा ।

अगुरलहुवन्नचउ-निमिणतेयकम्माइसंधयणं ॥ २१ ॥

तीर्थोदयादौदारिकास्थिरखगतिद्विकप्रत्येकत्रिकषट्संस्थानानि
अगुरुलघुवर्णचतुष्कनिर्माणतेजः कर्मादिसंहननम् ॥ २१ ॥

दूसरसूसरसायासाण्णयरं च तीस-वुच्छेओ ।

बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥ २२ ॥

दुःस्वरसुस्वरसातासातैकतरं च त्रिंशद्व्युच्छेदः ।

द्वादशायोगिनि सुभगादेययशोऽन्यतरवेदनीयम् ॥ २२ ॥

तसतिग पणिंदि मणुयाउ गइजिणुञ्जंति चरम-समयंतो ।

त्रसत्रिकपञ्चेन्द्रियमनुजायुर्गतिजिनोञ्चमिति चरमसमयान्त ।

अर्थ—औदारिक-द्विक (औदारिक-शरीरनामकर्म तथा औदारिक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म) २, अस्थिर-द्विक (अस्थिरनामकर्म, अशुभनामकर्म) ४, खगति-द्विक (शुभविहायोगति नामकर्म और अशुभविहायोगतिनामकर्म) ६, प्रत्येक-त्रिक (प्रत्येकनामकर्म, स्थिरनामकर्म और शुभनामकर्म) ९, समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्ड—ये छः संस्थान १५, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघुनामकर्म, उपघातनामकर्म, पराघातनामकर्म और उच्छ्वासनामकर्म) १९, वर्ण-चतुष्क (वर्णनामकर्म, गंधनामकर्म, रसनामकर्म और स्पर्शनामकर्म) २३, निर्माणनामकर्म २४, तैजसशरीरनामकर्म २५, कर्मणशरीर-नामकर्म २६, प्रथम-संहनन (वज्रऋषभनाराच संहनन)॥२७-२१॥

दुःस्वरनामकर्म २८, सुस्वरनामकर्म २९ और सातावेदनीय तथा असातावेदनीय—इन दो में से कोई एक ३०— ये तीस प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक ही उदय को पा सकती हैं, चौदहवें गुणस्थान में नहीं। अतएव पूर्वोक्त ४२ में से इन ३० कर्म-प्रकृतियों के घट जाने पर शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में रहती हैं। वे १२ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं— सुभगनामकर्म, आदेयनामकर्म, यशःकीर्तिनामकर्म, वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक त्रसत्रिक (त्रसनामकर्म, बादरनामकर्म और पर्याप्तनामकर्म), पञ्चेन्द्रिय जातिनामकर्म, मनुष्य-आयु, मनुष्यगति, तीर्थङ्करनामकर्म और उच्चगोत्र-इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक रहता है।

भावावार्थ—चौदहवें गुणस्थान में किसी भी जीव को वेदनीयकर्म की दोनों प्रकृतियों का उदय नहीं होता। इसलिये जिस जीव को उन दो में से जिस प्रकृति का उदय, चौदहवें गुणस्थान में रहता है उस जीव को उस प्रकृति के अतिरिक्त दूसरी प्रकृति का उदय-विच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। औदारिक-द्विक-आदि उक्त तीस प्रकृतियों में से वेदनीयकर्म की अन्यतर प्रकृति के अतिरिक्त शेष २९ कर्म-प्रकृतियाँ पुद्गल-विपाकिनी (पुद्गल द्वारा विपाक का अनुभव कराने वाली) हैं इनमें से सुस्वरनामकर्म और दुःस्वरनामकर्म—ये दो प्रकृतियाँ भाषा-पुद्गल-विपाकिनी हैं। इससे जब तक वचन-योग्य की प्रवृत्ति रहती है और भाषापुद्गलों का ग्रहण तथा परिणमन होता रहता है तभी तक उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है। शेष २७ कर्म-प्रकृतियाँ शरीर-पुद्गल-विपाकिनी हैं इसलिये उनका भी उदय तभी तक हो सकता है जब तक कि काययोग के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और आलम्बन किया जाता है। तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में ही योगों का निरोध हो जाता है। अतएव पुद्गल-विपाकिनी उक्त २९ कर्म-प्रकृतियों का उदय भी उसी समय में रुक जाता है। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान में जिन ४२ कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है; उनमें से अन्यतरवेदनीय और उक्त २९ पुद्गल-विपाकिनी—कुल ३० कर्म-प्रकृतियों को घटा देने से शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। इन १२ कर्म-प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। इसके रुक जाते ही जीव, कर्म-मुक्त होकर पूर्ण-सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और मोक्ष को चला जाता है। २१-२२।

इति

उदयाधिकार समाप्त।

*

उदय-यन्त्र

| गुणस्थानों के नाम | मूल-प्रकृतियाँ | उत्तर-प्रकृतियाँ | ज्ञानावर्णीय | दर्शनावर्णीय | वेदनीय | मोहनीय | आयुर्कर्म | नामकर्म | गोत्रकर्म | अन्तरायकर्म |
|-------------------------|----------------|------------------|--------------|--------------|--------|--------|-----------|---------|-----------|-------------|
| ० ओष से. | ८ | १२२ | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ६७ | २ | ५ |
| १. मिथ्यात्व में. | ८ | ११७ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ |
| २. सास्वादन में | ८ | १११ | ५ | ९ | २ | २५ | ४ | ५९ | २ | ५ |
| ३. मिश्र में. | ८ | १०० | ५ | ९ | २ | २२ | ४ | ५१ | २ | ५ |
| ४. अविरत में. | ८ | १०४ | ५ | ९ | २ | २२ | ४ | ५५ | २ | ५ |
| ५. देशविरत में. | ८ | ८७ | ५ | ९ | २ | १८ | २ | ४४ | २ | ५ |
| ६. प्रमत्त में. | ८ | ८१ | ५ | ९ | २ | १४ | १ | ४४ | १ | ५ |
| ७. अप्रमत्त में. | ८ | ७६ | ५ | ९ | २ | १४ | १ | ४२ | १ | ५ |
| ८. अपूर्वकरण में. | ८ | ७२ | ५ | ९ | २ | १३ | १ | ३९ | १ | ५ |
| ९. अनिवृत्ति में. | ८ | ६६ | ५ | ९ | २ | ७ | १ | ३९ | १ | ५ |
| १०. सूक्ष्मसम्पराय में. | ८ | ६० | ५ | ९ | २ | १ | १ | ३९ | १ | ५ |
| ११. उपशान्तमोह में. | ७ | ५९ | ५ | ९ | २ | ० | १ | ३९ | १ | ५ |
| १२. क्षीणमोह में. | ७ | ७७ | ५ | ९ | २ | ० | १ | ३७ | १ | ५ |
| १३. सयोगिकेवली में. | ४ | ४२ | ० | ० | २ | ० | १ | ३८ | १ | ० |
| १४. अयोगिकेवली में. | ४ | १२ | ० | ० | १ | ० | १ | ९ | १ | ० |

उदीरणाधिकार

अब प्रत्येक गुणस्थान में जितनी-जितनी कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा हो सकती है उन्हें दिखाते हैं—

उदउव्वुदीरणा परमपमत्ताई सगगुणेसु ॥२३॥

उदय इवोदीरणा परमप्रमत्तादिसप्तगुणेषु ॥२३॥

अर्थ—यद्यपि उदीरणा उदय के समान है—अर्थात् जिस गुणस्थान में जितनी कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है उस गुणस्थान में उतनी ही कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा भी होती है। तथापि सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान-पर्यन्त सात गुणस्थानों में उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेष है॥२३॥

उस विशेष को ही दिखाते हैं—

एसा पयडि-तिगूणा वेयणियाहारजुगलथीणतीगं।

मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥२४॥

एषा प्रकृतित्रिकोना वेदनीयाहारक-युगलस्त्यानर्द्धित्रिकम् ।

मनुजायुः प्रमत्तान्ता अयोग्यनुदीरको भगवान् ॥२४॥

अर्थ—सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त, प्रत्येक गुणस्थान में उदीरणा-योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ, उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियों से तीन तीन कम होती हैं; क्योंकि छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में आठ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा रुक जाती है। इससे आगे के गुणस्थानों में उन आठ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा नहीं होती। वे आठ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—वेदनीय की दो प्रकृतियाँ (२) आहारकद्विक (४) स्त्यानर्द्धि-त्रिक (७) और मनुष्य-आयु (८)। चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान अयोगिकेवलभगवान् किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं करते ॥२४॥

भावार्थ—पहले से छठे पर्यन्त छः गुणस्थानों के उदीरणा योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ, उदय-योग्य कर्म-प्रकृतियों के बराबर ही होती हैं। जैसे—पहले गुणस्थान में उदय-योग्य तथा उदीरणा योग्य एक सौ सत्रह कर्म-प्रकृतियाँ होती हैं। दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म-प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है।

तीसरे गुणस्थान में उदय और उदीरणा दोनों ही सौ-सौ कर्म-प्रकृतियों के होते हैं। चौथे गुणस्थान में उदय १०४ कर्म-प्रकृतियों का और उदीरणा भी १०४ कर्म-प्रकृतियों की होती है। पाँचवें गुणस्थान में ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय और ८७ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा होती है तथा छठे गुणस्थान में उदय-योग्य भी ८१ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य भी ८१ ही कर्म-प्रकृतियाँ होती हैं। परन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें पर्यन्त सात गुणस्थानों में उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियों की तथा उदीरणा-योग्य-कर्म-प्रकृतियों की संख्या समान नहीं है। किन्तु उदीरणा-योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ उदय योग्य-कर्म-प्रकृतियों से तीन-तीन कम होती हैं। इसका कारण यह है कि छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय-विच्छेद आहारकद्विक और स्त्यानर्द्धिप्रिक—इन पाँच प्रकृतियों का ही होता है। परन्तु उदीरणा-विच्छेद उक्त ५ प्रकृतियों के अतिरिक्त वेदनीयद्विक तथा मनुष्य-आयु-इन तीन प्रकृतियों का भी होता है। छठे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिनसे कि वेदनीयद्विक की तथा आयु की उदीरणा हो सके। इससे सातवें-आदि गुणस्थानों में उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार होती है—सातवें गुणस्थान में उदय ७६ प्रकृतियों का और उदीरणा ७३ प्रकृतियों की। आठवें गुणस्थान में उदय ७२ प्रकृतियों का और उदीरणा ६९ प्रकृतियों की। नौवें गुणस्थान में उदय ६६ कर्म-प्रकृतियों का और उदीरणा ६३ कर्म-प्रकृतियों की। दसवें में उदय-योग्य ६० कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ। ग्यारहवें में उदय-योग्य ५९ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५४ कर्म-प्रकृतियाँ। उसी गुणस्थान के अन्तिम-समय में उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५२ कर्म-प्रकृतियाँ तथा तेरहवें गुणस्थान में उदय-योग्य ४२ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ३९ कर्म-प्रकृतियाँ हैं। चौदहवें गुणस्थान में किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती; क्योंकि उदीरणा के होने में योग की अपेक्षा है, पर उस गुणस्थान में योग का सर्वथा निरोध ही हो जाता है।२४॥

॥ इति ॥

उदीरणाधिकार समाप्तः

*

उदीरणा-यन्त्र

| गुणस्थानों के नाम | मूल-प्रकृतियों | उत्तर-प्रकृतियों | ज्ञानावर्णीय | दर्शनावर्णीय | वेदनीय | मोहनीय | आयुर्कर्म | नामकर्म | गीतकर्म | अन्तरायकर्म |
|-------------------------|----------------|------------------|--------------|--------------|--------|--------|-----------|---------|---------|-------------|
| ० ओघ से. | ८ | १२२ | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ६७ | २ | ५ |
| १. मिथ्यात्व में. | ८ | ११७ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ६४ | २ | ५ |
| २. सास्वादन में | ८ | १११ | ५ | ९ | २ | २५ | ४ | ५९ | २ | ५ |
| ३. मिश्र में. | ८ | १०० | ५ | ९ | २ | २२ | ४ | ५१ | २ | ५ |
| ४. अविरत में. | ८ | १०४ | ५ | ९ | २ | २२ | ४ | ५५ | २ | ५ |
| ५. देशविरत में. | ८ | ८७ | ५ | ९ | २ | १८ | २ | ४४ | २ | ५ |
| ६. प्रमत्त में. | ८ | ८१ | ५ | ९ | २ | १४ | १ | ४४ | १ | ५ |
| ७. अप्रमत्त में. | ६ | ७३ | ५ | ९ | ० | १४ | ० | ४२ | १ | ५ |
| ८. अपूर्वकरण में. | ६ | ६९ | ५ | ९ | ० | १३ | ० | ३९ | १ | ५ |
| ९. अनिवृत्ति में. | ६ | ५७ | ५ | ९ | ० | ७ | ० | ३९ | १ | ५ |
| १०. सूक्ष्मसम्पराय में. | ६ | ५६ | ५ | ९ | ० | १ | ० | ३९ | १ | ५ |
| ११. उपशान्तमोह में. | ५ | ५४ | ५ | ९ | ० | ० | ० | ३९ | १ | ५ |
| १२. क्षीणमोह में. | ५ | ५२ | ५ | ६ | ० | ० | ० | ३७ | १ | ५ |
| १३. सयोगिकेवली में. | २ | ३९ | ० | ० | ० | ० | ० | ३८ | १ | ० |
| १४. अयोगिकेवली में. | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० |

सत्ताधिकारः

पहले सत्ता का लक्षण कहकर, अनन्तर प्रत्येक गुणस्थान में सत्ता-योग्य कर्म-प्रकृतियों को दिखाते हैं—

सत्ता कम्माणठिई बंधाई-लब्ध-अत्त-लाभाणं।

संते अडयाल-सयं जा उवसमु विजिणु बियतइए।। २५।।

सत्ता कम्मणां स्थितिर्बन्धादिलब्धात्मलाभानाम्।

सत्यष्टाचत्वारिंशच्छतं यावदुपशमं विजिनं द्वितीयतृतीये।। २५।।

अर्थ—कर्म-योग्य जिन पुद्गलों ने बन्ध या संक्रमण द्वारा अपने स्वरूप को (कर्मत्व को) प्राप्त किया है। उन कर्मों के आत्मा के साथ लगे रहने को 'सत्ता' समझना चाहिये। सत्ता में १४८ कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ग्यारह गुणस्थानों में से दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नौ गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता नहीं होती।।२५।।

भावार्थ—बन्ध के समय जो कर्म-पुद्गल जिस कर्म-स्वरूप में परिणत होते हैं उन कर्म-पुद्गलों का उसी कर्म-स्वरूप में आत्मा से लगा रहना कर्मों की 'सत्ता' कहलाती है। इस प्रकार उन्हीं कर्म-पुद्गलों का प्रथम स्वरूप को छोड़ दूसरे कर्म-स्वरूप में बदल, आत्मा से लगे रहना भी 'सत्ता' कहलाती है। प्रथम प्रकार की सत्ता को 'बन्ध सत्ता' के नाम से और दूसरे प्रकार की सत्ता को 'संक्रमण-सत्ता' के नाम से पहचानना चाहिये।

सत्ता में १४८ कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। उदयाधिकार में पाँच बंधनों और ५ संघातनों की विवक्षा अलग नहीं की है, किन्तु उन दसों कर्म-प्रकृतियों का समावेश पाँच शरीर नामकर्मों में किया गया है तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शनाम कर्म की एक-एक प्रकृति ही विवक्षित है। परन्तु इस सत्ता-प्रकरण में बन्धन तथा संघात नामकर्म के पाँच-पाँच भेद शरीर नामकर्म से अलग गिने गये हैं तथा वर्ण गन्ध, रस, और स्पर्श नामकर्म की एक-एक प्रकृति के स्थान में, इस जगह ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्शनाम-कर्म गिने जाते हैं। जैसे—

(१) औदारिक-बन्धन-नामकर्म, (२) वैक्रिय-बन्धन-नामकर्म, (३) आहारक-बन्धन-नामकर्म, (४) तैजस-बन्धनकर्म और (५) कार्मण-बन्धन-नामकर्म—ये पाँच बन्धन-नामकर्म। (१) औदारिक-संघातन-नामकर्म, (२) वैक्रिय-संघातन-नामकर्म, (३) आहारक-संघातन-नामकर्म, (४) तैजस-संघातन-नामकर्म और (५) कार्मण-संघातन-नामकर्म, ये पाँच संघातन-नामकर्म। (१) कृष्ण-नामकर्म, (२) नील-नामकर्म, (३) लोहित-नामकर्म, (४) हारिद्र-नामकर्म और (५) शुक्ल-नामकर्म—ये पाँच वर्ण-नामकर्म। (१) सुरभि-गन्ध-नामकर्म और दुरभि-गन्ध-नामकर्म ये दो गन्ध-नामकर्म। (१) तित्तरस-नामकर्म, (२) कटुकरस-नामकर्म, (३) कषायरस-नामकर्म, (४) अम्लरस-नामकर्म, (५) मधुररस-नामकर्म—ये पाँच रस-नामकर्म। (१) कर्कश-स्पर्श-नामकर्म, (२) मृदुस्पर्श-नामकर्म, (३) लघुस्पर्श-नामकर्म, (४) गुरुस्पर्श-नामकर्म, (५) शीतस्पर्श-नामकर्म, (६) उष्णस्पर्श-नामकर्म, (७) स्निग्धस्पर्श-नामकर्म, (८) दक्ष-स्पर्श-नामकर्म—ये आठ स्पर्श नामकर्म। इस तरह उदय योग्य १२२ कर्म-प्रकृतियों में बन्धन-नामकर्म तथा संघातन-नामकर्म के पाँच-पाँच भेदों को मिलाने से और वर्णादिक के सामान्य चार भेदों के स्थान में उक्त प्रकार से २० भेदों के गिनने से कुल १४८ कर्म-प्रकृतियाँ सत्ताधिकार में होती हैं। इन सब कर्म-प्रकृतियों के स्वरूप की व्याख्या पहले कर्मग्रन्थ से जान लेनी चाहिये।

जिसने पहले, नरक की आयु का बन्ध कर लिया है और पीछे से क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व को पाकर उसके बल से तीर्थङ्कर-नामकर्म को भी बाँध लिया है, वह जीव नरक में जाने के समय सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त करता है। ऐसे जीव की अपेक्षा से ही, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर-नामकर्म की सत्ता मानी जाती है। दूसरे या तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव, तीर्थङ्कर-नामकर्म को बाँध नहीं सकता; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व ही नहीं होता जिससे कि तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधा जा सके। इस प्रकार तीर्थङ्कर-नामकर्म को बाँध कर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर, दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर नहीं सकता। अतएव कहा गया है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर-नामकर्म को छोड़, १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है।

पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ११ गुणस्थानों में से दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नौ गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही जाती है; सो योग्यता की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि किसी भी

जीव को एक समय में दो आयु से अधिक आयु की सत्ता हो नहीं सकती; परन्तु योग्यता सब कर्मों की हो सकती है जिससे सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नहीं है उसका भी बन्ध और सत्ता हो सके। इस प्रकार की योग्यता को सम्भव-सत्ता कहते हैं और वर्तमान कर्म की सत्ता को स्वरूप-सत्ता॥२५॥

चतुर्थ-आदि गुणस्थानों में प्रकारान्तर से भी सत्ता का वर्णन करते हैं—

अपुव्वाइ चउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु बियाल-सयं।

संमाइ चउसु सत्तग-खयंमि इगचत्त सयमहवा ॥२६॥

अपूर्वादिचतुष्केऽनतिर्यग्निरयायुर्विना द्वाचत्वारिंशच्छतम् ।

सम्यगादिचतुर्षु सप्तकक्षय एकचत्वारिंशच्छतमथवा ॥२६॥

अर्थ—१४८ कर्म-प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क तथा नरक और तिर्यञ्चआयु—इन छः के अतिरिक्त शेष १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में होती है तथा अनन्तानुबन्धि चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर शेष १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता चौथे से सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में हो सकती है॥२६॥

भावार्थ—पञ्चसंग्रह का सिद्धान्त है कि 'जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क को विसंयोजना नहीं करता वह उपशम-श्रेणि का प्रारम्भ नहीं कर सकता'। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि 'नरक की या तिर्यञ्च की आयु को बाँधकर जीव उपशम-श्रेणि को नहीं कर सकता'। इन दो सिद्धान्तों के अनुसार १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष माना जाता है; क्योंकि जो जीव अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क की विसंयोजना कर और देव-आयु को बाँधकर उपशम श्रेणि को करता है उस जीव को अष्टम आदि ४ गुणस्थानों में १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है। विसंयोजना, क्षय को ही कहते हैं; परन्तु क्षय और विसंयोजना में इतना ही अन्तर है कि क्षय में नष्टकर्म का फिर से सम्भव नहीं होता और विसंयोजना में होता है।

चौथे से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में वर्तमान जो जीव, क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं—अर्थात् जिन्होंने अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय किया है, उनकी अपेक्षा से उक्त चार गुणस्थानों में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता मानी गई है। क्षायिक-सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरम शरीरी नहीं हैं—अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को नहीं पा सकते

हैं, किन्तु जिनको मोक्ष के लिये जन्मान्तर लेना बाकी है—उन जीवों की अपेक्षा से १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिये; क्योंकि जो चरम शरीरी क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं उनको मनुष्य-आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूप सत्ता है और न सम्भव-सत्ता॥२६॥

अब क्षपक जीव की अपेक्षा से सत्ता का वर्णन करते हैं।

खवगंतु पप्प चउसुवि पणयालं नरयतिरिसुराउविणा ।

सत्तगविणु अडतीसं जा अनियट्ठी पढमभागो ॥२७॥

क्षपकं तु प्राप्य चतुर्ष्वपि पञ्चचत्वारिशन्नरकतिर्यक्सुरायुर्विना

सप्तकं विनाष्टात्रिंशद्यावदनिवृत्तिप्रथमभागः ॥२७॥

अर्थ—जो जीव क्षपक (क्षपकश्रेणि कर उसी जन्म में मोक्ष पानेवाला) है उसकी अपेक्षा से चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में १४५ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है; क्योंकि उस क्षपक-जीव को—अर्थात् चरमशरीरी जीव को—नरक-आयु, तिर्यञ्च-आयु और देव-आयु—इन तीन कर्म-प्रकृतियों की न तो स्वरूप सत्ता है और न सम्भव सत्ता। जो जीव क्षायिकसम्यक्त्वी होकर क्षपक है, उसकी अपेक्षा से चौथे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान के प्रथम-भाग पर्यन्त उक्त तीन आयु, अनन्तानुबन्धि-कषायचतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन दस को छोड़कर १४८ में से शेष १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है ॥२७॥

भावार्थ—जो जीव, वर्तमान-जन्म में ही क्षपक श्रेणि कर सकते हैं, वे क्षपक या चरम-शरीरी कहलाते हैं। उनको मनुष्य-आयु ही सत्ता में रहती है, दूसरी आयु नहीं। इस तरह उनको आगे भी दूसरी आयु की सत्ता होने की सम्भावना नहीं है। इसलिये उन क्षपक-जीवों को मनुष्य आयु के अतिरिक्त अन्य आयुओं की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव-सत्ता। इसी अपेक्षा से क्षपक जीवों को १४५ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है। परन्तु क्षपक-जीवों में जो क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं उनके अनन्तानुबन्धि-आदि सात कर्म-प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है। इसीलिये क्षायिक-सम्यक्त्वी क्षपक-जीवों को १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है। जो जीव, वर्तमान-जन्म में क्षपकश्रेणि नहीं कर सकते, वे अचरम-शरीरी कहलाते हैं। उनमें कुछ क्षायिक-सम्यक्त्वी भी होते हैं और कुछ औपशमिक-सम्यक्त्वी तथा कुछ क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वी। २५वीं गाथा में १४८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है; जो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तथा

औपशमिक-सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीव की अपेक्षा से और जो २६वीं गाथा में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है, सो क्षायिक-सम्यक्त्वी अचरम शरीरी जीव की अपेक्षा से। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होने की सम्भव रहती ही है, इसीलिये उसको सब आयुओं की सत्ता मानी गई है ॥२७॥

अब क्षपकश्रेणिवाले जीव की अपेक्षा से ही नौवें आदि गुणस्थानों में कर्म-प्रकृतियों की सत्ता दिखाई जाती है—

थावरतिरिनिरयाव-दुगथीणतिगेगविगलसाहारम् ।

सोलखओ दुवीससयं बियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८ ॥

स्थावरतिर्यग्निरयातपद्विकस्त्यानर्द्धित्रिकैकविकलसाधारम् ।

षोडशक्षयो द्वाविंशतिशतं द्वितीयांशे द्वितीयतृतीयकषायान्तः ॥

तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहियसय कमसो ।

नपु इत्थि हास छग पुंस तुरिय कोह मयमाय खओ ॥ २९ ॥

तृतीयादिषु चतुर्दशत्रयोदशद्वादशषट्पञ्चचतुस्त्र्यधिकशतं

क्रमशः; नपुंसकस्त्रीहास्यषट्कपुँस्तुर्यक्रोधमदमायाक्षयः ॥ २९ ॥

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसओ दुनिहखओ ।

नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविगघन्तो ॥ ३० ॥

सूक्ष्मे द्विशतं लोभान्तः क्षीणद्विचरम एकशतं द्विनिद्राक्षयः ।

नवनवतिश्चरम-समये चतुर्दर्शनज्ञानविघ्नान्तः ॥ ३० ॥

पणसीइ सयोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइ-गंधदुगं ।

फासडुवंनरसतणुबंधणसंघायपणनिमिणं ॥ ३१ ॥

पञ्चाशीतिस्सयोगिन्ययोगिनि द्विचरमे देवखगतिगन्यद्विकम् ।

स्पर्षाष्टक-वर्णरसबंधनसंघातनपञ्चकनिर्माणम् ॥ ३१ ॥

संघयणअथिरसंठाण-छक्कअगुरुलहुचहुचउअपज्जत्तं ।

सायं व असायं वा परित्तुवंगतिगसुसरनियं ॥ ३२ ॥

संहननास्थिरसंस्थानषट्कागुरुलघुचतुष्कापर्याप्तम् ।

सातं वाऽसातं वा प्रत्येकोपाङ्गत्रिकसुस्वरनीचम् ॥ ३२ ॥

बिसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग-जसाइज्जं ।

सुभगजिणुच्चपणिंदिय-सायासाएगयरछेओ ॥ ३३ ॥

द्वासप्ततिक्षयश्च चरमे त्रयोदश मनुजत्रसत्रिकयशआदेयम् ।

सुभगजिनोच्चपञ्चेन्द्रिय-सातासातैकतरच्छेदः ॥ ३३ ॥

अर्थ—नौवें गुणस्थान के नौ भागों में से पहले भाग में १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पूर्व गाथा में कही हुई है। उनमें से स्थावर-द्विक (स्थावर और सूक्ष्मनामकर्म) २, तिर्यञ्च-द्विक (तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्च-आनुपूर्वीनाम-कर्म) ४, नरकद्विक-(नरकगति और नरक-आनुपूर्वी) ६, आतपद्विक-(आतपनामकर्म और उद्योतनामकर्म) ८, स्त्यानर्द्धि-त्रिक-(निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि) ११, एकेन्द्रियजातिनामकर्म १२, विकलेन्द्रिय-(द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्म) १५ और साधारणनामकर्म १६—इन सोलह कर्म-प्रकृतियों का क्षय प्रथम भाग के अन्तिम समय में हो जाता है; इससे दूसरे भाग में १२२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है तथा १२२ में से अप्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क और प्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क—इन आठ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का क्षय दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाता है ॥२८॥

अर्थ—अतएव, तीसरे भाग में ११४ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। तीसरे भाग के अन्तिम-समय में नपुंसकवेद का क्षय हो जाने से, चौथे भाग में ११३ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस प्रकार चौथे भाग के अन्तिम समय में स्त्रीवेद का अभाव होने से पाँचवें भाग में ११२, पाँचवें भाग के अन्तिम-समय में हास्य-षट्क का क्षय होने से छठे भाग में १०६, छठे भाग के चरम समय में पुरुष-वेद का अभाव हो जाता है। इससे सातवें भाग में १०५, सातवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलनक्रोध का क्षय होने से आठवें भाग में १०४ और आठवें भाग के अन्तिम-समय में संज्वलनमान का अभाव होने से नौवें भाग में १०३ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है तथा नौवें गुणस्थान के नवम भाग के अन्तिम समय में संज्वलन-माया का क्षय हो जाता है ॥२९॥

अर्थ—अतएव, दसवें गुणस्थान में १०२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। दसवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में लोभ का अभाव होता है, इससे बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त १०१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है। द्विचरम-समय में निद्रा और प्रचला—इन २ कर्म-प्रकृतियों का क्षय हो जाता है जिससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में ९९ कर्म-प्रकृतियाँ सत्तागत रहती

हैं। इन ९९ में से ५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय और ४ दर्शनावरण—इन १४ कर्म-प्रकृतियों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में हो जाता है॥३०॥

अर्थ—अतएव, तेरहवें गुणस्थान में और चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त ८५ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। द्विचरम-समय में ७२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का अभाव हो जाता है। वे ७२ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—देव-द्विक २, खगति-द्विक ४, गन्ध-द्विक-(सुराभिगन्धनामकर्म और दुरभिगन्धनामकर्म) ६, स्पर्शाष्टक-(कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्षस्पर्शनामकर्म) १४, वर्णपञ्चक—(कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और शुक्लवर्णनामकर्म) १९, रसपञ्चक-(कटुक, तिक्त, कषाय, अम्ल और मधुररसनामकर्म) २४, पाँच शरीर नामकर्म-२९, बन्धक-पञ्चक-(औदारिक-बन्धक, वैक्रिय-बन्धन, आहारक-बन्धन, तैजस-बन्धन और कार्मण-बन्धननामकर्म) ३४, संघातन-पञ्चक-(औदारिक-संघातन, वैक्रिय-संघातन, आहारक-संघातन, तैजससंघातन और कार्मणसंघातन-नामकर्म) ३९, निर्माणनामकर्म ४०॥३१॥

अर्थ—संहनन-षट्क-(वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्तसंहनन-नामकर्म) ४६, अस्थिरषट्क-(अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति-नामकर्म) ५२, संस्थान-षट्क-(समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्डसंस्थाननामकर्म) ५८, अगुरुलघु-चतुष्क ६२, अपर्याप्तनामकर्म ६३, सातावेदनीय या असातावेदनीय ६४ प्रत्येकत्रिक-(प्रत्येक, स्थिर और शुभनामकर्म) ६७, उपाङ्ग-त्रिक-(औदारिकअङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग और आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म) ७०, सुस्वरनामकर्म ७१ और नीचगोत्र ७२ ॥३२॥

अर्थ—उपर्युक्त ७२ कर्म-प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में हो जाता है जिससे अन्तिम समय में १३ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। वे तेरह कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—मनुष्य-त्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यआनुपूर्वी और मनुष्यआयु) ३, त्रस-त्रिक—(त्रस, बादर और पर्याप्तनामकर्म) ६, यशःकीर्तिनामकर्म ७, आदेयनामकर्म ८, सुभगनामकर्म ९, तीर्थकरनामकर्म १०, उच्चगोत्र ११, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म १२ और सातवेदनीय या असातावेदनीय में से कोई एक १३। इन तेरह कर्म-प्रकृतियों का अभाव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है और आत्मा निष्कर्म होकर सर्वथा मुक्त बन जाती है॥३३॥

मतान्तर और उपसंहार

नरअणुपुव्विविणा वा बारस चरिमसमयमि जो खविउं।

पत्तो सिद्धिं देविंदवंदियं नमह तं वीरं।।३४।।

नरानुपूर्वीं विना वा द्वादश चरम-समये यः क्षपयित्वा।

प्राप्तस्सिद्धिं देवेन्द्रवन्दितं नमत तं वीरम्।।३४।।

अर्थ—अथवा पूर्वोक्त तेरह कर्म-प्रकृतियों में से मनुष्य आनुपूर्वीं को छोड़कर शेष १२ कर्म-प्रकृतियों को चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षीणकर जो मोक्ष को प्राप्त हुये हैं, और देवेन्द्रों ने तथा देवेन्द्रसूरि ने जिनका वन्दन स्तुति तथा प्रणाम) किया है, ऐसे परमात्मा महावीर को तुम सब लोग नमन करो।।३४।।

भावार्थ—किन्हीं आचार्यों का ऐसा भी मत है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मनुष्य-त्रिक आदि पूर्वोक्त १३ कर्म-प्रकृतियों में से, मनुष्य-आनुपूर्वीं के बिना शेष १२ कर्म-प्रकृतियों की ही सत्ता रहती है। क्योंकि देव-द्विक आदि पूर्वोक्त ७२ कर्म-प्रकृतियाँ, जिनका कि उदय नहीं है वे जिस प्रकार द्विचरम समय में स्तिबुकसंक्रम द्वारा उदयवती कर्म-प्रकृतियों में संक्रान्त होकर, क्षीण हो जाती हैं, इसी प्रकार उदय न होने के कारण मनुष्यआनुपूर्वीं भी द्विचरम-समय में ही स्तिबुकसंक्रम-द्वारा उदयवती कर्म-प्रकृतियों में संक्रान्त हो जाती है। इसलिये द्विचरम-समय में उदयवती कर्म-प्रकृति में संक्रान्त पूर्वोक्त देव-द्विक आदि ७२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता चरम-समय में जैसे नहीं मानी जाती है वैसे ही द्विचरम-समय में उदयवती कर्म-प्रकृति में संक्रान्त मनुष्य-आनुपूर्वीं की सत्ता को भी चरम-समय में न मानना ठीक है।

(अनुदयवती कर्म-प्रकृति के दलिकों को सजातीय और तुल्यस्थितिवाली उदयवती कर्म-प्रकृति के रूप में बदलकर उसके दलिकों के साथ भोग लेना; इसे 'स्तिबुकसंक्रम' कहते हैं)

इस 'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के रचयिता श्रीदेवेन्द्रसूरि हैं। ये देवेन्द्रसूरि, तपागच्छाचार्य श्रीजगच्चन्द्रसूरि के शिष्य थे।।३४।।

॥ सत्ताधिकारः समाप्तः ॥

सत्ता-यन्त्र

| गुणस्थानों के नाम | मूल-प्रकृतियाँ | उत्तर-प्रकृतियाँ | उपशमश्रेणि | क्षपक श्रेणी | ज्ञानावरणीय | दर्शनावरणीय | वेदनीय | मोहनीय | आयुर्कर्म | नामकर्म | गोत्रकर्म | अन्तरायकर्म |
|--|-------------------------|------------------|------------|--------------|-------------|-------------|--------|--------|-----------|---------|-----------|-------------|
| ० ओघ से. | ८ | १४८ | ० | ० | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ६७ | २ | ५ |
| १. मिथ्यात्व में. | ८ | १४८ | ० | ० | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ९३ | २ | ५ |
| २. सास्वादन में | ८ | १४७ | ० | ० | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ९२ | २ | ५ |
| ३. मिश्र में. | ८ | १४७ | ० | ० | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ९२ | २ | ५ |
| ४. अविरत में. | ८ | १४८ | १४१ | १४५ | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ९३ | २ | ५ |
| ५. देशविरत में. | ८ | १४८ | १४१ | १४८ | ५ | ९ | २ | २१ | २ | ९३ | २ | ५ |
| ६. प्रमत्त में. | ८ | १४८ | १४१ | १४५ | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ९३ | २ | ५ |
| ७. अप्रमत्त में. | ८ | १४८ | १४१ | १४५ | ५ | ९ | २ | २१ | २ | ९३ | २ | ५ |
| ८. अपूर्वकरण में. | ८ | १४८ | १३९ | १३८ | ५ | ९ | २ | २८ | ४ | ९३ | २ | ५ |
| ९. अनिवृत्ति में. म भा न क क गुणस्थान अनिवृत्ति | १ | १४८ | १३९ | १३८ | ५ | ९ | २ | २१ | १ | ९३ | २ | ५ |
| | २ | १४८ | १३९ | १३८ | ५ | ९ | २ | २१ | १ | ६० | २ | ५ |
| | ३ | १४८ | १३९ | १३४ | ५ | ९ | २ | २१ | १ | ९३ | २ | ५ |
| | ४ | १४८ | १३९ | १३३ | ५ | ६ | २ | १२ | १ | ६० | २ | ५ |
| | ५ | १४८ | १३९ | १३२ | ५ | ६ | २ | ११ | १ | ६० | २ | ५ |
| | ६ | १४८ | १३९ | १०६ | ५ | ६ | २ | ५ | १ | ६० | २ | ५ |
| | ७ | १४८ | १३९ | १०५ | ५ | ६ | २ | ४ | १ | ६० | २ | ५ |
| | ८ | १४८ | १३९ | १०४ | ५ | ६ | २ | ३ | १ | ६० | २ | ५ |
| | ९ | १४८ | १३९ | १०३ | ५ | ६ | २ | २ | १ | ६० | २ | ५ |
| | १०. सूक्ष्मसम्पराय में. | ८ | १४८ | १३९ | १०२ | ५ | ६ | २ | २८ | २ | ९३ | २ |
| ११. उपशान्तमोह में. | ८ | १४८ | १३९ | ० | ५ | ६ | २ | २४ | ४ | ६० | २ | ५ |
| १२. क्षीणमोह में. | ७ | १०१ | ० | १०१ | ५ | ६ | २ | २८ | १ | ६० | २ | ५ |
| १३. सयोगिकेवली में. | ४ | ८५ | ० | ८५ | ० | ० | २ | ० | १ | ६० | २ | ० |
| १४. अयोगिकेवली में. | ४ | ८५ | ० | ८५ | ० | ० | २ | ० | १ | ६० | २ | ० |

१४८ उत्तर-प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का गुणस्थान-दर्शक यन्त्र

| | क्रम से १४८ उत्तर-प्रकृतियों के नाम | बन्धयोग्य गुणस्थान | उदययोग्य गुणस्थान | उदीरणायोग्य गुणस्थान | सत्तायोग्य गुणस्थान |
|-----|-------------------------------------|--------------------|-------------------|----------------------|---------------------|
| १. | मतिज्ञानावरणीय | १० | १२ | १२ | १२ |
| २. | श्रुतज्ञानावरणीय | १० | १२ | १२ | १२ |
| ३. | अवधिज्ञानावरणीय | १० | १२ | १२ | १२ |
| ४. | मनःपर्यवज्ञानावरणीय | १० | १२ | १२ | १२ |
| ५. | केवलज्ञानावरणीय | १० | १२ | १२ | १२ |
| | दर्शनावरणीय-९ | | | | |
| ६. | चक्षुर्दर्शनावरणीय | १० | १२ | १२ | १२ |
| ७. | अचक्षुर्दर्शना. | १० | १२ | १२ | १२ |
| ८. | अवधिदर्शनावरणीय | १० | १२ | १२ | १२ |
| ९. | केवलदर्शनावरणीय | १० | १२ | १२ | १२ |
| १०. | निद्रा | * | १ समय | १२ | १ समय |
| | | $७\frac{१}{७}$ | न्यून-१२ | | न्यून-१२ |
| ११. | निद्रा-निद्रा | २ | ६ | ६ | $८\frac{१}{९}$ |
| १२. | प्रचला | $७\frac{१}{७}$ | १ समय | १२ | १ समय |
| | | | न्यून-१२ | | न्यून-१२ |
| १३. | प्रचला-प्रचला | २ | ६ | ६ | $८\frac{१}{९}$ |
| १४. | स्त्यानर्द्धि | २ | ६ | ६ | $८\frac{१}{९}$ |
| | वेदनीयकर्म-२ | | | | |
| १५. | सातावेदनीय | १३ | १४ | ६ | १४ |
| १६. | असातावेदनीय | ६ | १४ | ६ | १४ |
| | मोहनीयकर्म-२८ | | | | |
| १७. | सम्यक्त्वमोहनीय | ० | चौथे से सात | चौथे से सात | |
| १८. | मिश्रमोहनीय | ० | तीसरा-१ | तीसरा-१ | ११ |

* इसमें ७ को पूरा अङ्क और $\frac{१}{७}$ को एक सप्तमांश, अर्थात् ७ गुणस्थान और आठवें के सात हिस्सों में से एक हिस्सा समझना। इस प्रकार दूसरे अङ्कों में भी समझ लेना।

| | | | | | |
|-----|----------------------------|-----------------|----|----|--------|
| १९. | मिथ्यात्वमोहनीय | १ | १ | १ | ११ |
| २०. | अनन्तानुबन्धिक्रोध | २ | २ | २ | ११ |
| २१. | अनन्तानुबन्धिमान | २ | २ | २ | ११ |
| २२. | अनन्तानुबन्धिमाया | २ | २ | २ | ११ |
| २३. | अनन्तानुबन्धिलोभ | २ | २ | २ | ११ |
| २४. | अप्रत्याख्यानावरणक्रोध | ४ | ४ | ४ | ८२ ० ० |
| २५. | अप्रत्याख्यानावरणमान | ४ | ४ | ४ | ८२ ० ० |
| २६. | अप्रत्याख्यानावरणमाया | ४ | ४ | ४ | ८२ ० ० |
| २७. | अप्रत्याख्यानावरणलोभ | ४ | ४ | ४ | ८२ ० ० |
| २८. | प्रत्याख्यानावरणक्रोध | ५ | ५ | ५ | ८२ ० ० |
| २९. | प्रत्याख्यानावरणक्रोध मान | ५ | ५ | ५ | ८२ ० ० |
| ३०. | प्रत्याख्यानावरणक्रोध माया | ५ | ५ | ५ | ८२ ० ० |
| ३१. | प्रत्याख्यानावरणक्रोध लोभ | ५ | ५ | ५ | ८२ ० ० |
| ३२. | संज्वलन-क्रोध | ८ $\frac{३}{५}$ | ९ | ९ | ८६ ० ० |
| ३३. | संज्वलन-मान | ८ $\frac{३}{५}$ | ९ | ९ | ८६ ० ० |
| ३४. | संज्वलन-क्रोध माया | ८ $\frac{४}{५}$ | ९ | ९ | ९ |
| ३५. | संज्वलन-क्रोध लोभ | ९ | १० | १० | १० |
| ३६. | हास्य-मोहनीय | ८ | ८ | ८ | ८६ ० ५ |
| ३७. | रति-मोहनीय | ८ | ८ | ८ | ८६ ० ५ |
| ३८. | अरति-मोहनीय | ६ | ८ | ८ | ८६ ० ५ |
| ३९. | शोक-मोहनीय | ६ | ८ | ८ | ८६ ० ५ |
| ४०. | भय-मोहनीय | ८ | ८ | ८ | ८६ ० ५ |
| ४१. | जुगुप्सा-मोहनीय | ८ | ८ | ८ | ८६ ० ५ |
| ४२. | पुरुषवेद | ८ $\frac{१}{५}$ | ९ | ९ | ८६ ० ५ |
| ४३. | स्त्रीवेद | २ | ९ | ९ | ८६ ० ५ |
| ४४. | नपुंसकवेद | १ | ९ | ९ | ८६ ० ५ |

| | | | | | |
|-----|----------------------------|---------------------|-------|-------|----------------|
| | *आयु-कर्म-४ | | | | |
| ४५. | देवआयु | ७ | ४ | ४ | ११ |
| ४६. | मनुष्य आयु | ४ | १४ | ६ | १४ |
| ४७. | तिर्यच आयु | २ | ५ | ५ | ७ |
| ४८. | नरक आयु | १ | ४ | ४ | ७ |
| | नाम-कर्म-९३ | | | | |
| ४९. | मनुष्यगति-नामकर्म | ४ | १४ | १३ | १४ |
| ५०. | तिर्यञ्चगति-नामकर्म | २ | ५ | ५ | $८\frac{१}{२}$ |
| ५१. | देवगति-नामकर्म | $७\frac{६}{७}$ | ४ | ४ | १४ |
| ५२. | नरकगति-नामकर्म | १ | ४ | ४ | $८\frac{१}{२}$ |
| ५३. | एकेन्द्रिय-जाति-नामकर्म | १ | २ | २ | $८\frac{१}{२}$ |
| ५४. | द्वीन्द्रिय-जाति-नामकर्म | १ | २ | २ | $८\frac{१}{२}$ |
| ५५. | त्रीन्द्रिय-जाति-नामकर्म | १ | २ | २ | $८\frac{१}{२}$ |
| ५६. | चतुरिन्द्रिय-जाति-नामकर्म | १ | २ | २ | $८\frac{१}{२}$ |
| ५७. | पंचेन्द्रिय-जाति-नामकर्म | $७\frac{६}{७}$ | १४ | १३ | १४ |
| ५८. | औदारिक-शरीर-नामकर्म | ४ | १३ | १३ | १४ |
| ६०. | आहारक-शरीर-नामकर्म | सातसेआठ के ६ भाग | छठ्ठा | छठ्ठा | १४ |
| ६१. | तैजस-शरीर-नामकर्म | $७\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ६२. | कार्मण-शरीर-नामकर्म | $७\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ६३. | औदारिक अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म | ४ | १३ | १३ | १४ |
| ६४. | वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म | $७\frac{६}{७}$ | ४ | ४ | १४ |
| ६५. | आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म | सातसेआठ के ६ भाग | छठा | छठा | १४ |
| ६६. | औदारिक-बंधन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ६७. | वैक्रिय-बंधन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |

* आयुर्कर्म का तीसरे गुणस्थान में बन्ध नहीं होता, इससे तीसरे को छोड़ अन्य गुणस्थानों को उसके बन्ध योग्य समझना।

| | | | | | |
|-----|------------------------|-----------------|----|----|----|
| ६८. | आहारक-बंधन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ६९. | तैजस-बंधन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ७०. | कार्मण-बंधन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ७१. | औदारिक-संघातन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ७२. | वैक्रिय-संघातन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ७३. | आहारक-संघातन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ७४. | तैजस-संघातन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ७५. | कार्मण-संघातन-नामकर्म | ० | ० | ० | १४ |
| ७६. | वज्रऋषभनाराचसंहनन | ४ | १३ | १३ | १४ |
| ७७. | ऋषभनाराचसंहनन | ४ | १३ | १३ | १४ |
| ७८. | नाराचसंहनन | २ | ११ | ११ | १४ |
| ७९. | अर्धनाराचसंहनन | २ | ७ | ७ | १४ |
| ८०. | कालिकासंहनन | २ | ७ | ७ | १४ |
| ८१. | सेवार्तसंहनन | १ | ७ | ७ | १४ |
| ८२. | समचतुरस्रसंस्थान | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ८३. | न्यग्रोध. संस्थान | २ | १३ | १३ | १४ |
| ८४. | सादि संस्थान | २ | १३ | १३ | १४ |
| ८५. | वामन संस्थान | २ | १३ | १३ | १४ |
| ८६. | कुब्ज संस्थान | २ | १३ | १३ | १४ |
| ८७. | हुंडक संस्थान | १ | १३ | १३ | १४ |
| ८८. | कृष्णवर्ण-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ८९. | नीलवर्ण-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९०. | लोहितवर्ण-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९१. | हारिद्रवर्ण-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९२. | शुक्लवर्ण-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९३. | सुरभिगन्ध-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९४. | दुरभिगन्ध-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९५. | तिक्तरस-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९६. | कटुकरस-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९७. | कषायरस-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |
| ९८. | अम्लरस-नामकर्म | ७ $\frac{६}{७}$ | १३ | १३ | १४ |

| | | | | | |
|------|---------------------------|---------------------------------|----------|---------|----------------|
| १९९. | मधुररस-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १००. | कर्कश-स्पर्श-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १०१. | मृदु-स्पर्श-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १०२. | गुरु-स्पर्श-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १०३. | लघु-स्पर्श-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १०४. | शीत-स्पर्श-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १०५. | उष्ण-स्पर्श-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १०६. | स्निग्ध-स्पर्श-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १०७. | रुक्ष-स्पर्श-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १०८. | नरकानुपूर्वी-नामकर्म | १ | १,४-२ | १,४-२ | ८/९ |
| १०९. | तिर्यञ्चानुपूर्वी-नामकर्म | २ | १,२,४-३ | १,२,४-३ | ८/९ |
| ११०. | मनुष्यानुपूर्वी-नामकर्म | ४ | १,२,४-३ | १,२,४-३ | १४ |
| १११. | देवानुपूर्वी-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १,२,४-३ | १,२,४-३ | १४ |
| ११२. | शुभविहायोगति-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| ११३. | अशुभविहायोगति-नामकर्म | २ | १३ | १३ | १४ |
| ११४. | पराघात-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| ११५. | उच्छ्वास-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| ११६. | आतप-नामकर्म | १ | १ | १ | ८/९ |
| ११७. | उद्योत-नामकर्म | २ | ५ | ५ | ८/९ |
| ११८. | अगुरु-लघु-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| ११९. | तीर्थङ्कर-नामकर्म | चौथा से आठवें के ६ भाग तक | १३, १४-२ | तेरहवाँ | दु.ती. छोड़ |
| १२०. | निर्माण-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १२१. | उपघात-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |
| १२२. | त्रस-नामकर्म | ७/६ ७/७ | १३ | १३ | १४ |

| | | | | | |
|------|--------------------|-------------|----|----|--------------------|
| १२३. | बादर-नामकर्म | ७ ७ ७ | १३ | १३ | १४ |
| १२४. | पर्याप्त-नामकर्म | ७ ७ ७ | १३ | १३ | १४ |
| १२५. | प्रत्येक-नामकर्म | ७ ७ ७ | १३ | १३ | १४ |
| १२६. | स्थिर-नामकर्म | ७ ७ ७ | १३ | १३ | १४ |
| १२७. | शुभ-नामकर्म | ७ ७ ७ | १३ | १३ | १४ |
| १२८. | सुभग-नामकर्म | ७ ७ ७ | १३ | १३ | १४ |
| १२९. | सुस्वर-नामकर्म | ७ ७ ७ | १३ | १३ | १४ |
| १३०. | आदेय-नामकर्म | ७ ७ ७ | १३ | १३ | १४ |
| १३१. | यशःकीर्ति-नामकर्म | १० | १४ | १३ | १४ |
| १३२. | स्थावर-नामकर्म | १ | २ | २ | ८ $\frac{१}{२}$ |
| १३३. | सूक्ष्म-नामकर्म | १ | १ | १ | ८ $\frac{१}{२}$ |
| १३४. | अपर्याप्त-नामकर्म | १ | १ | १ | १४ |
| १३५. | साधारण-नामकर्म | १ | १ | १ | ८ $\frac{१}{२}$ |
| १३६. | अस्थिर-नामकर्म | ६ | १३ | १३ | १४ |
| १३७. | अशुभ-नामकर्म | ६ | १३ | १३ | १४ |
| १३८. | दुर्भग-नामकर्म | २ | ४ | ४ | १४ |
| १३९. | दुःस्वर-नामकर्म | २ | १३ | १३ | १४ |
| १४०. | अनादेय-नामकर्म | २ | ४ | ४ | १४ |
| १४१. | अयशःकीर्ति-नामकर्म | २ | ४ | ४ | १४ |
| | गोत्र-कर्म-२ | | | | |
| १४२. | उच्चैर्गोत्र | १० | १४ | १३ | १४ |
| १४३. | नीचगोत्र | २ | ५ | ५ | १४ |
| | अन्तरायकर्म-५ | | | | |
| १४४. | दानान्तराय | १० | १२ | १२ | १२ |
| १४५. | लाभान्तराय | १० | १२ | १२ | १२ |
| १४६. | भोगान्तराय | १० | १२ | १२ | १२ |
| १४७. | उपभोगान्तराय | १० | १२ | १२ | १२ |
| १४८. | वीर्यान्तराय | १० | १२ | १२ | १२ |

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि-विरचित
कर्मविपाक अर्थात् कर्मग्रन्थ
(हिन्दी अनुवाद सहित)
(तृतीय भाग)

प्रस्तावना

विषय

मार्गणाओं में गुणस्थानों को लेकर बन्धस्वामित्व का वर्णन इस कर्मग्रन्थ में किया है; अर्थात् किस-किस मार्गणा में कितने गुणस्थानों का सम्भव है और प्रत्येक मार्गणावर्ती जीवों की सामान्य-रूप से तथा गुणस्थान के विभागानुसार कर्म-बन्ध-सम्बन्धिनी कितनी योग्यता है इसका वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

मार्गणा, गुणस्थान और उनका पारस्परिक अन्तर

(क) **मार्गणा**—संसार में जीवन की बनावट में जुदाई है। क्या डील-डौल, क्या इन्द्रिय-रचना, क्या रूप-रंग, क्या चाल-ढाल, क्या विचार-शक्ति, क्या मनोबल, क्या विकारजन्य भाव, क्या चारित्र सब विषयों में जीव एक दूसरे से भिन्न हैं। यह भेद-विस्तार कर्मजन्य—औदयिक, औपशमिक; क्षायोपशमिक और क्षायिक—भावों पर तथा सहज पारिणामिक भावों पर अवलम्बित है। भिन्नता की गहराई इतनी ज्यादा है कि इससे सारा जगत् आप ही अजायबघर बना हुआ है। इन अनन्त भिन्नताओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में चौदह विभागों में विभाजित किया है। चौदह विभागों के भी अवान्तर विभाग किये हैं, जो ६२ हैं। जीवों की बाह्य-आन्तरिक-जीवन-सम्बन्धिनी अनन्त भिन्नताओं के बुद्धिगम्य उक्त वर्गीकरण को शास्त्र में 'मार्गणा' कहते हैं।

(ख) **गुणस्थान**—मोह का प्रगाढ़तम आवरण, जीव की निकृष्टतम अवस्था है। सम्पूर्ण चारित्र-शक्ति का विकास निर्मोहता और स्थिरता की पराकाष्ठा—जीव की उच्चतम अवस्था है। निकृष्टतम अवस्था से निकल कर उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिये जीव मोह के परदे को क्रमशः हटाता है और अपने स्वाभाविक गुणों का विकास करता है। इस विकास-मार्ग में जीव को अनेक अवस्थायें तय करनी पड़ती हैं। जैसे थरमामीटर की नली के अङ्क, उष्णता के परिमाण को बतलाते हैं वैसे ही उक्त अनेक अवस्थायें जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा को बताती हैं। दूसरे शब्दों में इन अवस्थाओं को आध्यात्मिक 'गुणस्थान' कहते हैं। इन क्रमिक संख्यातीत अवस्थाओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में १४ विभागों में विभाजित किया है। यही १४ विभाग जैन शास्त्र

में '१४ गुणस्थान' कहे जाते हैं। इन क्रमिक संख्यातीत अवस्थाओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में १४ विभागों में विभाजित किया है। यही १४ विभाग जैन शास्त्र में '१४ गुणस्थान' कहे जाते हैं।

वैदिक साहित्य में इस प्रकार की आध्यात्मिक अवस्थाओं का वर्णन है। **पातञ्जल योग-दर्शन**^१ में ऐसी आध्यात्मिक भूमिकाओं का मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा नाम से उल्लेख किया गया है। योगवासिष्ठ^२ में अज्ञान की सात और ज्ञान की सात इस तरह चौदह चित्तभूमिकाओं का विचार आध्यात्मिक विकास के आधार पर बहुत विस्तार से किया गया है।

(ग) मार्गणा और गुणस्थान का पारस्परिक अन्तर—मार्गणाओं की कल्पना कर्म-पटल के तरतमभाव पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताएं जीव को घेरे हुए हैं वही मार्गणाओं की कल्पना का आधार हैं। इसके विपरीत गुणस्थानों की कल्पना कर्मपटल के, खास कर मोहनीय कर्म के, तरतमभाव और योग की प्रवृत्ति-निवृत्ति पर अवलम्बित है।

मार्गणाएँ जीव के विकास की सूचक नहीं हैं, किन्तु वे उसके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण हैं। इससे उलटा गुणस्थान, जीव के विकास के सूचक हैं, वे विकास की क्रमिक अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण हैं।

मार्गणाएँ सब सह-भाविनी हैं पर गुणस्थान क्रम-भावी। इसी कारण प्रत्येक जीव में एक साथ चौदहों मार्गणाएँ किसी न किसी प्रकार से पाई जाती हैं—सभी संसारी जीव एक ही समय में प्रत्येक मार्गणा से वर्तमान पाये जाते हैं। इससे उलटा गुणस्थान एक समय में एक जीव में एक ही पाया जाता है—एक समय में सब जीव किसी एक गुणस्थान के अधिकारी नहीं बन सकते, किन्तु उनका कुछ भाग ही एक समय में एक गुणस्थान का अधिकारी होता है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि एक जीव एक समय में किसी एक गुणस्थान में ही वर्तमान होता है, परन्तु एक ही जीव एक समय में चौदहों मार्गणाओं में वर्तमान होता है।

पूर्व-पूर्व गुणस्थान को छोड़कर उत्तरोत्तर गुणस्थान को प्राप्त करना आध्यात्मिक विकास को बढ़ाना है, परन्तु पूर्व-पूर्व मार्गणा को छोड़कर उत्तरोत्तर मार्गणा न तो प्राप्त ही की जा सकती हैं और न इनसे आध्यात्मिक विकास

१. पाद १ सू. ३६; पाद ३ सू. ४८-४९ का भाष्य; पाद १ सूत्र १ की टीका।

२. उत्पत्ति प्रकरण-सर्ग ११७-११८-१२६, निर्वाण १२०-१२६।

ही सिद्ध होता है। विकास की तेरहवीं भूमिका तक पहुँचे हुए-कैवल्य-प्राप्त जीव में भी कषाय के सिवाय सब मार्गणाएँ पाई जाती हैं पर गुणस्थान केवल तेरहवाँ पाया जाता है। अन्तिम-भूमिका-प्राप्त जीव में भी तीन चार को छोड़ सब मार्गणाएँ होती हैं जो कि विकास की बाधक नहीं हैं, किन्तु गुणस्थान उसमें केवल चौदहवाँ होता है।

पिछले कर्मग्रन्थों के साथ तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति—दुःख हेय है क्योंकि उसे कोई भी नहीं चाहता। दुःख का सर्वथा नाश तभी हो सकता है जबकि उसके असली कारण का नाश किया जाय। दुःख की असली जड़ है कर्म (वासना)। इसलिये उसका विशेष परिज्ञान सबको करना चाहिये, क्योंकि कर्म का परिज्ञान बिना किये न तो कर्म से छुटकारा पाया जा सकता है और न दुःख से। इसी कारण पहले कर्मग्रन्थ में कर्म के स्वरूप का तथा उसके प्रकारों का बुद्धिगम्य वर्णन किया है।

कर्म के स्वरूप और प्रकारों को जानने के बाद यह प्रश्न होता है कि क्या कदाग्रही-सत्याग्रही, अजितेन्द्रिय-जितेन्द्रिय, अशान्त-शान्त और चपल-स्थिर सब प्रकार के जीव अपने-अपने मानस-क्षेत्र में कर्म के बीज को बराबर परिमाण में ही संग्रह करते और उनके फल को चखते रहते हैं या न्यूनाधिक परिमाण में? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। गुणस्थान के अनुसार प्राणीवर्ग के चौदह विभाग करके प्रत्येक विभाग की कर्म-विषयक बन्ध-उदीरणा-सत्ता—सम्बन्धिनी योग्यता का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार प्रत्येक गुणस्थान वाले अनेक शरीरधारियों की कर्म-बन्ध आदि सम्बन्धिनी योग्यता दूसरे कर्मग्रन्थ के द्वारा मालूम की जाती है उसी प्रकार एक शरीरधारी की कर्म-बन्ध-आदि-सम्बन्धिनी योग्यता, जो भिन्न-भिन्न समय में आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष के अनुसार बदलती रहती है उसका ज्ञान भी उसके द्वारा किया जा सकता है। अतएव प्रत्येक विचारशील प्राणी अपने या अन्य के आध्यात्मिक विकास के परिमाण का ज्ञान करके यह जान सकता है कि मुझमें या अन्य में किस-किस प्रकार के तथा कितने कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता की योग्यता है।

उक्त प्रकार का ज्ञान होने के बाद फिर यह प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले भिन्न-भिन्न गति के जीव या समान गुणस्थान वाले किन्तु न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीव कर्म-बन्ध की समान योग्यता वाले होते हैं या असमान योग्यता वाले? इस प्रकार यह भी प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले स्थावर-

जंगम जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु भिन्न-भिन्न-योग-युक्त जीव की या समान गुणस्थान वाले भिन्न-भिन्न-लिङ्ग (वेद) धारी जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु विभिन्न कषाय वाले जीव की बन्ध योग्यता बराबर ही होती है या न्यूनाधिक? इस तरह ज्ञान, दर्शन, संयम आदि गुणों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार के परन्तु गुणस्थान की दृष्टि से समान प्रकार के जीवों की बन्ध योग्यता के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर तीसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। इसमें जीवों की गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि चौदह अवस्थाओं को लेकर गुणस्थान-क्रम से यथासंभव बन्ध-योग्यता दिखाई है, जो आध्यात्मिक दृष्टि वालों को बहुत मनन करने योग्य है।

दूसरे कर्मग्रन्थ के ज्ञान की अपेक्षा—दूसरे कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों को लेकर जीवों की कर्म-बन्ध-सम्बन्धिनी योग्यता दिखाई है और तीसरे में मार्गणाओं को लेकर मार्गणाओं में भी सामान्य-रूप से बन्ध-योग्यता दिखाकर फिर प्रत्येक मार्गणा में यथासंभव गुणस्थानों को लेकर योग्यता दिखाई गई है। इसीलिये उक्त दोनों कर्मग्रन्थों के विषय भिन्न होने पर भी उनका आपस में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि जो दूसरे कर्मग्रन्थ को अच्छी तरह न पढ़ ले वह तीसरे का अधिकारी ही नहीं हो सकता। अतः तीसरे के पहले दूसरे का ज्ञान कर लेना चाहिये।

प्राचीन और नवीन तीसरा कर्मग्रन्थ—ये दोनों, विषय में समान हैं। नवीन की अपेक्षा प्राचीन में विषय-वर्णन कुछ विस्तार से किया है; यही भेद है। इसी से नवीन में जितना विषय २५ गाथाओं में वर्णित है उतना ही विषय प्राचीन में ५४ गाथाओं में। ग्रन्थकार ने अभ्यासियों की सरलता के लिए नवीन कर्मग्रन्थ की रचना में यह ध्यान रक्खा है कि निष्प्रयोजन शब्द-विस्तार न हो और विषय पूरा आ जाये। इसीलिए गति आदि मार्गणा में गुणस्थानों की संख्या का निर्देश जैसा प्राचीन कर्मग्रन्थ में बन्ध-स्वामित्व के कथन से अलग किया है नवीन कर्मग्रन्थ में वैसा नहीं किया है; किन्तु यथासंभव गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व दिखाया है, जिससे उनकी संख्या को अभ्यासी आप ही जान ले। नवीन कर्मग्रन्थ है संक्षिप्त, पर वह इतना पूरा है कि इसके अभ्यासी थोड़े ही में विषय को जान कर प्राचीन बन्ध-स्वामित्व को बिना टीका-टिप्पणी की मदद के जान सकते हैं इसी से पठन-पाठन में नवीन तीसरे का प्रचार है।

गोमटसार के साथ तुलना—तीसरे कर्मग्रन्थ का विषय कर्मकाण्ड है, पर उसकी वर्णन-शैली कुछ भिन्न है। इसके सिवाय तीसरे कर्मग्रन्थ में जो- जो विषय नहीं हैं और दूसरे के सम्बन्ध की दृष्टि से जिस-जिस विषय का वर्णन

करना पढ़ने वालों के लिए लाभदायक है वह सब कर्मकाण्ड में है। तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं में केवल बन्ध-स्वामित्व वर्णित है परन्तु कर्मकाण्ड में बन्ध-स्वामित्व के अतिरिक्त मार्गणाओं को लेकर उदय-स्वामित्व, उदीरणा-स्वामित्व और सत्ता-स्वामित्व भी वर्णित है। (इसके विशेष खुलासे के लिये परिशिष्ट (क) नं. १ देखें)। इसलिए तीसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यासियों को उसे अवश्य देखना चाहिये। तीसरे कर्मग्रन्थ में उदय-स्वामित्व आदि का विचार इसलिए नहीं किया जान पड़ता है कि दूसरे और तीसरे कर्मग्रन्थ के पढ़ने के बाद अभ्यासी उसे स्वयं सोच ले। परन्तु आजकल तैयार विचार को सब जानते हैं; स्वतन्त्र विचार कर विषय को जानने वाले बहुत कम देखे जाते हैं। इसलिए कर्मकाण्ड की उक्त विशेषता से सब अभ्यासियों को लाभ उठाना चाहिये।

*

श्रीदेवेन्द्रसूरि-विरचित।
बन्धस्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ।

(हिन्दी-भाषानुवाद-सहित।)

‘मंगल और विषय-कथन’

बन्धविहाणविमुक्तं, वन्दिय सिरिवद्धमाणजिणचन्द्रं।

गइयाईसु वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं॥१॥

बन्धविधानविमुक्तं वन्दित्वा श्रीवर्धमानजिनचन्द्रम्।

गत्यादिषु वक्ष्ये समासतो बन्धस्वामित्वम्॥१॥

अर्थ—भगवान् वीरजिनेश्वर जो चन्द्र के समान सौम्य हैं तथा जो कर्म-बन्ध के विधान से निवृत्त हैं—कर्म को नहीं बाँधते। उन्हें नमस्कार करके गति आदि प्रत्येक मार्गणा में वर्तमान जीवों के बन्ध-स्वामित्व को मैं संक्षेप से कहूँगा॥१॥

भावार्थ

बन्ध—मिथ्यात्व^१ आदि हेतुओं से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-योग्य परमाणुओं का जो सम्बन्ध है, उसे बन्ध कहते हैं।

मार्गणा—गति आदि जिन अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान, जीवस्थान आदि की मार्गणा—विचारणा—की जाती है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं।

मार्गणाओं के मूल-भेद^२ १४ और उत्तर-भेद ६२ हैं; जैसे—पहली गतिमार्गणा के ४, दूसरी इन्द्रियमार्गणा के ५, तीसरी कायमार्गणा के ६, चौथी योगमार्गणा के ३, पाँचवीं वेदमार्गणा के ३, छठी कषायमार्गणा के ४, सातवीं ज्ञानमार्गणा के ८, आठवीं संयममार्गणा के ७, नौवीं दर्शनमार्गणा के ४, दसवीं लेश्यामार्गणा के ६, ग्यारहवीं भव्यमार्गणा के २, बारहवीं सम्यक्त्व मार्गणा के

१. देखें चौथे कर्मग्रन्थ की ५० वीं गाथा।

२. ‘गइ इंदिए य काये वेए कसाय नाणे या

संजम दंसण लेसा भवसम्मे सन्नि आहारे॥१॥ (चौथा कर्मग्रन्थ)

६, तेरहवीं संज्ञिमार्गणा के २ और चौदहवीं आहारकमार्गणा के २ भेद हैं। कुल ६२ भेद^१ हुए।

बन्धस्वामित्वं—कर्मबन्ध की योग्यता को 'बन्धस्वामित्व' कहते हैं। जो जीव जितने कर्मों को बोध सकता है वह उतने कर्मों के बन्ध का स्वामी कहलाता है।

'संकेत के लिये उपयोगी प्रकृतियों का दो गाथाओं में संग्रह।'

जिणसुर विउवाहार दु-देवाउय नरयसुहुम विगलतिगं
एगिंदिथावरायव-नपुमिच्छं हुण्डछेवट्टं ॥२॥

जिनसुरवैक्रियाहारकद्विकदेवायुष्कनरकसूक्ष्मविकलत्रिकम् ।

एकेन्द्रियस्थावरातप नपुंमिथ्याहुण्डसेवार्तम् ॥२॥

अणमज्झागिइ संघय-णकुखगनियइत्थिदुहगथीणतिगं ।

उज्जोयतिरिदुगं तिरि-नराउनरउरलदुगरिसहं ॥३॥

अनमध्याकृतिसंहनन कुखग नीचस्त्रीदुर्भग स्त्यानद्धित्रिकम् ।

उद्योततिर्यग्द्विकं तिर्यग्नरायुर्नरौदारिक द्विक ऋषभम् ॥३॥

अर्थ—जिननामकर्म (१), देव-द्विक—देवगति, देव आनुपूर्वी—(३), वैक्रिय-द्विक—वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग (५), आहारकद्विक-आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग-(७), देवआयु (८), नरकत्रिक-नरकगति, नरक आनुपूर्वी, नरक आयु-(११), सूक्ष्मत्रिक-सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारणा नामकर्म-(१४) विकलत्रिक-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय (१७), एकेन्द्रियजाति (१८), स्थावरनामकर्म (१९), आतपनामकर्म (२०), नपुंसकवेद (२१), मिथ्यात्व (२२), हुण्डसंस्थान (२३), नपुंसकवेद (२१), मिथ्यात्व (२२), हुण्डसंस्थान (२३), सेवार्तसंहनन (२४)॥२॥ अनन्तानुबंधि-चतुष्क-अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ (२८) मध्यमसंस्थान-चतुष्क—न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज—(३२) मध्यमसंहनन-चतुष्क-ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका—(३६) दुर्भग-त्रिक-दुर्भग; दुःस्वर, अनादेयनामकर्म—(४२); स्त्यानद्धि-त्रिक-निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानद्धि—(४५), उद्योतनामकर्म (४६) तिर्यञ्चद्विक—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चआनुपूर्वी-(४८), तिर्यञ्चआयु (४९), मनुष्य आयु (५०), मनुष्य-द्विक—मनुष्यगति, मनुष्य आनुपूर्वी-(५२), १.इनको विशेषरूप से जानने के लिये चौथे कर्मग्रन्थ की दसवीं से चौदहवीं तक गाथायें देखो।

औदारिक-द्विक—औदारिकशरीर, औदारिक अंगोपांग-(५४) और ब्रह्मभनाराचसंहनन (५५)। इस प्रकार ५५ प्रकृतियाँ हुईं ॥३॥

भावार्थ—उक्त ५५ कर्म-प्रकृतियों का विशेष उपयोग इस कर्म-ग्रन्थ में संकेत के लिये है। यह संकेत इस प्रकार है—

किसी अभिमत प्रकृति के आगे जिस संख्या का कथन किया हो, उस प्रकृति से लेकर उतनी प्रकृतियों का ग्रहण उक्त ५५ कर्म-प्रकृतियों में से किया जाता है। उदाहरणार्थ—‘सुरएकोन विंशति’ यह संकेत देवद्विक से लेकर आतप-पर्यन्त १९ प्रकृतियों का बोधक है ॥२-३॥

‘चौदह मार्गणाओं में से गति मार्गणा को लेकर नरक गति का बन्धस्वामित्व चार गाथाओं से कहते हैं—

सुरइगुणवीसवज्जं, इगसउ ओहेण बंधहिं निरया ।

तित्थ विणा मिच्छिसयं, सासणि नपु-चउ विणाछनुई ॥४॥

सुरै कोनविंशतिवर्जमेकशतमोघेन बध्नन्ति निरयाः ।

तीर्थविनामिथ्यात्वेशतं सास्वादने नपुंसकचतुष्कं विनाषणवतिः ॥४॥

अर्थ—नारक जीव, बन्धयोग्य १२० कर्म-प्रकृतियों में से १०१ कर्म-प्रकृतियों को सामान्यरूप से बाँधते हैं; क्योंकि वे सुरद्विक से लेकर आतपनाकर्म-पर्यन्त १९ प्रकृतियों को नहीं बाँधते। पहले गुणस्थान में वर्तमान नारक १०१ में से तीर्थकर नामकर्म को छोड़ शेष १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं।

दूसरे गुणस्थान में वर्तमान नारक, नपुंसक आदि ४ प्रकृतियों को छोड़ कर उक्त १०० में से शेष ९६ प्रकृतियों को बाँधते हैं ॥४॥

भावार्थ

ओघबन्ध—किसी खास गुणस्थान या खास नरक की विवक्षा किये बिना ही सब नारक जीवों का जो बन्ध कहा जाता है वह उनका ‘सामान्य-बन्ध’ या ‘ओघ-बन्ध’ कहलाता है।

विशेषबन्ध—किसी खास गुणस्थान या किसी खास नरक को लेकर नारकों में जो बन्ध कहा जाता है वह उनका ‘विशेषबन्ध’ कहलाता है। जैसे यह कहना कि मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती नारक १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं इत्यादि।

इस तरह आगे अन्य मार्गणाओं में भी सामान्यबन्ध और विशेषबन्ध का मतलब समझना चाहिए।

नरकगति में सुरद्विक आदि १९ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, क्योंकि जिन स्थानों में उक्त १९ प्रकृतियों का उदय होता है नारक जीव नरकगति में से निकल कर उन स्थानों में नहीं उपजते। वे उदय-स्थान इस प्रकार हैं—

वैक्रियद्विक, नरकत्रिक, देवत्रिक-इनका उदय देव तथा नारक को होता है। सूक्ष्म नामकर्म सूक्ष्म एकेन्द्रिय में; अपर्याप्त नामकर्म अपर्याप्त तिर्यञ्च मनुष्य में; साधारण नामकर्म साधारण वनस्पति में; एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप नामकर्म एकेन्द्रिय में और विकलत्रिक द्वीन्द्रिय आदि में उदयमान होते हैं तथा आहारक द्विक का उदय चारित्र सम्पन्न लब्धिधारी मुनि को होता है।

सम्यक्त्वी ही तीर्थङ्कर नामकर्म के बन्ध के अधिकारी हैं। इसलिये मिथ्यात्वी नारक उसे बाँध नहीं सकते।

नपुंसक, मिथ्यात्व, हुण्ड और सेवार्त इन ४ प्रकृतियों को सास्वादन गुणस्थान वाले नारक जीव बाँध नहीं सकते; क्योंकि उनका बन्ध मिथ्यात्व के उदय काल में होता है, पर मिथ्यात्व का उदय सास्वादन के समय नहीं होता ॥४॥

विणुअण-छवीस मीसे, बिसयरि संमंमिजिणनराउजुया ।

इय रयणाइसु भंगो, पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥५॥

विनाऽनषड्विंशति मिश्रे द्वासप्ततिः सम्यक्त्वे जिननरायुर्युता ।

इति रत्नादिषु भंगः पङ्कादिषु तीर्थकरहीनः ॥५॥

अर्थ—तीसरे गुणस्थान में वर्तमान नारक जीव ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ९६ में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर मनुष्य-आयु-पर्यन्त २६ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते। चौथे गुणस्थान में वर्तमान नारक उक्त ७० तथा जिन नामकर्म और मनुष्य आयु, इन ७२ प्रकृतियों को बाँधते हैं। इस प्रकार नरकगति का यही सामान्य बंध-विधि रत्नप्रभा आदि तीन नरकों के नारकों को चारों गुणस्थानों में लागू पड़ता है। पंकप्रभा आदि तीन नरकों में भी तीर्थकर नामकर्म के अतिरिक्त वही सामान्य बंध-विधि समझना चाहिये ॥५॥

भावार्थ—पंकप्रभा आदि तीन नरकों का क्षेत्रस्वभाव ही ऐसा है कि जिससे उनमें रहने वाले नारक जीव सम्यक्त्वी होने पर भी तीर्थकर नामकर्म को बाँध नहीं सकते। इससे उनको सामान्यरूप से तथा विशेष रूप से पहले गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७१ का बंध है ॥५॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्चविणु मिच्छे।

इगनवइ सासाणे, तिरिआउ नपुंसचउवज्जं।।६।।

अजिनमनुजायुरोधे सप्तभ्यां नरद्विकोच्चं विना मिथ्यात्वे।

एकनवतिस्सासादने तिर्यगायुर्नपुंसकचतुष्कवर्जम्।।६।।

अर्थ—सातवें नरक के नारक, सामान्यरूप से ९९ प्रकृतियों को बाँधते हैं। क्योंकि नरकगति की सामान्य-बंध योग्य १०१ प्रकृतियों में से जिन नामकर्म तथा मनुष्य आयु को वे नहीं बाँधते। उसी नरक के मिथ्यात्वी नारक, उक्त ९९ में से मनुष्य गति, मनुष्य आनुपूर्वी तथा उच्चगोत्र को छोड़ ९६ प्रकृतियों को बाँधते हैं और सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक ९१ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि उक्त ९६ में से तिर्यञ्चआयु, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुण्डसंस्थान और सेवार्तसंहनन, इन ५ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते।।६।।

अणचउवीसविरहिया, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे।

सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं।।७।।

अनचतुर्विंशतिविरहिता सनरद्विकोच्चा च सप्ततिर्मिश्रद्विके।

सप्तदशशतमोधे मिथ्यात्वे पर्याप्ततिर्यञ्चो विना जिनाहारम्।।७।।

अर्थ—पूर्वोक्त ९१ में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर तिर्यञ्च-द्विक-पर्यन्त २४ प्रकृतियों को निकाल देने पर शेष ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें मनुष्यगति, मनुष्य आनुपूर्वी तथा उच्चगोत्र-तीन प्रकृतियों को मिलाने से कुल ७० प्रकृतियाँ होती हैं। इनको तीसरे तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान सातवें नरक के नारक बाँधते हैं। (तिर्यञ्चगति का बन्धस्वामित्व) पर्याप्त तिर्यञ्च सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि जिननामकर्म तथा आहारक-द्विक इन तीन प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते।।७।।

भावार्थ—पूर्व-पूर्व नरक से उत्तर-नरक में अध्यवसायों की शुद्धि इतनी कम हो जाती है कि मनुष्य-द्विक तथा उच्चगोत्ररूप जिन पुण्यप्रकृतियों के बन्धक परिणाम पहले नरक के मिथ्यात्वी नारकों को हो सकते हैं उनके बन्ध योग्य परिणाम सातवें नरक में तीसरे, चौथे गुणस्थान के अतिरिक्त अन्य गुणस्थान में असम्भव हैं। सातवें नरक में उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वे ही हैं जिनसे कि उक्त तीन प्रकृतियों का बन्ध किया जा सकता है। अतएव उसमें सबसे उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृतियाँ उक्त तीन ही हैं।

सामान्य नरक का तथा रत्नप्रभादि नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

| गुणस्थानों के नाम | बन्ध-प्रकृतियाँ | अबन्ध-प्रकृतियाँ | विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | ज्ञानावरणीय | दर्शनावरणीय | वेदनीयकर्म | मोहनीयकर्म | आयुर्कर्म | नामकर्म | गोत्रकर्म | अन्तरायकर्म | मूल-प्रकृतियाँ |
|-------------------|-----------------|------------------|----------------------|-------------|-------------|------------|------------|-----------|---------|-----------|-------------|----------------|
| ओष से | १०१ | १९ | १ | ५ | ९ | २ | २६ | २ | ५० | २ | ५ | ७-८ |
| मिथ्यात्व में | १०० | २० | ४ | ५ | ९ | २ | २६ | २ | ४९ | २ | ५ | ७-८ |
| सास्वादन में | ९६ | २४ | २६ | ५ | ९ | २ | २४ | २ | ४७ | २ | ५ | ७-८ |
| मिश्र में | ७० | ५० | ० | ५ | ६ | २ | १९ | ० | ३२ | १ | ५ | ७ |
| अविरत में | ७२ | ४८ | ० | ५ | ६ | २ | १९ | १ | ३३ | १ | ५ | ७-८ |

१. बाँधने योग्य, २. नहीं बाँधने योग्य, ३. बंध-विच्छेद योग्य, अबन्ध और बंधविच्छेद में अन्तर यह है कि किसी विवक्षित गुणस्थान की अबन्ध प्रकृतियाँ वे हैं जिनका बंध उस गुणस्थान में नहीं होता जैसे-नरकगति में मिथ्यात्व गुणस्थान में २० प्रकृतियाँ अबन्ध हैं। परंतु विवक्षित गुणस्थान की बन्ध-विच्छेद्य प्रकृतियाँ वे हैं जो उस गुणस्थान में बाँधी जाती हैं पर आगे के गुणस्थान में नहीं बाँधी जाती जैसे-नरकगति में मिथ्यात्व गुणस्थान की बन्ध-विच्छेद्य प्रकृतियाँ चार हैं। इसका मतलब यह है कि उन प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में तो होता है पर आगे के गुणस्थान में नहीं।

पङ्कप्रभा आदि नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

| | | | | | |
|--------------------------|-------|---------------|--------------|-----------|-----------|
| गुणस्थानों के नाम | ओष से | मिथ्यात्व में | सास्वादन में | मिश्र में | अविरत में |
| बन्ध-प्रकृतियाँ | १०० | १०० | ९६ | ७० | ७१ |
| अबन्ध्य-प्रकृतियाँ | २० | २० | २४ | ५० | ४९ |
| बन्धविच्छेद्य-प्रकृतियाँ | ० | ४ | २६ | ० | ० |
| ज्ञानावरणीय | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ |
| दर्शनावरणीय | ९ | ९ | ९ | ६ | ६ |
| वेदनीयकर्म | २ | २ | २ | २ | २ |
| मोहनीयकर्म | २६ | २६ | २४ | १९ | १९ |
| आयुर्कर्म | २ | २ | २ | ० | १ |
| नामकर्म | ४९ | ४९ | ४७ | ३२ | ३२ |
| गोत्रकर्म | २ | २ | २ | १ | १ |
| अन्तरायकर्म | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ |
| मूल-प्रकृतियाँ | ७-८ | ७-८ | ७-८ | ७ | ७-८ |

यद्यपि सातवें नरक के नारक-जीव मनुष्य आयु को नहीं बाँधते तथापि वे मनुष्यगति तथा मनुष्य आनुपूर्वी-नामकर्म को बाँध सकते हैं। यह नियम नहीं है कि 'आयु का बन्ध, गति और आनुपूर्वी नामकर्म के बन्ध के साथ ही होना चाहिये।'



सातवें नरक का बन्धस्वामित्व-यन्त्र

| | | | | | |
|---------------------------|-------|---------------|--------------|-----------|-----------|
| गुणस्थानों के नाम | ओष से | मिथ्यात्व में | सास्वादन में | मिश्र में | अविरत में |
| बन्ध-प्रकृतियाँ | १९ | १६ | ११ | ७० | ७० |
| अबन्ध्य-प्रकृतियाँ | २१ | २४ | २९ | ५० | ५० |
| बन्ध विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | ० | ५ | २४ | ० | ० |
| ज्ञानावरणीय | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ |
| दर्शनावरणीय | १ | १ | १ | ६ | ६ |
| वेदनीयकर्म | २ | २ | २ | २ | २ |
| मोहनीयकर्म | २६ | २६ | २४ | १९ | १९ |
| आयुर्कर्म | १ | १ | ० | ० | ० |
| नामकर्म | ४९ | ४७ | ४५ | ३२ | ३२ |
| गोत्रकर्म | २ | १ | १ | १ | १ |
| अन्तरायकर्म | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ |
| मूल-प्रकृतियाँ | ७-८ | ७-८ | ७ | ७ | ७ |

(तिर्यञ्चगति का बन्धस्वामित्व) सम्यक्त्वी होते हुये भी तिर्यञ्च अपने जन्म-स्वभाव से ही जिननामकर्म को बाँध नहीं सकते, वे आहारक-द्विक को भी नहीं बाँधते; इसका कारण यह है कि उसका बंध, चारित्र धारण करने वालों को ही हो सकता है, पर तिर्यञ्च चारित्र के अधिकारी नहीं हैं। अतएव उनके सामान्य-बंध में उक्त ३ प्रकृतियों की गिनती नहीं की है।।७।।

बिणु नरयसोल सासणि, सुराउ अणाएगतीस विणुमीसे।

ससुराउ सयरि संमे, बीयकसाए विणा देसे।।८।।

विना नरकषोडश सासादने सुरायुरनैकत्रिशतं विना मिश्रे।

ससुरायुः सप्ततिः सम्यक्त्वे द्वितीयकषायान्विना देशे।।८।।

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च १०१ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ११७ में से नरकत्रिक से लेकर सेवार्त-पर्यन्त १६ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते। तीसरे गुणस्थान में ६९ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि उक्त १०१ में से अनन्तानुबंधि-चतुष्क से लेकर वज्रऋषभनाराचसंहनन-पर्यन्त ३१ तथा देव आयु इन ३२ प्रकृतियों का बंध उनको नहीं होता। चौथे गुणस्थान में वे उक्त ६९ तथा देवआयु-कुल ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं तथा पाँचवें गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि उक्त ७० में से ४ अप्रत्याख्यानावरण कषायों का बंध उनको नहीं होता।।८।।

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च देव आयु को बाँधते हैं परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान उसे नहीं बाँधते; क्योंकि उस गुणस्थान के समय आयु^१ बाँधने के योग्य अध्यवसाय ही नहीं होते तथा उस गुणस्थान में मनुष्यगति-योग्य ६ (मनुष्य-द्विक, औदारिक-द्विक, वज्रऋषभनाराचसंहनन और मनुष्य आयु) प्रकृतियों को भी वे नहीं बाँधते। इसका कारण यह है कि चौथे गुणस्थान की तरह तीसरे गुणस्थान के समय, पर्याप्त मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही देवगति-योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं; मनुष्यगति-योग्य प्रकृतियों को नहीं। इस प्रकार अनन्तानुबंधि-चतुष्क से लेकर २५ प्रकृतियाँ-जिनका बंध तीसरे गुणस्थान में किसी को नहीं होता—उन्हें भी वे नहीं बाँधते। इससे देव आयु १, मनुष्यगति योग्य उक्त ६ तथा अनन्तानुबंधि-चतुष्क आदि २५-सब मिलाकर ३२ प्रकृतियों को उपर्युक्त १०१ में से घटा कर शेष ६९ प्रकृतियों का बंध

१. 'संमा मिच्छद्दिट्ठी आउ बंधंपि न करेइ'

इति वचनात्। 'मिस्सुणे आउस्सय' इत्यादि। (गोम्पटसार-कर्म.गा. ९२)

पर्याप्त तिर्यञ्चों को मिश्रगुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान में उनका देवा आयु के बंध का सम्भव होने के कारण ७० प्रकृतियों का बंध माना जाता है।

परन्तु पाँचवें गुणस्थान में उनको ६६ प्रकृतियों का बंध माना गया है, क्योंकि उस गुणस्थान में ४ अप्रत्याख्यानावरण कषाय का बंध नहीं होता। अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का बंध पाँचवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में न होने का कारण यह है कि 'कषाय के बंध का कारण कषाय का उदय है।' जिस प्रकार के कषाय का उदय हो उसी प्रकार के कषाय का बंध हो सकता है। अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय पहले चार ही गुणस्थानों में है, आगे नहीं, अतएव उसका बंध भी पहले चार ही गुणस्थानों में होता है॥८॥

*

पर्याप्त तिर्यज्व का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

| | | | | | | | | | | | | | | |
|-------------------|-----|----|----|---|---|---|----|---|---|---|----|---|---|-----|
| गुणस्थानों के नाम | | | | | | | | | | | | | | |
| ओष से | ११७ | ३ | ० | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ५ | २ | २६ | २ | ५ | ७-८ |
| मिथ्यात्व में | ११७ | ३ | १६ | ५ | ९ | २ | २६ | ४ | ५ | २ | २६ | २ | ५ | ७-८ |
| सास्वादन में | १०१ | १९ | ३२ | ५ | ९ | २ | २४ | ३ | ५ | २ | २४ | २ | ५ | ७-८ |
| मिश्र में | ६९ | ५१ | ० | ५ | ६ | २ | १९ | ० | ५ | २ | १९ | २ | ५ | ७ |
| अविरत में | ७० | ५० | ४ | ५ | ६ | २ | १९ | ४ | ५ | २ | १९ | २ | ५ | ७-८ |
| देशविरत में | ६६ | ५४ | ० | ५ | ६ | २ | १५ | २ | ५ | २ | १५ | २ | ५ | ७-८ |
| बन्ध-प्रकृतियाँ | | | | | | | | | | | | | | |
| अबन्ध-प्रकृतियाँ | | | | | | | | | | | | | | |
| ज्ञानावरणीय | | | | | | | | | | | | | | |
| दर्शनावरणीय | | | | | | | | | | | | | | |
| वेदनीयकर्म | | | | | | | | | | | | | | |
| मोहनीयकर्म | | | | | | | | | | | | | | |
| आयुर्कर्म | | | | | | | | | | | | | | |
| नामकर्म | | | | | | | | | | | | | | |
| गोत्रकर्म | | | | | | | | | | | | | | |
| अन्तरायकर्म | | | | | | | | | | | | | | |
| मूल-प्रकृतियाँ | | | | | | | | | | | | | | |

मनुष्यगति का बंधस्वामित्व।

इय चउगुणेषु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई।

जिण इक्कारस हीणं, नवसउ अपजत्त तिरियनरा।।९।।

इति चतुर्गुणेष्वपि नराः परमयताः सजिनमोघो देशादिषु।

जिनैकादशहीनं नवशतमपर्याप्ततिर्यङ्गराः।।९।।

अर्थ—पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त मनुष्य, उन्हीं ४ गुणस्थानों में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च के समान प्रकृतियों को बांधते हैं। भेद केवल इतना ही है कि चौथे गुणस्थान वाले पर्याप्त तिर्यञ्च, जिननामकर्म को नहीं बांधते पर मनुष्य उसे बांधते हैं तथा पाँचवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में, वर्तमान मनुष्य दूसरे कर्मग्रन्थ में कहे हुये क्रम के अनुसार प्रकृतियों को बांधते हैं। जो तिर्यञ्च तथा मनुष्य अपर्याप्त हैं वे जिननामकर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों को छोड़ कर बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से शेष १०९ प्रकृतियों को बांधते हैं।।९।।

भावार्थ—जिस प्रकार पर्याप्त तिर्यञ्च पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे गुणस्थान में ६९ प्रकृतियों को बांधते हैं उसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य भी उन ३ गुणस्थानों में उतनी-उतनी ही प्रकृतियों को बांधते हैं। परन्तु चौथे गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यञ्च ७० प्रकृतियों को बांधते हैं, पर पर्याप्त मनुष्य ७१ प्रकृतियों को; क्योंकि वे जिननामकर्म को बांधते हैं लेकिन तिर्यञ्च उसे नहीं बांधते। पाँचवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान—पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में जितनी-जितनी बन्ध योग्य प्रकृतियाँ दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में कही हुई हैं, उतनी-उतनी ही प्रकृतियों को उस-उस गुणस्थान के समय पर्याप्त मनुष्य बांधते हैं; जैसे—पाँचवें गुणस्थान में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५९ या ५८ इत्यादि।

अपर्याप्त तिर्यञ्च तथा अपर्याप्त मनुष्य को १०९ प्रकृतियों का जो बंध कहा है, वह सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से समझना चाहिये; क्योंकि इस जगह 'अपर्याप्त' शब्द का मतलब लब्धि अपर्याप्त से है, करण अपर्याप्त से नहीं; और लब्धि अपर्याप्त जीव को पहला ही गुणस्थान होता है।

'अपर्याप्त' शब्द का उक्त अर्थ करने का कारण यह है कि करण अपर्याप्त मनुष्य, तीर्थङ्कर नाम कर्म को बांध भी सकता है, पर १०९ में उस प्रकृति की गणना नहीं है।।९।।



पर्याप्त मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

| | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | |
|-------------------------|-----|-----|-----|----|-----|-----|-----|--|--|--|--|--|--|--|--|--|--|--|--|--|
| गुणस्थानों के नाम | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | |
| बन्ध-प्रकृतियाँ | १२० | ११७ | १०१ | ६९ | ७१ | ६७ | ६३ | | | | | | | | | | | | | |
| अबन्ध-प्रकृतियाँ | ० | ३ | १९ | ५१ | ४९ | ५३ | ५७ | | | | | | | | | | | | | |
| बन्ध विच्छेद-प्रकृतियाँ | ० | १६ | ३२ | ० | ४ | ४ | ६/७ | | | | | | | | | | | | | |
| ज्ञानावरणीय | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ | | | | | | | | | | | | | |
| दर्शनावरणीय | ९ | ९ | ९ | ६ | ६ | ६ | ६ | | | | | | | | | | | | | |
| वेदनीयकर्म | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | | | | | | | | | | | | | |
| मोहनीयकर्म | २६ | २६ | २४ | १९ | १९ | १५ | ११ | | | | | | | | | | | | | |
| आयुर्कर्म | ४ | ४ | ३ | ० | १ | १ | १ | | | | | | | | | | | | | |
| नामकर्म | ६७ | ६४ | ५१ | ३१ | ३२ | ३२ | ३२ | | | | | | | | | | | | | |
| गोत्रकर्म | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | | | | | | | | | | | | | |
| अन्तरायकर्म | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ | | | | | | | | | | | | | |
| मूल-प्रकृतियाँ | ७-८ | ७-८ | ७-८ | ७ | ७-८ | ७-८ | ७-८ | | | | | | | | | | | | | |

| गुणस्थानों के नाम | बन्ध-प्रकृतियाँ | अबन्ध-प्रकृतियाँ | बन्ध विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | ज्ञानावरणीय | दर्शनावरणीय | वेदनीयकर्म | मोहनीयकर्म | आयुर्कर्म | नामकर्म | गोत्रकर्म | अन्तरायकर्म | मूल-प्रकृतियाँ |
|--------------------|----------------------------|-------------------------------|---------------------------|-------------|-------------|------------|------------|-----------|---------------|-----------|-------------|----------------|
| अप्रमत्त में | ५९ ५८ | ६१ ६२ | १ ० | ५ | ६ | १ | १ | १ ० | ३१ | १ | ५ | ७-८ |
| अपूर्वकरण में | ५८ ५६ २६ | ६२ ६४ ६४ | २ ३० ४ | ५ | ६ ४ ४ | १ | १ | ० | ३१ ३१ १ | १ | ५ | ७-८ |
| अनिवृत्ति में | २२ २१ २० १९ १८ | १८ १९ १०० १०१ १०२ | १ १ १ १ १ | ५ | ४ | १ | ५ ४ ३ २ १ | ० | १ | १ | ५ | ७ |
| सूक्ष्मसम्पराय में | १७ | १०३ | १६ | ५ | ४ | १ | ० | ० | १ | १ | ५ | ६ |
| उपशान्तमोह में | १ | ११९ | ० | ० | ० | १ | ० | ० | ० | ० | ० | १ |
| क्षीणमोह में | १ | ११९ | ० | ० | ० | १ | ० | ० | ० | ० | ० | १ |
| सयोगिकेवली में | १ | ११९ | १ | ० | ० | १ | ० | ० | ० | ० | ० | १ |
| अयोगिकेवली में | ० | १२० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० |

१. ५८ का बन्ध पहले भाग में, ५६ का दूसरे से छठे तक पाँच भागों में और २६ का बन्ध सातवें भाग में समझना।

लब्धि अपर्याप्त तिर्यज्व तथा मनुष्यका बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

| | | |
|-------------------------|-------|---------------|
| मूल-प्रकृतियाँ | ७-८ | ७-८ |
| अन्तरायकर्म | ५ | ५ |
| गोत्रकर्म | २ | २ |
| नामकर्म | ५८ | ५८ |
| आयुकर्म | २ | २ |
| मोहनीयकर्म | २६ | २६ |
| वेदनीयकर्म | २ | २ |
| दर्शनावरणीय | ९ | ९ |
| ज्ञानावरणीय | ५ | ५ |
| विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | ० | ० |
| अबन्ध्य-प्रकृतियाँ | ११ | ११ |
| बन्ध्य-प्रकृतियाँ | १०९ | १०९ |
| के गुणस्थानों नाम | ओष से | मिथ्यात्व में |

‘देवगति के बन्ध-स्वामित्व को दो गाथाओं से कहते हैं’—

निरयव्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिग सहिया।

कप्पदुगे विय एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे।।१०।।

निरया इव सुरा नवरमोघे मिथ्यात्व एकेन्द्रियत्रिक सहिताः।

कल्पद्विकेऽपि चैवं जिनहीनो ज्योतिष भवनवाने।।१०।।

अर्थ—यद्यपि देवों का प्रकृति-बन्ध नारकों के प्रकृति-बन्ध के समान है, तथापि सामान्य-बन्ध-योग्य और पहले गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों में कुछ विशेष है; क्योंकि एकेन्द्रियजाति, स्थावर तथा आतपनामकर्म इन तीन प्रकृतियों को देव बांधते हैं, पर नारक उन्हें नहीं बांधते। ‘सौधर्म’ नामक पहले और ‘ईशान’ नामक दूसरे कल्प (देवलोक) में जो देव रहते हैं, उनका सामान्य तथा विशेष प्रकृति-बन्ध देवगति के उक्त प्रकृति-बन्ध के अनुसार ही है। इस प्रकार ज्योतिष, भवनपति और व्यन्तर निकाय के देव जिननामकर्म के अतिरिक्त और सब प्रकृतियों को पहले दूसरे देवलोक के देवों के समान ही बांधते हैं।

भावार्थ—सामान्य देवगति में तथा पहले दूसरे देवलोक के देवों को सामान्यरूप से १०४, पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बंध होता है।

उपर्युक्त ज्योतिष आदि देवों को सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७१ प्रकृतियों का बंध होता है।।१०।।

*

सामान्य-देवगति का तथा पहले दूसरे देवलोक के देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

| गुणस्थानों के नाम | बन्ध-प्रकृतियाँ | अबन्ध-प्रकृतियाँ | विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | ज्ञानावरणीय | दर्शनावरणीय | वेदनीयकर्म | मोहनीयकर्म | आयुर्कर्म | नामकर्म | गोत्रकर्म | अन्तरायकर्म | मूल-प्रकृतियाँ |
|-------------------|-----------------|------------------|----------------------|-------------|-------------|------------|------------|-----------|---------|-----------|-------------|----------------|
| ओष से | १०४ | १६ | १ | ५ | ९ | २ | २६ | २ | ५३ | २ | ५ | ७-८ |
| मिथ्यात्व में | १०३ | १७ | ७ | ५ | ९ | २ | २६ | २ | ५२ | २ | ५ | ७-८ |
| सास्वादन में | ९६ | २४ | २६ | ५ | ९ | २ | २४ | २ | ४७ | २ | ५ | ७-८ |
| मिश्र में | ७० | ५० | ० | ५ | ६ | २ | १९ | ० | ३२ | १ | ५ | ७ |
| अविरत में | ७२ | ४८ | ० | ५ | ६ | २ | १९ | १ | ३३ | १ | ५ | ७-८ |

भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

| | | | | | | | | | | | | |
|-------------------|-------------------|--------------------|----------------------|-------------|-------------|------------|------------|---------|---------|-----------|-------------|----------------|
| गुणस्थानों के नाम | बन्ध्य-प्रकृतियाँ | अबन्ध्य-प्रकृतियाँ | विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | ज्ञानावरणीय | दर्शनावरणीय | वेदनीयकर्म | मोहनीयकर्म | आयुकर्म | नामकर्म | गोत्रकर्म | अन्तरायकर्म | मूल-प्रकृतियाँ |
| ओष से. | १०३ | १७ | ० | ५ | ९ | २ | २६ | २ | ५२ | २ | ५ | ७-८ |
| मिथ्यात्व में | १०३ | १७ | ७ | ५ | ९ | २ | २६ | २ | ५२ | २ | ५ | ७-८ |
| सास्वादन में | ९६ | २४ | २६ | ५ | ९ | २ | २४ | २ | ४७ | २ | ५ | ७-८ |
| मिश्र में | ७० | ५० | ० | ५ | ६ | २ | १९ | ० | ३२ | १ | ५ | ७ |
| अविरत में | ७१ | ४९ | ० | ५ | ६ | २ | १९ | १ | ३२ | १ | ५ | ७-८ |

रयणु व सणं कुमारा-इ आणयाई उज्जोयचउ रहिया।
अपज्जतिरिय व नवसय मिगिंदिपुढ्विजलतरुविगले।।११।।

रत्नवत्सनत्कुमारादय आनतादय उद्योतचतुर्विरहिताः।

अपर्याप्ततिर्यग्वन्नवशतमेकेन्द्रियपृथ्वीजलतरुविकले।।११।।

अर्थ—तीसरे सनत्कुमार-देवलोक से लेकर आठवें सहस्रार तक के देव, रत्नप्रभा-नरक के नारकों के समान प्रकृति बंध के अधिकारी हैं; अर्थात् वे सामान्यरूप से १०१, मिथ्यात्वगुणस्थान में १००, दूसरे गुणस्थान में ९६, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों को बांधते हैं। आनत से अच्युत-पर्यन्त ४ देवलोक और ९ ग्रैवेयक के देव उद्योत-चतुष्क के अतिरिक्त और सब प्रकृतियों को सनत्कुमार के देवों के समान बांधते हैं; अर्थात् वे सामान्यरूप से ९७, पहले गुणस्थान में ९६, दूसरे में ९२, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों को बांधते हैं। (इन्द्रिय और कायमार्गणा का बन्धस्वामित्व)—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकायिक, जलकायिक तथा वनस्पतिकायिक जीव, अपर्याप्त तिर्यञ्च के समान जिननामकर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों को छोड़कर बंध योग्य १२० में से शेष १०९ प्रकृतियों को सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में बांधते हैं।।११।।

भावार्थ—उद्योत-चतुष्क से उद्योतनामकर्म, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और तिर्यञ्चआयु का ग्रहण होता है।

यद्यपि अनुत्तरविमान के विषय में गाथा में कुछ नहीं कहा है, परन्तु समझ लेना चाहिये कि उसके देव सामान्यरूप से तथा चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों के बंध के अधिकारी हैं। उन्हें चौथे के अतिरिक्त दूसरा गुणस्थान नहीं होता।

अपर्याप्त तिर्यञ्च की तरह उपर्युक्त एकेन्द्रिय आदि ७ मार्गणाओं के जीवों के परिणाम न तो सम्यक्त्व तथा चारित्र के योग्य शुद्ध ही होते हैं और न नरक-योग्य अति अशुद्ध ही, अतएव वे जिननामकर्म आदि ११ प्रकृतियों को बांध नहीं सकते।।११।।

*

नववें से लेकर ४ देवलोक तथा नव श्रैवेयक के देवों का बन्धस्वामित्व—यन्त्र।

| | | | | | | |
|-------------------|----------------------|-----|-----|-----|----|-----|
| गुणस्थानों के नाम | मूल-प्रकृतियाँ | ७-८ | ७-८ | ७-८ | ७ | ७-८ |
| ओष से | अन्तरायकर्म | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ |
| मिथ्यात्व में | गोत्रकर्म | २ | २ | २ | १ | १ |
| सास्वादन में | नामकर्म | ४७ | ४६ | ४४ | ३२ | ३३ |
| मिश्र में | आयुकर्म | १ | १ | १ | ० | १ |
| अविगत में | मोहनीयकर्म | २६ | २६ | २४ | १९ | १९ |
| | वेदनीयकर्म | २ | २ | २ | २ | २ |
| | दर्शनावरणीय | ९ | ९ | ९ | ६ | ६ |
| | ज्ञानावरणीय | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ |
| | विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | १ | ४ | २२ | ० | ० |
| | अबन्ध्य-प्रकृतियाँ | २३ | २४ | २८ | ५० | ४८ |
| | बन्ध्य-प्रकृतियाँ | ९७ | ९६ | ९२ | ७० | ७२ |

अनुत्तर विमानवासी देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

| | | |
|-------------------------|-------|-----------|
| मूल-प्रकृतियाँ | ७-८ | ७-८ |
| अन्तरायकर्म | ५ | ५ |
| गोत्रकर्म | १ | १ |
| नामकर्म | ३३ | ३३ |
| आयुकर्म | १ | १ |
| मोहनीयकर्म | १९ | १९ |
| वेदनीयकर्म | २ | २ |
| दर्शनावरणीय | ६ | ६ |
| ज्ञानावरणीय | ५ | ५ |
| विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | ० | ० |
| अबन्ध्य-प्रकृतियाँ | ४८ | ४८ |
| बन्ध्य-प्रकृतियाँ | ७२ | ७२ |
| के गुणस्थानों नाम | ओष से | अविरत में |

छनवइ सासणि विण सुहु-मतेर केइ पुणबिंति चउनवइं।

तिरियनराऊहि विणा, तणुपज्जत्तिं^१ न ते जंति।।१२।।

पण्णवतिः सासादने विना सूक्ष्मत्रयोदश केचित्पुनर्बुवन्ति।

तिर्यग्नरायुर्भ्यां विना तनुपर्याप्ति न ते यान्ति।।१२।।

अर्थ—पूर्वोक्त एकेन्द्रिय आदि जीव दूसरे गुणस्थान में ९६ प्रकृतियों को बांधते हैं, क्योंकि पहले गुणस्थान की बंध योग्य १०९ में से सूक्ष्मत्रिक से लेकर सेवार्थ-पर्यन्त १३ प्रकृतियों को वे नहीं बांधते। कोई आचार्य कहते हैं कि— 'ये एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थान के समय तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्य आयु को नहीं बांधते, इससे वे उस गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों को ही बांधते हैं। दूसरे गुणस्थान में तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्य आयु बांध न सकने का कारण यह है कि वे एकेन्द्रिय आदि, उस गुणस्थान में रह कर शरीरपर्याप्ति पूरी नहीं कर पाते।'।।१२।।

भावार्थ—एकेन्द्रिय आदि को अपर्याप्त अवस्था ही में दूसरे गुणस्थान का बंध सम्भव है; क्योंकि जो भवनपति, व्यन्तर आदि मिथ्यात्व से एकेन्द्रिय आदि की आयु बांध कर पीछे से सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं वे मरण के समय सम्यक्त्व को वमते हुए एकेन्द्रिय-आदि-रूप से पैदा होते हैं, उसी समय उनमें सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है।

दूसरे गुणस्थान में वर्तमान एकेन्द्रिय आदि जीवों के बन्धस्वामित्व के विषय में जो मत-भेद ऊपर कहा गया है, उसे समझने के लिये इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है कि—'कोई भी जीव इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी किये बिना आयु को बाँध नहीं सकता।'

९६ प्रकृतियों का बन्ध मानने वाले आचार्य का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इन्द्रियपर्याप्ति के पूर्ण हो चुकने के बाद जब आयु-बंध का काल आता है तब तक सासादन भाव बना रहता है। इसलिये सासादन गुणस्थान में एकेन्द्रिय

१. 'न जंति ज ओ' इत्यपि पाठः।

२. इस गाथा में वर्णन किया हुआ ९६ और ९४ प्रकृतियों के बन्ध का मतभेद प्राचीन बन्धस्वामित्व में है; यथा—

साणा बंधहिं सोलस, निरतिग हीणा य मोत्तु छन्नउइं।

ओघेणं वीसुत्तर-सयं च पंचिदिया बंधे।।२३।।

इग विग लिनदी साणा, तणु पज्जत्तिं न जंति जं तेण।

नर तिरयाउ अब्धा, भयं तरेणं तु चउणउइं।।२४।।

आदि जीव तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्य आयु का बंध कर सकते हैं। परन्तु ९४ प्रकृतियों का बंध मानने वाले आचार्य^१ कहते हैं कि सासादन भाव में रहकर इन्द्रिय पर्याप्ति को पूर्ण करने की तो बात ही क्या शरीर पर्याप्ति को भी पूर्ण नहीं कर सकते अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने के पहले ही एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त जीव सासादन भाव से च्युत हो जाते हैं। इसलिये वे दूसरे गुणस्थान में रहकर आयु को बांध नहीं सकते॥१२॥

*

१. ९४. प्रकृतियों का बन्ध मानने वाले आचार्य के विषय में श्री जयसोमसूरि ने अपने गुजराती टब्बे में लिखा है कि 'वे आचार्य श्रीचन्द्रसूरि प्रमुख हैं।' उनके पक्ष की पुष्टि के विषय में श्री जीवविजयजी अपने टब्बे में कहते हैं कि 'यह पक्ष युक्त जान पड़ता है। क्योंकि एकेन्द्रिय आदि की जघन्य आयु भी २५६ आवलिका प्रमाण है, उसके दो भाग—अर्थात् १७१ आवलिकायें बीत चुकने पर आयु-बन्ध सम्भव है। पर उसके पहले ही सास्वादनसम्यक्त्व चला जाता है, क्योंकि वह उत्कृष्ट ६ आवलिकायें तक ही रह सकता है। इसलिये सास्वादन-अवस्था में ही शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन जाना मान लिया जाय तथापि उस अवस्था में आयु-बन्ध का किसी तरह सम्भव ही नहीं।' इसी की पुष्टि में उन्होंने औदारिक मिश्र मार्गणा का सास्वादन गुणस्थान-सम्बन्धी ९४ प्रकृतियों के बंध का भी उल्लेख किया है ९६ का बंध मानने वाले आचार्य का क्या अभिप्राय है इसे कोई नहीं जानता। यही बात श्री जीवविजयजी और श्री जयसोमसूरि ने अपने टब्बे में कही है। ९४ के बंध का पक्ष विशेष सम्मत जान पड़ता है क्योंकि उस एक ही पक्ष का उल्लेख गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में भी है—

पुण्णिदरं विगि बिगले तत्थुष्णो हु सासणो देहे।

पज्जत्तिं ण वि पावदि इहि नरतिरियाउगं णत्थि।।१३।।

अर्थात् एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में पूर्णतर—लब्धि अपर्याप्त—के समान बंध होता है। उस एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय में पैदा हुआ सासादन सम्यक्त्वी जीव शरीर पर्याप्ति को पूरा कर नहीं सकता, इससे उसको उस अवस्था में मनुष्य आयु या तिर्यञ्च-आयु का बंध नहीं होता।

एकोन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय का बन्ध-स्वामित्व-यन्त्र।

| | | | | |
|----------------------|-----------------|-----------------|-----------------|---|
| गुणस्थानों के नाम | | | | |
| ओष से | १०९ | ११ | ० | ५ |
| मिथ्यात्व में | १०९ | ११ | $\frac{१३}{१५}$ | ५ |
| सास्वादन में | $\frac{९६}{९४}$ | $\frac{२४}{२६}$ | ० | ५ |
| बन्ध-प्रकृतियाँ | | | | |
| अबन्ध-प्रकृतियाँ | | | | |
| विच्छेद्य-प्रकृतियाँ | | | | |
| ज्ञानावरणीय | | | | |
| दर्शनावरणीय | | | | |
| वेदनीयकर्म | | | | |
| मोहनीयकर्म | | | | |
| आयुर्कर्म | | | | |
| नामकर्म | | | | |
| गोत्रकर्म | | | | |
| अन्तरायकर्म | | | | |
| मूल-प्रकृतियाँ | | | | |

‘इस गाथा में पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रसकाय और गतित्रस का बन्धस्वामित्व कहकर १६वीं गाथा तक योग-मार्गणा के बन्ध-स्वामित्व का विचार करते हैं।’

**ओहो पणिंदितसेगइ-तसे जिणिक्कार नरतिगुञ्च विणा
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से।।१३।।**

ओघः पञ्चेन्द्रियत्रसे गतित्रसे जिनैकादश नरत्रिकोच्चं विना।

मनोवचोयोगे ओघ औदारिके नरभंगस्तन्मिश्रे।।१३।।

अर्थ—पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में ओघ-बन्धाधिकार के समान-प्रकृतिबन्ध जानना। गतित्रस (तेजःकाय और वायुकाय) में जिनएकादश-जिन नामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११-मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ को छोड़, १२० में से शेष १०५ प्रकृतियों का बन्ध होता है। (योगमार्गणा बन्ध-स्वामित्व) मनोयोग तथा वचनयोग में अर्थात् मनोयोग वाले तथा मनोयोग सहित वचनयोग वाले जीवों में बन्धाधिकार के समान प्रकृति-बन्ध समझना। औदारिक काययोग में अर्थात् मनोयोग वचनयोग सहित औदारिक काययोग वालों में नरभंग-पर्याप्त मनुष्य के समान बन्ध-स्वामित्व समझना।।१३।।

भावार्थ—पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय का बन्ध-स्वामित्व बन्धाधिकार के समान कहा हुआ है, इसका मतलब यह है कि ‘जैसे दूसरे कर्मग्रन्थ में बन्धाधिकार में सामान्यरूप से १२० और विशेषरूप से—तेरह गुणस्थानों में-क्रम से ११७, १०१, ७४, ७७ इत्यादि प्रकृतियों का बन्ध कहा है, वैसे ही पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में भी सामान्यरूप से १२० तथा तेरह गुणस्थानों में क्रम से ११७, १०१ आदि प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिये।’

इसी तरह आगे भी जिस मार्गणा में बन्धाधिकार के समान बन्ध-स्वामित्व कहा जाय वहाँ उस मार्गणा में जितने गुणस्थानों का सम्भव हों, उतने गुणस्थानों में बन्धाधिकार के अनुसार बन्ध-स्वामित्व समझ लेना चाहिये।

गतित्रस—शास्त्र^१ में त्रस जीव दो प्रकार के माने जाते हैं—एक तो वे जिन्हें त्रसनामकर्म का उदय रहता है और जो चलते-फिरते भी हैं। दूसरे वे, जिनको उदय तो स्थावर नाम-कर्म का होता है, पर जिनमें गति-क्रिया पाई जाती है। ये दूसरे प्रकार के जीव ‘गतित्रस’ या ‘सूक्ष्मत्रस’^२ कहलाते हैं।

१. उत्तराध्ययन अ. ३६, गा. १०७।

२. यथा—‘सुहुमतसा ओघ थूल तसा’ (प्राचीन बन्धस्वामित्व गा. २५)।

इन गतित्रसों में १०५ प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व कहा हुआ है, सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से; क्योंकि उनमें पहला गुणस्थान ही होता है। उनके बन्ध-स्वामित्व में जिन एकादश आदि उपर्युक्त १५ प्रकृतियों के न गिनने का कारण यह है कि वे गतित्रस मर कर केवल तिर्यञ्चगति में जाते हैं, अन्य गतियों में नहीं। परन्तु उक्त १५ प्रकृतियाँ तो मनुष्य, देव या नरक गति ही में उदय पाने योग्य हैं।

यद्यपि गाथा में 'मणवयजोगे' तथा 'उरले' ये दोनों पद सामान्य हैं, तथापि 'ओहो' और 'नरभंगु' शब्द के सन्निधान से टीका में 'वयजोग का' मतलब मनोयोगसहित वचन योग और 'उरल' का मतलब मनोयोग वचन-योग सहित औदारिक काययोग-इतना रखा गया है; इसलिये अर्थ भी टीका के अनुसार ही कर दिया गया है। परन्तु 'वयजोग' का मतलब केवल वचनयोग और 'उरल' का मतलब केवल औदारिक काययोग रख कर भी उसमें बन्ध-स्वामित्व का जो विचार किया हुआ है; वह इस प्रकार है— केवल वचनयोग में तथा केवल औदारिक काययोग में विकलेन्द्रिय या एकेन्द्रिय के समान बन्ध-स्वामित्व है अर्थात् सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में १०९ और दूसरे गुणस्थान में ९६ या ९४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

योग का तथा उसके मनोयोग आदि तीन मूल भेदों का और सत्य मनोयोग आदि १५ उत्तर भेदों का स्वरूप चौथे कर्मग्रन्थ की गाथा ९, १० और २४वीं से जान लेना॥१३॥

आहारछगविणोहे, चउदससउ मिच्छि जिणपणमहीणं।

सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ^१सुहुमतेर।।१४।।

आहारषट्कं विनौघे चतुर्दशशतं मिथ्यात्वे जिनपञ्चक हीनम्।

सासादने चतुर्नवतिर्विना नरतिर्यगायुः सूक्ष्मत्रयोदश।।१४।।

अर्थ—(पिछली गाथा से 'तम्मिसे' पद लिया जाता है) औदारिक मिश्रकाययोग में सामान्यरूप से ११४ प्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि आहारक-द्विक, देवआयु और नरकत्रिक इन छह प्रकृतियों का बन्ध उसमें नहीं होता। उस योग में पहले गुणस्थान के समय जिननामकर्म, देव-द्विक तथा वैक्रिय-

१. 'तिरिअनराऊ इत्यपि पाठः'।

द्विक इन पाँच के अतिरिक्त उक्त ११४ में से शेष १०९^१ प्रकृतियों का बन्ध होता है और दूसरे गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि मनुष्य आयु, तिर्यञ्च आयु तथा सूक्ष्मत्रिक से लेकर सेवार्त-पर्यन्त १३-कुल १५ प्रकृतियों का बन्ध उसमें नहीं होता॥१४॥

१. मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन १०९ प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व औदारिक-मिश्र-काययोग में माना जाता है, उनमें तिर्यञ्चआयु और मनुष्यआयु भी परिगणित है। इस पर श्रीजीवविजयजी ने अपने टबे में संदेह किया है कि 'औदारिक-मिश्र-काययोग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त ही रहता है, आगे नहीं; और आयुबन्ध शरीरपर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी हो जाने के बाद होता है, पहले नहीं। अतएव औदारिक मिश्र-काययोग के समय अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व में, आयु बन्ध का किसी तरह सम्भव नहीं। इसलिये उक्त दो आयुओं का १०९ प्रकृतियों में परिगणन विचारणीय है।' यह संदेह शीलांक-आचार्य के मत को लेकर ही किया है, क्योंकि वे औदारिक-मिश्र-काययोग को शरीर पर्याप्तिपूर्ण बनने तक ही मानते हैं। परन्तु उक्त संदेह का निरसन इस प्रकार किया जा सकता है—पहले तो यह नियम नहीं है कि शरीरपर्याप्ति पूरी होने पर्यन्त ही औदारिक-मिश्र-काययोग मानना, आगे नहीं। **श्रीमान् भद्रबाहु स्वामी** की जिस 'जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवों। तेण परं मीसेणं जाव सरि निप्फत्ती॥१॥' उक्ति के आधार से औदारिक मिश्र-काययोग का सद्भाव शरीरपर्याप्ति की पूर्णता तक माना जाता है उस उक्ति के 'सरि निप्फत्ती' पद का यह भी अर्थ हो सकता है कि शरीर पूर्ण बन जाने पर्यन्त उक्त योग रहता है। शरीर की पूर्णता केवल शरीर पर्याप्तिक बन जाने से नहीं हो सकती। इसके लिये जीव की अपने-अपने योग्य सभी पर्याप्तियों का बन जाना आवश्यक है। स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने ही से शरीर का पूरा बन जाना माना जा सकता है। 'सरि निप्फत्ती' पद का यह अर्थ मनःकल्पित नहीं है। इस अर्थ का समर्थन **श्री देवेन्द्रसूरि** ने स्वरचित चौथे कर्मग्रन्थ की चौथी गाथा के 'तणुपज्जेसु उरलमन्ने' इस अंश की टीका में किया है। वह इस प्रकार है—

'यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापीन्द्रियोच्छ्वासादीनामघाप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वादत एवकर्मणस्याप्यद्यापि व्याप्त्रियमाणत्वादौदारिकमिश्रमेव तेषां युक्तया घटमानमिति।' जब यह भी पक्ष है कि 'स्वयोग्य सब पर्याप्तियाँ पूरी हो जाने पर्यन्त औदारिक मिश्रकाययोग रहता है' तब उक्त सन्देह को कुछ भी अवकाश नहीं है, क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन चुकने के बाद जबकि आयु-बन्ध का अवसर आता है तब भी औदारिक-मिश्र-काययोग तो रहता ही है। इसलिये औदारिक-मिश्र-काययोग में मिथ्यात्व गुणस्थान के समय उक्त दो आयुओं का बन्ध-स्वामित्व माना जाता है सो उक्त पक्ष की अपेक्षा से युक्त ही है। मिथ्यात्व के समय उक्त दो आयुओं का बन्ध-स्वामित्व औदारिक-मिश्र-काययोग में, जैसा कर्मग्रन्थ में निर्दिष्ट है वैसा ही गोम्मटसार में भी। यथा—

'ओराले वा मिस्से णहि सुरणिरयाउहारणिरयदुगं।

मिच्छदुगे देवचओ तित्थं णहि अविरदे अत्थि॥' (कर्मकाण्ड. गाथा ११६)

अणचउवीसाइविणा, जिणपणजुयसंमिजा^१गिणौ साय।

विणु तिरिनराउकम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो।।१५।।

अनचतुर्विंशतिं विना जिनपञ्चकयुताः सम्यकत्वे योगिनः सातम्।

विना तिर्यङ्गरायुः कार्मणेष्वेवमाहारकद्विक ओघः।।१५।।

अर्थ—पूर्वोक्त १४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धिचतुष्क से लेकर तिर्यञ्च-द्विक-पर्यन्त २४ प्रकृतियों को घटा कर शेष ७० में जिननामकर्म, देव-द्विक तथा वैक्रियद्विक इन ५ प्रकृतियों के मिलाने से ७५ प्रकृतियाँ होती हैं; इनका^१ बन्ध औदारिक मिश्र काययोग में चौथे गुणस्थान के समय होता है। तेरहवें

अर्थात् 'औदारिक मिश्रकाययोग का बन्धस्वामित्व औदारिक काययोग के समान ही है। विशेष इतना ही है कि देव आयु, नरक आयु, आहारक-द्विक और नरकद्विक-इन छह प्रकृतियों का बन्ध औदारिक-मिश्र-काययोग में नहीं होता तथा उसमें मिथ्यात्व के और सास्वादन के समय देवचतुष्क व जिननाम कर्म इन ५ का बन्ध नहीं होता, पर अविरतसम्यग्दृष्टि के समय उनका बन्ध होता है।'

उपर्युक्त समाधान की पुष्टि श्री जयसोमसूरि के कथन से भी होती है। उन्होंने अपने टब्बे में लिखा है कि 'यदि यह पक्ष माना जाय कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक ही औदारिक-मिश्र-काययोग रहता है तो मिथ्यात्व में तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्य आयु का बन्ध कथमपि नहीं हो सकता; इसलिये इस पक्ष की अपेक्षा से उस योग में सामान्यरूप से ११२ और मिथ्यात्व में १०७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।' इस कथन से, स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने पर्यन्त औदारिक मिश्रकाययोग रहता है—इस दूसरे पक्ष की सूचना स्पष्ट होती है।

१. चौथे गुणस्थान के समय औदारिकमिश्रकाययोग में जिन ७५ प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व कहा है, उनमें मनुष्यद्विक, औदारिक-द्विक और प्रथम संहनन-इन ५ प्रकृतियों का समावेश है। इस पर श्री जीवविजय जी महाराज ने अपने टब्बे में सन्देह उठाया है कि 'चौथे गुणस्थान में औदारिक मिश्रकाययोगी उक्त ५ प्रकृतियों को बाँध नहीं सकता। क्योंकि तिर्यच तथा मनुष्य के अतिरिक्त दूसरों में उस योग का बंध सम्भव नहीं है और तिर्यञ्च मनुष्य उस गुणस्थान में उक्त ५ प्रकृतियों को बाँध ही नहीं सकते। अतएव तिर्यञ्च गति तथा मनुष्य गति में चौथे गुणस्थान के समय जो क्रम से ७० तथा ७१ प्रकृतियों का बन्ध स्वामित्व कहा गया है, उसमें उक्त ५ प्रकृतियाँ नहीं आती।' इस सन्देह का निवारण श्री जयसोमसूरि ने किया है—

वे अपने टब्बे में लिखते हैं कि, 'गाथागत 'अणचउवीसाइ' इस पद का अर्थ अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ—यह नहीं करना, किन्तु 'आइ' शब्द से और भी ५ प्रकृतियाँ लेकर, अनन्तानुबन्धी आदि २४ तथा मनुष्यद्विक आदि ५, कुल २९ प्रकृतियाँ—यह अर्थ करना। ऐसा अर्थ करने से उक्त सन्देह नहीं रहता। क्योंकि १४ में से २९ घटाकर शेष ६५ में जिनपंचक मिलाने से ७० प्रकृतियाँ होती हैं जिनका कि बन्ध-स्वामित्व उस योग में उक्त गुणस्थान के समय किसी तरह विरुद्ध

गुणस्थान के समय उस योग में केवल सातावेदनीय का बन्ध होता है। कर्मणकाययोग में तिर्यञ्चआयु और नरक आयु के अतिरिक्त और सब प्रकृतियों का बन्ध औदारिकमिश्र-काययोग के समान ही है। आहारक-द्विक में आहारक-काययोग और आहारक-मिश्र-काययोग में सामान्य तथा विशेषरूप से ६३ प्रकृतिभ्रों के ही बन्ध की योग्यता है। १५॥

भावार्थ—पूर्व गाथा तथा इस गाथा में मिलाकर पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें इन ४ गुणस्थानों में औदारिक-मिश्र-काययोग के बन्धस्वामित्व का विचार किया गया है, कर्मग्रन्थिक मत के अनुसार: क्योंकि सिद्धान्त के मतानुसार तो उस योग में और भी दो (पाँचवां, छठा) गुणस्थान माने जाते हैं। वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर का आरम्भ करने के समय अर्थात् पाँचवें-छठे गुणस्थान में और

नहीं है। यह समाधान प्रामाणिक जान पड़ता है। इसकी पुष्टि के लिये पहले तो यह कहा जा सकता है कि मूल गाथा में 'पचहत्तर' संख्या का बोधक कोई पद ही नहीं है। दूसरे श्री दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी द्वितीय गुणस्थान में २९ प्रकृतियों का विच्छेद मानते हैं—

'पण्णारसमुनतीसं मिच्छदुगे अवरिदे छिदी चउरो।'

(गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गा. ११७)

यद्यपि टीका में ७५ प्रकृतियों के बन्ध का निर्देश स्पष्ट किया है—'प्रागुल्का चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादि चतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादि, प्रकृतिपञ्चकयुता च पंचसप्ततिस्तामौदारिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे बध्नाति' तथा बन्धस्वामित्व नामक प्राचीन तीसरे कर्मग्रन्थ में भी गाथा (२८-२९) में ७५ प्रकृतियों के ही बन्ध का विचार किया है, तथापि जानना चाहिए कि उक्त टीका, मूल कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि की नहीं है और टीकाकार ने इस विषय में कुछ शंका-समाधान नहीं किया है; इसी प्रकार प्राचीन बन्धस्वामित्व की टीका में भी श्री गोविन्दाचार्य ने न तो इस विषय में कुछ शंका उठाई है और न समाधान ही किया है। इससे जान पड़ता है कि यह विषय यूँ ही बिना विशेष विचार किये परम्परा से मूल तथा टीका में चला आया है। इसपर और कर्मग्रन्थिकों को विचार करना चाहिये। तब तक श्री जयसोमसूरि के समाधान को महत्त्व देने में कोई आपत्ति नहीं।

तिर्यञ्च तथा मनुष्य ही औदारिकमिश्रकाययोगी हैं और वे चतुर्थ गुणस्थान में क्रम से ७० तथा ७१ प्रकृतियों को यद्यपि बाँधते हैं तथापि औदारिकमिश्रकाययोग में चतुर्थ गुणस्थान के समय ७१ प्रकृतियों का बन्ध न मान कर ७० प्रकृतियों के बन्ध का समर्थन इसलिये किया जाता है कि उक्त योग अपर्याप्त अवस्था ही में पाया जाता है। अपर्याप्त अवस्था में तिर्यञ्च या मनुष्य कोई भी देवायु नहीं बाँध सकते। इससे तिर्यञ्च तथा मनुष्य की बन्ध्य प्रकृतियों में देवआयु परिगणित है पर औदारिकमिश्रकाययोग की बन्ध्य प्रकृतियों में से उसको निकाल दिया है।

आहारकलब्धि से आहारक शरीर को रचने के समय अर्थात् छठे गुणस्थान में औदारिक-मिश्र-काययोग सिद्धान्त में^१ माना है।

औदारिक-मिश्र-काययोग में ४ गुणस्थान मानने वाले कर्मग्रन्थिक विद्वानों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि 'कर्मण शरीर और औदारिक शरीर दोनों की मदद से होने वाले योग को 'औदारिक-मिश्र-काययोग' कहना चाहिये जो पहले, दूसरे चौथे और तेरहवें इन ४ गुणस्थानों ही में पाया जा सकता है।' पर सैद्धान्तिकों का आशय यह है कि जिस प्रकार कर्मण शरीर को लेकर औदारिक-मिश्रता मानी जाती है, इसी प्रकार लब्धियन्त्र वैक्रियशरीर या आहारक शरीर के साथ भी औदारिक शरीर की मिश्रता मानकर औदारिकमिश्र काययोग मानने में कुछ बाधा नहीं है।

कर्मणकाययोग वाले जीवों में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ ये ४ गुणस्थान पाये जाते हैं। इनमें से तेरहवाँ गुणस्थान केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में केवली भगवान् को होता है। शेष तीन गुणस्थान अन्य जीवों को अन्तराल गति के समय तथा जन्म के प्रथम समय में होते हैं।

कर्मण काययोग का बन्ध-स्वामित्व, औदारिक-मिश्र-काययोग के समान है, पर इसमें तिर्यञ्च आयु और मनुष्य आयु का बन्ध नहीं हो सकता। अतएव इसमें सामान्यरूप से ११२, पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ९४, चौथे

१. इस मत की सूचना चौथे कर्मग्रन्थ में 'सासण भावे नाणं, विउव्व गाहारगे उरलमिस्सं।' गाथा ४९ वीं में है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

'यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धि-सम्पन्नो मनुष्यः पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिक शरीरयोग एव वर्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानादाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्ति न गच्छति तावद्वैक्रियेण मिश्रता, व्यपदेश औदारिकस्य, प्रधानत्वात्। एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या, आहारयति चैतेनैवेति तस्यैव व्यपदेश इति।'

अर्थात् औदारिकशरीर वाला-वैक्रियलब्धिधारक मनुष्य, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च या बादरपर्याप्त वायुकायिक जिस समय वैक्रिय शरीर रचता है उस समय वह औदारिक शरीर में रहता हुआ अपने प्रदेशों को फैला कर और वैक्रिय शरीर-योग्य पुद्गलों को लेकर जब तक वैक्रिय शरीर-पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता है, तब तक उसके औदारिककाययोग की वैक्रियशरीर के साथ मिश्रता है, परन्तु व्यवहार औदारिक को लेकर औदारिक-मिश्रता का करना चाहिये; क्योंकि उसी की प्रधानता है। इसी प्रकार आहारक शरीर करने के समय भी उसके साथ औदारिक काययोग की मिश्रता को जान लेना चाहिये।

में ७५ और तेरहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्ध होता है।

आहारक काययोग और आहारक-मिश्र-काययोग दोनों छठे ही गुणस्थान में पाये जा सकते हैं, इसलिये उनमें उस गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६३^२ प्रकृतियों ही का बन्ध-स्वामित्व दर्शाया गया है॥१५॥

सुरओहोवेउव्वे, तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से।

वेयतिगाइम बियतिय-कसाय नवदुचउपंचगुणे॥१६॥

सुरौघौ वैक्रिये तिर्यङ्नरायूरहितश्च तन्मिश्रे।

वेद-त्रिकादिमद्वितीयतृतीयकषाया नवद्विचतुष्पञ्चगुणे॥१६॥

अर्थ—वैक्रियकाययोग में देवगति के समान बन्ध-स्वामित्व है। वैक्रिय-मिश्र-काययोग में तिर्यञ्च आयु और मनुष्य आयु के अतिरिक्त अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध वैक्रियकाययोग के समान है। (वेद और कषाय मार्गणा का बन्धस्वामित्व) तीन वेद में ९ गुणस्थान हैं। आदिम-पहले ४ अनन्तानुबन्धी कषायों में पहला, दूसरा दो गुणस्थान हैं। दूसरे-अप्रत्याख्यानावरण कषायों में पहिले ४ गुणस्थान हैं। तीसरे-प्रत्याख्यानावरण कषायों में पहले ५ गुणस्थान हैं॥१६॥

भावार्थ— वैक्रियकाययोग। इसके अधिकारी देव तथा नारक ही हैं। इससे इसमें गुणस्थान देवगति के समान ४ ही माने हुए हैं और इसका बन्धस्वामित्व भी देवगति के समान ही अर्थात् सामान्यरूप से १०४, पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियाँ का है।

१. यद्यपि कार्मण काययोग का बन्धस्वामित्व औदारिक मिश्र काययोग के समान कहा गया है और चतुर्थ गुणस्थान में औदारिक मिश्र काययोग में ७५ प्रकृतियों के बन्ध पर शंका उठाकर ७० प्रकृतियों के बन्ध का समर्थन किया गया है तथापि कार्मणकाययोग में चतुर्थ गुणस्थान के समय पूर्वोक्त शंका समाधान की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि औदारिक मिश्र काययोग के अधिकारी तिर्यञ्च तथा मनुष्य ही हैं जो कि मनुष्य-द्विक आदि ५ प्रकृतियों को नहीं बाँधते; परन्तु कार्मणकाययोग के अधिकारी मनुष्य तथा तिर्यञ्च के अतिरिक्त देव तथा नारक भी हैं जो कि मनुष्य-द्विक से लेकर वज्रऋषभनाराचसंहनन तक ५ प्रकृतियों को बाँधते हैं। इसी से कार्मण काययोग का चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धिनी बन्ध्य ७५ प्रकृतियों में उक्त पाँच प्रकृतियों की गणना है।

२. यथा—‘तेवट्टाहारदुगे जहा पमतस्स’ इत्यादि। (प्राचीन बन्ध स्वामित्व, गा. ३२) किन्तु आहारक मिश्र काययोग में देव आयु का बन्ध गोम्मटसार नहीं मानता, इससे उसके मतानुसार उस योग में ६२ प्रकृतियों ही का बन्ध होता है। यथा—

‘छडुगुणं वाहारे, तम्मिस्से णत्थि देवाऊ।’ (कर्मकाण्ड. गा. ११८)

अर्थात् आहारक-काययोग में छठे गुणस्थान की तरह बन्धस्वामित्व है, परन्तु आहारक-मिश्र-काययोग में देवायु का बन्ध नहीं होता।

वैक्रिय-मिश्र-काययोग— इसके स्वामी भी देव तथा नारक ही हैं, पर इसमें आयु का बन्ध असम्भव है; क्योंकि यह योग अपर्याप्त अवस्था ही में देवों तथा नारकों को होता है, लेकिन देव तथा नारक पर्याप्त अवस्था में, अर्थात् ६ महीने प्रमाण आयु बाकी रहने पर ही, आयु-बन्ध करते हैं। इसी से इस योग में तिर्यञ्च आयु और मनुष्य आयु के अतिरिक्त अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व वैक्रिय काययोग के समान कहा गया है।

वैक्रिय-मिश्र-काययोग में वैक्रिय काययोग से एक भिन्नता और भी है। वह यह है कि उसमें चार गुणस्थान हैं पर इसमें^१ तीन ही; क्योंकि यह योग अपर्याप्त अवस्था ही में होता है इससे इसमें अधिक गुणस्थान असम्भव हैं। अतएव इसमें सामान्यरूप से १०२, पहिले गुणस्थान में १०१, दूसरे में ९६ और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व समझना चाहिये।

पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान अम्बड^२ परिव्राजक आदि ने तथा छठे गुणस्थान में वर्तमान विष्णुकुमार आदि मुनि ने वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रिय शरीर किया था—यह बात शास्त्र में प्रसिद्ध है। इससे यद्यपि वैक्रिय काययोग तथा वैक्रिय-मिश्र-काययोग का पाँचवें और छठे गुणस्थान में होना सम्भव है, तथापि वैक्रिय-काययोग वाले जीवों को पहले चार ही और वैक्रिय-मिश्र-काययोग वाले जीवों को पहला, दूसरा और चौथा ये तीन ही गुणस्थान बतलाये गये हैं, इसका कारण यह जान पड़ता है कि 'लब्धि-जन्य वैक्रिय शरीर की अल्पता (कमी) के कारण उससे होने वाले वैक्रिय काययोग तथा वैक्रिय-मिश्र-काययोग की विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। किन्तु उन्होंने केवल भव-प्रत्यय वैक्रिय शरीर को लेकर ही वैक्रिय-काययोग तथा वैक्रिय-मिश्र-काययोग में क्रम से उक्त चार और तीन गुणस्थान बतलाये हैं।'

वेद^३— इनमें ९ गुणस्थान माने जाते हैं, सो इस अपेक्षा से कि तीनों

१. (प्राचीन बन्ध-स्वामित्व-टीका पृ. १०९)—

'मिच्छे सासाणे वा अविरयसम्ममि अहव गहियमि

जंति जिया परलोप, सेसेत्तरसगुणे मोतुं॥१॥

अर्थात् जीव मर कर परलोक में जाते हैं, तब वे पहले, दूसरे या चौथे गुणस्थान को ग्रहण किये हुये होते हैं, परन्तु इन तीन के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों को ग्रहण कर परलोक के लिये कोई जीव गमन नहीं करता।

२. (औपपातिक सूत्र पृ. ९६)

३. वेद मार्गणा से लेकर आहारक मार्गणा, जो १९वीं गाथा में निर्दिष्ट है, वहाँ तक सब मार्गणाओं में यथासम्भव गुणस्थान ही का कथन किया गया है—बन्ध-स्वामित्व का अलग-अलग कथन नहीं किया है। परन्तु १९वीं गाथा के अन्त में 'नियनिय गुणो हो'

प्रकार के वेद का उदय नवें गुणस्थान तक ही होता है, आगे नहीं। इसलिये नवों गुणस्थानों में वेद का बन्ध-स्वामित्व बन्धाधिकार की तरह—अर्थात् सामान्यरूप से १२०, पहिले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५८, या ५९, आठवें में ५८, ५६ तथा २६ और नवें गुणस्थान में २२ प्रकृतियों का है।

अनन्तानुबन्धी कषाय— इनका उदय पहले, दूसरे दो गुणस्थानों ही में होता है, इसी से इनमें उक्त दो ही गुणस्थान माने जाते हैं। उक्त दो गुणस्थान के समय न तो सम्यक्त्व होता है और न चारित्र। इसी से तीर्थङ्कर नामकर्म (जिसका बन्ध सम्यक्त्व से ही हो सकता है) और आहारक-द्विक (जिसका बन्ध चारित्र से ही होता है)—ये तीन प्रकृतियाँ अनन्तानुबन्धि-कषाय वालों के सामान्य बन्ध में से वर्जित हैं। अतएव वे सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियों को बाँधते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय— इनका उदय ४ गुणस्थान पर्यन्त ही होने के कारण इनमें ४ ही गुणस्थान माने जाते हैं। इन कषायों के समय सम्यक्त्व का सम्भव होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो सकता है, पर चारित्र का अभाव होने से आहारक-द्विक का बन्ध नहीं हो सकता। अतएव इन कषायों में सामान्यरूप से ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

प्रत्याख्यानावरण कषाय— ये ५ गुणस्थान पर्यन्त उदयमान रहते हैं, इससे इनमें पाँच गुणस्थान पाये जाते हैं। इन कषायों के समय भी सर्व-विरति चारित्र न होने से आहारक-द्विक का बन्ध नहीं हो सकता, पर तीर्थकर नामकर्म का बन्ध हो सकता है। इसी से इनमें भी सामान्यरूप से ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७ और पाँचवें में ६७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व जानना॥१६॥

संजलणतिगे नव दस, लोहे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।

बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाय चरमचऊ॥१७॥

संज्वलनत्रिके नव दश लोभे चत्वार्यथते द्वे त्रीण्यज्ञानत्रिके।

द्वादशाऽचक्षुश्चक्षुषोः प्रथमानि यथाख्याते चरम चत्वारि॥१७॥

यह पद है उसकी अनुवृत्ति करके उक्त सब वेद आदि मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व का कथन भावार्थ में कर दिया है। 'नियनिय गुणी हो' इस पद का मतलब यह है कि वेद आदि मार्गणाओं का अपने-अपने गुणस्थानों में बन्धस्वामित्व ओघ-बन्धाधिकार के समान समझना।

अर्थ—संज्वलन-त्रिक (संज्वलन क्रोध, मान, माया) में ९ गुणस्थान हैं। संज्वलन लोभ में १० गुणस्थान हैं। (संयम, ज्ञान और दर्शन मार्गणा का बन्ध-स्वामित्व)—अविरति में ४ गुणस्थान हैं। अज्ञान-त्रिक में—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान में—दो या तीन गुणस्थान हैं। अचक्षुर्दर्शन और चक्षुर्दर्शन में पहले १२ गुणस्थान हैं। यथाख्यातचारित्र में अन्तिम ४ अर्थात् ग्यारहवें से चौदहवें तक गुणस्थान हैं।१७॥

भावार्थ

संज्वलन— ये कषाय ४ हैं। जिनमें से क्रोध, मान और माया में ९ तथा लोभ में १० गुणस्थान हैं। इन चारों कषायों का बन्ध-स्वामित्व सामान्यरूप से और विशेषरूप से अपने-अपने गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही है।

अविरति— इसमें पहले ४ गुणस्थान हैं। जिनमें से चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध सम्भव है, परन्तु आहारक-द्विक का बन्ध—जो कि संयम-सापेक्ष है इसमें नहीं हो सकता। इसलिये अविरति में सामान्यरूप से आहारकद्विक के अतिरिक्त ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

अज्ञान त्रिक— इसमें दो या तीन गुणस्थान हैं। इसलिये इसके सामान्यबन्ध में से जिननामकर्म और आहारकद्विक, ये तीन प्रकृतियाँ कम कर दी गई हैं; जिससे सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे में ७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

अज्ञान-त्रिक में दो या तीन गुणस्थान^१ माने जाने का आशय यह है कि 'तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीवों की दृष्टि न तो सर्वथा शुद्ध होती है और न सर्वथा अशुद्ध, किन्तु किसी अंश में शुद्ध तथा किसी अंश में अशुद्ध-मिश्र होती है। इस मिश्र दृष्टि के अनुसार उन जीवों का ज्ञान भी मिश्र रूप-किसी अंश में ज्ञानरूप तथा किसी अंश में अज्ञानरूप-माना जाता है। जब^२ दृष्टि की शुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में ज्ञानत्व की मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की अशुद्धि की कमी के कारण अज्ञानत्व की मात्रा कम, तब उस

१. इसका और भी खुलासा चौथे कर्मग्रन्थ में बीसवीं गाथा की व्याख्या में देखें।

२. जो, मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आता है, उसकी मिश्रदृष्टि में मिथ्यात्वांश अधिक होने से अशुद्धि विशेष रहती है, और जो सम्यक्त्व को छोड़ तीसरे गुणस्थान में आता है, उसकी मिश्रदृष्टि में सम्यक्त्वांश होने से शुद्धि विशेष रहती है।

मिश्रज्ञान को ज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती ज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले और दूसरे दो गुणस्थान के सम्बन्धी जीव ही अज्ञानी समझने चाहिये। पर जब दृष्टि की अशुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में अज्ञानत्व की मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की शुद्धि की कमी के कारण ज्ञानत्व की मात्रा कम, तब उस मिश्रज्ञान को अज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती अज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले, दूसरे और तीसरे इन तीनों गुणस्थानों के सम्बन्धी जीव अज्ञानी समझने चाहिये। चौथे से लेकर आगे के सब गुणस्थानों के समय सम्यक्त्व-गुण के प्रकट होने से जीवों की दृष्टि शुद्ध ही होती है—अशुद्ध नहीं, इसलिये उन जीवों का ज्ञान ज्ञानरूप ही (सम्यग्ज्ञान) माना जाता है, अज्ञान नहीं। किसी के ज्ञान की यथार्थता या अयथार्थता का निर्णय, उसकी दृष्टि (श्रद्धात्मक परिणाम) की शुद्धि या अशुद्धि पर निर्भर है।

अचक्षुर्दर्शन और चक्षुर्दर्शन— इनमें पहले १२ गुणस्थान हैं। इनका बन्ध-स्वामित्व, सामान्यरूप से या प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है।

यथाख्यातचारित्र— इसमें अन्तिम ४ गुणस्थान हैं। उनमें से चौदहवें गुणस्थान में तो योग का अभाव होने से बन्ध होता ही नहीं। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में बन्ध होता है, पर सिर्फ सातावेदनीय का। इसलिये इस चारित्र में सामान्य और विशेष रूप से एक प्रकृति का ही बन्ध-स्वामित्व समझना चाहिये।।१७।।

मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउदुन्नि परिहारे।

केवलदुगि दोचरमा-ऽजयाइनव मइसुओहिदुगे।।१८।।

मनोज्ञाने सप्त यतादीनि सामायिकच्छेदे चत्वारि द्वे परिहारे।

केवलद्विके द्वे चरमेऽयतादीनि नव मतिश्रुतावधिद्विके।।१८।।

अर्थ—मनःपर्यायज्ञान में यत-प्रमत्तसंयत-आदि ७ अर्थात् छठे से बारहवें तक गुणस्थान है। सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि ४ गुणस्थान हैं। परिहारविशुद्धचारित्र में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान हैं। केवल-द्विक में अन्तिम दो गुणस्थान हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-द्विक में अयत-अविरतसम्यग्दृष्टि आदि ९ अर्थात् चौथे से बारहवें तक गुणस्थान हैं।।१८।।

भावार्थ

मनःपर्यायज्ञान— इसका आविर्भाव तो सातवें गुणस्थान में होता है, पर इसकी प्राप्ति होने के बाद मुनि प्रमादवश छठे गुणस्थान को पा भी लेता है। इस ज्ञान को धारण करने वाला, पहले पाँच गुणस्थानों में वर्तमान नहीं रहता तथा अन्तिम दो गुणस्थानों में भी यह ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में क्षायिकज्ञान होने के कारण किसी क्षायोपशमिक ज्ञान का होना सम्भव ही नहीं है। इसलिये मनःपर्याय ज्ञान में उपर्युक्त ७ गुणस्थान माने हुये हैं। इसमें आहारक-द्विक का बन्ध भी सम्भव है। इसी से इस ज्ञान में सामान्यरूप से ६५ और छठे से बारहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व समझना।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय— ये दो संयम छठे आदि ४ गुणस्थान पर्यन्त पाये जाते हैं। इसलिये इनके समय आहारक-द्विक का बन्ध सम्भव है। अतएव इन संयमों का बन्ध-स्वामित्व सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और छठे आदि प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही है।

परिहारविशुद्धिक-संयम— इसे धारण करने वाला सातवें से आगे के गुणस्थानों को नहीं पा सकता। इस संयम के समय यद्यपि अहारक-द्विक का उदय नहीं होता, पर उसके बन्ध का सम्भव है। इसलिये इसका बन्ध-स्वामित्व सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और विशेषरूप से बन्धाधिकार के समान— अर्थात् छठे गुणस्थान में ६३, सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का है।

केवल-द्विक— इसके दो गुणस्थानों में से चौदहवें में तो बन्ध होता ही नहीं, तेरहवें में होता है पर सिर्फ सातावेदनीय का। इसलिये इसका सामान्य तथा विशेष बन्ध-स्वामित्व एक ही प्रकृति का है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-द्विक— इन ४ मार्गणाओं में पहले तीन गुणस्थान तथा अन्तिम दो गुणस्थान नहीं होते; क्योंकि प्रथम तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व न होने से अज्ञान माना जाता है और अन्तिम दो गुणस्थानों में ज्ञान होता है सही पर वह क्षायिक, क्षायोपशमिक नहीं। इसी कारण इनमें उपर्युक्त ९ गुणस्थान माने हुये हैं। इन ४ मार्गणाओं में भी आहारक-द्विक का बन्ध सम्भव होने के कारण सामान्यरूप से ७९ प्रकृतियों का और चौथे से बारहवें

१. परिहारविशुद्ध संयमी को दस पूर्व का भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इससे उसको आहारक-द्विक का उदय असंभव है; क्योंकि इसका उदय चतुर्दशपूर्वधारी जो कि आहारक शरीर को बना सकता है—उसी को होता है।

तक प्रत्येक गुणस्थान में बंधाधिकार के समान बंध-स्वामित्व जानना चाहिए॥१८॥

‘दो गाथाओं से सम्यक्त्व मार्गणा का बंधस्वामित्वा’

अडउवसमि चउवेयगि, खइयेइक्कार मिच्छतिगिदेसे।

सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो॥१९॥

अष्टोपशमे चत्वारि वेदके क्षायिक एकादश मिथ्यात्वत्रिके देशे।

सूक्ष्मे स्वस्थानं त्रयोदशाऽऽहारके निजनिजगुणौघः॥१९॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व में चौथे से ग्यारहवें आठ- तक गुणस्थान हैं। वेदक (क्षायोपशमिक) में ४ गुणस्थान—चौथे से सातवें तक हैं। मिथ्यात्व-त्रिक में (मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्रदृष्टि में), देशविरति में और सूक्ष्मसम्पराय में अपना-अपना एक ही गुणस्थान है। आहारक मार्गणा में १३ गुणस्थान हैं। वेद त्रिक से लेकर यहाँ तक की सब मार्गणाओं का बन्ध-स्वामित्व अपने-अपने गुणस्थानों के विषय में ओघ-बन्धाधिकार के समान है॥१९॥

भावार्थ

उपशम सम्यक्त्व— यह सम्यक्त्व, देशविरति, प्रमत्तसंयत-विरति या अप्रमत्तसंयत-विरति के साथ भी प्राप्त होता है। इसी कारण इस सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक ४ गुणस्थान माने जाते हैं। इसी प्रकार आठवें से ग्यारहवें तक ४ गुणस्थानों में वर्तमान उपशम श्रेणीवाले जीव को भी यह सम्यक्त्व रहता है। इसलिये इसमें सब मिलाकर ८ गुणस्थान कहे हुए हैं। इस सम्यक्त्व के समय आयु का बन्ध नहीं होता यह बात अगली गाथा में कही जायगी। इससे चौथे गुणस्थान में जो देव आयु, मनुष्य आयु दोनों का बन्ध नहीं होता और पाँचवें आदि गुणस्थान में देव आयु का बन्ध नहीं होता। अतएव इस सम्यक्त्व में सामान्यरूप से ७७ प्रकृतियों का, चौथे गुणस्थान में ७५, पाँचवें में ६६, छठे में ६२, सातवें में ५८, आठवें में ५८-५६-२६, नवें में २२-२१-२०-१९-१८, दसवें में १७ और ग्यारहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्ध-स्वामित्व है।

वेदक— यह सम्यक्त्व सम्भव चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में है। इसमें आहारक-द्विक के बन्ध का सम्भव है जिससे इसका बन्ध-स्वामित्व, सामान्यरूप से ७९ प्रकृतियों का, विशेष रूप से—चौथे गुणस्थान में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३ और सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का है।

क्षायिक— यह चौथे से चौदहवें तक ११ गुणस्थानों में पाया जा सकता है। इसमें भी आहारक-द्विक का बन्ध हो सकता है। इसलिये इसका बन्ध-स्वामित्व, सामान्यरूप से ७९ प्रकृतियों का और चौथे आदि प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है।

मिथ्यात्व-त्रिक— इसमें एक गुणस्थान है—मिथ्यात्व मार्गणा में पहला, सास्वादन मार्गणा में दूसरा और मिश्रदृष्टि में तीसरा गुणस्थान है। अतएव इस त्रिक का सामान्य व विशेष बन्ध-स्वामित्व बराबर ही है; जैसे—सामान्य तथा विशेषरूप से मिथ्यात्व में ११७, सास्वादन में १०१ और मिश्रदृष्टि में ७४ प्रकृतियों का।

देशविरति और सूक्ष्मसम्पराय—ये दो संयम भी एक-एक गुणस्थान ही में माने जाते हैं। देशविरति, केवल पाँचवें गुणस्थान में और सूक्ष्मसम्पराय, केवल दसवें गुणस्थान में है। अतएव इन दोनों का बन्ध-स्वामित्व भी अपने-अपने गुणस्थान में कहे हुए बन्धाधिकार के समान ही है अर्थात् देशविरति का बन्ध-स्वामित्व ६७ प्रकृतियों का और सूक्ष्मसम्पराय का १७ प्रकृतियों का है।

आहारकमार्गणा— इसमें तेरह गुणस्थान माने जाते हैं। इसका बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से तथा अपने प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है॥१९॥

‘उपशम सम्यक्त्व के सम्बन्ध में कुछ विशेषता दिखाते हैं’—

परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंति तेण अजयगुणे।

देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा^१॥२०॥

परमुपशमे वर्तमाना आयुर्न बध्नन्ति तेनायतगुणे।

देवमनुजायुहीनो देशादिषु पुनः सुरायुर्विना॥२०॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व में वर्तमान जीव आयु-बन्ध नहीं करते, इससे अयत-अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान में देव आयु तथा मनुष्य आयु को छोड़कर अन्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और देशविरति आदि गुणस्थानों में देव आयु के बिना अन्य स्वयोग्य प्रकृतियों का बन्ध होता है।

१. इस गाथा के विषय को स्पष्टता के साथ प्राचीन बन्धस्वामित्व में इस प्रकार कहा है—

‘उवसम्मे वट्टंता, चउणहमिक्कंपि आउयं नेया।

बंधंति तेण अजया, सुरनर आउहिं ऊणन्तु॥५१॥

ओधो देस जयाइसु, सुराउहीणो उ जाव उवसंतो’ इत्यादि॥५२॥

भावार्थ—अन्य सम्यक्त्वों की अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व में विशेषता यह है कि इसमें वर्तमान जीव के अध्यवसाय ऐसे^१ नहीं होते, जिनसे कि आयु-बन्ध किया जा सके। अतएव इस सम्यक्त्व के योग्य ८ गुणस्थान, जो पिछली गाथा में कहे गये हैं उनमें से चौथे से सातवें तक ४ गुणस्थानों में जिनमें कि आयु-बन्ध का सम्भव है—आयु-बन्ध नहीं होता।

चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्वी को देव आयु, मनुष्य आयु दो का वर्जन इसलिये किया है कि उसमें उन दो आयुओं का ही बन्ध सम्भव है, अन्य आयुओं का बन्ध नहीं; क्योंकि चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक, मनुष्य आयु को ही बांध सकते हैं और तिर्यञ्च तथा मनुष्य, देव आयु को।

उपशम सम्यक्त्वी के पाँचवें आदि गुणस्थानों के बन्ध में केवल देव आयु को छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि उन गुणस्थानों में केवल देव आयु का बन्ध सम्भव है; क्योंकि पाँचवें गुणस्थान के अधिकारी तिर्यञ्च तथा मनुष्य ही हैं और छठे सातवें गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य ही हैं, जो केवल देव आयु का बन्ध कर सकते हैं॥२०॥

‘दो गाथाओं में लेश्या का बन्धस्वामित्वा।’

ओहे अट्टारसयं, आहारदुगूण-माइलेसतिगे।

तं तित्थोणं मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो॥२१॥

आधेऽष्टादशशतमाहारकद्विकोणमादिलेश्या त्रिके।

तर्त्तीथोणं मिथ्यात्वे सासादनादिषु सर्वत्रौघः॥२१॥

१. उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है—पहले प्रकार का ग्रन्थिभेदजन्य, जो पहले पहल अनादि मिथ्यात्वी को होता है। दूसरे प्रकार का उपशमश्रेणि में होने वाला, जो आठवें से ग्यारहवें तक ४ गुणस्थानों में पाया जा सकता है। पिछले प्रकार के सम्यक्त्व-सम्बन्धी गुणस्थानों में तो आयु का बन्ध सर्वथा वर्जित है। रहे पहले प्रकार के सम्यक्त्व सम्बन्धी चौथे से सातवें तक ४ गुणस्थान तो उनमें भी औपशमिक सम्यक्त्वी आयु-बन्ध नहीं कर सकता। इसमें प्रमाण यह पाया जाता है—

‘अणबंघोदयमाउगबंधं कालं च सासणो कुणई।

उवसमसम्मदिट्ठी चउण्हमिक्कंपि नो कुणई॥१॥’

अर्थात्—अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध, उसका उदय, आयु का बन्ध और मरण-इन ४ कार्यो को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कर सकता है, पर इनमें से एक भी कार्य को उपशम सम्यग्दृष्टि नहीं कर सकता।

इस प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि उपशम सम्यक्त्व के समय आयु-बन्ध-योग्य परिणाम नहीं होते।

अर्थ—प्रथम तीन-कृष्ण, नील, कापोत-लेश्याओं में आहारिक-द्विक को छोड़ १२० में से शेष ११८ प्रकृतियों का ओघ-सामान्य-बन्ध स्वामित्व है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म के अन्तर्गत ११८ में से शेष ११७ का बन्ध-स्वामित्व है और सास्वादन आदि अन्य सब-दूसरा, तीसरा, चौथा तीन-गुणस्थानों में ओघ (बन्धाधिकार के समान) प्रकृति-बन्ध है॥२१॥

भावार्थ—लेश्यायें ६ हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेज, (५) पद्म और (६) शुक्ल।

कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले आहारक-द्विक को इस कारण बाँध नहीं सकते कि वे अधिक^१ से अधिक छः गुणस्थानों में वर्तमान माने जाते हैं; पर आहारक-द्विक का बन्ध सातवें के अतिरिक्त अन्य गुणस्थानों में नहीं होता। अतएव वे सामान्यरूप से ११८ प्रकृतियों के, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म के अतिरिक्त ११७ प्रकृतियों के, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में^२ ७७ प्रकृतियों के बन्धाधिकारी हैं॥२१॥

१. 'अधिक से अधिक' कहने का मतलब यह है कि यद्यपि इस कर्मग्रन्थ (गाथा २४) में कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले ४ गुणस्थानों के ही अधिकारी माने गये हैं, पर चौथे कर्मग्रन्थ (गाथा २३) में उन्हें ६ गुणस्थानों का अधिकारी बतलाया है।
२. चौथे गुणस्थान के समय कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ७७ प्रकृतियों का बन्ध-स्वामित्व 'साणाइसु सव्वहि ओहो' इस कथन से माना हुआ है।

इसका उल्लेख प्राचीन बन्ध-स्वामित्व में स्पष्टरूप से है—

'सुरनरआउयसहिया, अविरयसम्माउ होति नायव्वा।

तित्थयरेण जुया तह, तेऊलेसे परं वीच्छं॥४२॥'

इससे यह बात स्पष्ट है कि उक्त ७७ प्रकृतियों में मनुष्य आयु की तरह देव-आयु की गिनती है। गोम्मटसार में बन्धोदयसत्त्वाधिकार की गाथा ११९ वीं वेद-मार्गणा से लेकर आहारक-मार्गणा पर्यन्त सब मार्गणाओं का बन्ध-स्वामित्व गुणस्थान के समान कहा है। इन मार्गणाओं में लेश्या-मार्गणा का समावेश है। इससे कृष्ण आदि तीन लेश्याओं का चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व, गोम्मटसार को भी अभिमत है। क्योंकि उसके बन्धोदयसत्त्वाधिकार की गा. १०३ में चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध स्पष्टरूप से माना हुआ है।

इस प्रकार कृष्ण आदि तीन लेश्या के चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी बन्धस्वामित्व के विषय में कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) दोनों का कोई मतभेद नहीं है।

परन्तु इस पर श्री जीवविजयजी ने और श्री जयसोमसूरि ने इस गाथा के अपने २ टब्के में एक शंका उठाई है, वह इस प्रकार है—

तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउ नरयवार विणु सुक्का।
 विणु नरयबार पम्हा, अजिणहारा इमा मिच्छे।।२२।।
 तेजोनरकनवोना उद्योतचतुर्नरकद्वादश बिना शुक्लाः।
 बिना नरकद्वादश पञ्चा अजिनाहारका इमा मिथ्यात्वे।।२२।।

‘कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले, जो चौथे गुणस्थान में वर्तमान हैं उनको देव-आयु का बन्ध नहीं माना जा सकता; क्योंकि श्री भगवती सूत्र, शतक ३० के पहले उद्देश्य में कृष्ण-नील-कापोत लेश्यावाले, जो सम्यक्त्वा हैं उनके आयु-बन्ध के सम्बन्ध में श्री गौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान् महावीर ने कहा है कि—‘कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वा मनुष्य-आयु को ही बाँध सकते हैं, अन्य आयु को नहीं।’ उसी उद्देश्य में श्री गौतम स्वामी के अन्य प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने यह भी कहा है कि—‘कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले तिर्यञ्च तथा मनुष्य जो सम्यक्त्वा हैं वे किसी भी आयु को नहीं बाँधते।’ इस प्रश्नोत्तर का सारांश इतना ही है कि उक्त तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वियों को मनुष्य-आयु का बन्ध होता है, अन्य आयुओं का नहीं, सो भी देवों तथा नारकों की अपेक्षा से। श्रीभगवती सूत्र के उक्त मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं का चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी बन्ध-स्वामित्व देव-आयु-रहित अर्थात् ७६ प्रकृतियों का माना जाना चाहिए, जो कर्मग्रन्थ में ७७ प्रकृतियों का माना गया है।’

उक्त शंका (विरोध) का समाधान कहीं नहीं दिया गया है। टब्काकारों ने बहुश्रुत-गम्य कहकर उसे छोड़ दिया है। गोम्मतसार में तो इस शंका के लिये जगह ही नहीं है। क्योंकि उसे भगवती का पाठ मान्य करने का आग्रह नहीं है। पर भगवती को मानने वाले कर्मग्रन्थियों के लिये यह शंका उपेक्षणीय नहीं है।

उक्त शंका के सम्बन्ध में जब तक किसी की ओर से दूसरा प्रामाणिक समाधान प्रकट न हो, यह समाधान मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती कि कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वियों के प्रकृति-बन्ध में देव आयु की गणना की गयी है वह कर्मग्रन्थिक मत के अनुसार, सैद्धान्तिक मत के अनुसार नहीं।

कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का किसी-किसी विषय में मत-भेद है, यह बात चौथे कर्मग्रन्थ की ४९वीं गाथा में उल्लिखित सैद्धान्तिक मत से निर्विवाद सिद्ध है। इसलिये इस कर्मग्रन्थ में भी उक्त देव-आयु का बन्ध होने न होने के सम्बन्ध में कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का मतभेद मान कर आपस के विरोध का परिहार कर लेना अनुचित नहीं।

ऊपर जिस प्रश्नोत्तर का कथन किया गया है उसका आवश्यक मूल पाठ नीचे दिया जाता है—

कणहेलेस्साणं भन्ते! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेन्ति पुच्छा? गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेन्ति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेन्ति, मणुस्साउयं पकरेन्ति, णो देवाउयं पकरेन्ति। अकिरिया अणाणिय वेणइयवादी य चत्तारिवि आउयं पकरेन्ति। एवं णील लेस्सावि काउलेस्वावि।

कणहेलस्साणं भन्ते! किरियावादी पंचिदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पुच्छा?

अर्थ—तेजोलेश्या का बन्ध-स्वामित्व नरक-नवक-नरक त्रिक, सूक्ष्मत्रिक और विकल-त्रिक-के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का है। उद्योत-चतुष्क (उद्योत नामकर्म, तिर्यञ्च-द्विक, तिर्यञ्च आयु) और नरक-द्वादश (नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक विकलत्रिक, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप) इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर अन्य सब प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व शुक्ललेश्या में है। उक्त नरक-द्वादश के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध पद्मलेश्या में होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तेज आदि उक्त तीन लेश्याओं का बन्धस्वामित्व तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक-द्विक को छोड़कर समझना॥२२॥

भावार्थ

तेजोलेश्या— यह लेश्या, पहले सात गुणस्थानों में पायी जाती है। इसके धारण करने वाले उपर्युक्त नरक आदि ९ प्रकृतियों को बाँध नहीं सकते। क्योंकि उक्त ९ प्रकृतियाँ कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं से ही बाँधी जाती हैं। इस लिये तेजोलेश्या वाले, उन स्थानों में पैदा नहीं होते जिनमें-नरकगति, सूक्ष्म एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में-उक्त ९ प्रकृतियों का उदय होता है। अतएव तेजोलेश्या में सामान्यरूप से १११ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-द्विक के अतिरिक्त १११ में से शेष १०८ का और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के अनुसार बन्ध-स्वामित्व है।

पद्मलेश्या— यह भी पहले सात ही गुणस्थानों में पायी जाती है। तेजोलेश्या से इसमें विशेषता यह है कि इसके धारण करने वाले उक्त नरक-नवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों को नहीं बाँधते। इसी से पद्मलेश्या के सामान्य बन्ध में १२ प्रकृतियाँ छोड़कर १०८ प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं। तेजोलेश्या वाले, एकेन्द्रियरूप से पैदा हो सकते हैं, पर पद्मलेश्या वाले नहीं। इसी कारण एकेन्द्रिय आदि उक्त तीन प्रकृतियाँ भी वर्जित हैं। अतएव पद्मलेश्या का बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से १०८ प्रकृतियों

गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेन्ति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेन्ति, णो मणुस्साउयं पकरेन्ति णो देवाउयं पकरेन्ति। अकिरियावादी अणणियावादी वेणइयवादी चउब्बिहंपि पकरेन्ति। जहा कणहलेस्सा एवं णीललेस्सावि काउलेस्सावि।

जहा पंचिदियतिरिक्ख जोणियाणं वत्तब्बा भणिया एवं मणुस्साणवि भाणियव्वा।

इस पाठ के 'किरियावादी' शब्द का अर्थ टीका में क्रियावादी-सम्यक्त्वी-किया गया है।

का, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म तथा आहारक-द्विक के घटाने से १०५ का और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान समझना।

शुक्ललेश्या— यह लेश्या, पहले १३ गुणस्थानों में पायी जाती है। इसमें पद्मलेश्या से विशेषता यह है कि पद्मलेश्या की अबन्ध्य—नहीं बाँधने योग्य—प्रकृतियों के अलावा और भी ४ प्रकृतियाँ (उद्योत-चतुष्क) इसमें बाँधी नहीं जातीं। इसका कारण यह है कि पद्मलेश्या वाले, तिर्यञ्च में—जहाँ कि उद्योत-चतुष्क का उदय होता है—जन्म ग्रहण करते हैं, पर शुक्ललेश्या वाले, उसमें जन्म नहीं लेते। अतएव कुल १६ प्रकृतियाँ सामान्य बन्ध में गिनी नहीं जातीं। इस से शुक्ल लेश्या का बन्ध-स्वामित्व सामान्यरूप से १०४ प्रकृतियों का, मिथ्यात्व

* इस पर एक शंका होती है, जो इस प्रकार—

ग्यारहवीं गाथा में तीसरे से आठवें देवलोक तक का बन्ध-स्वामित्व कहा है; इसमें छठे, सातवें और आठवें देवलोकों का—जिनमें तत्त्वार्थ अध्याय ४ सूत्र २३ के भाष्य तथा संग्रहणी-गाथा १७५ के अनुसार शुक्ल लेश्या ही मानी जाती है—बन्ध-स्वामित्व भी आ जाता है। ग्यारहवीं गाथा में कहे हुये छठे आदि तीन देवलोकों के बन्धस्वामित्व के अनुसार, शुक्ललेश्या वाले भी उद्योत-चतुष्क को बाँध सकते हैं, पर इस बाईसवीं गाथा में शुक्ल लेश्या का जो सामान्य बन्ध-स्वामित्व कहा गया है उसमें उद्योत-चतुष्क को नहीं गिना है, इसलिये यह पूर्वापर विरोध है।

श्री जीवविजयजी और **श्री जयसोमसूरि** ने भी अपने-अपने टब्बे में उक्त विरोध को दर्शाया है।

दिगम्बरीय कर्मशास्त्र में भी इस कर्मग्रन्थ के समान ही वर्णन है। गोम्मतसार (कर्मकाण्ड-गा. ११२) में सहस्रार देवलोक तक का जो बन्ध-स्वामित्व कहा गया है उसमें इस कर्मग्रन्थ की ग्यारहवीं गाथा के समान ही उद्योत-चतुष्क परिगणित हैं तथा कर्मकाण्ड-गाथा १२१ में शुक्ललेश्या का बन्ध-स्वामित्व कहा हुआ है जिसमें उद्योत चतुष्क का वर्जन है।

इस प्रकार कर्मग्रन्थ तथा गोम्मतसार में बन्ध-स्वामित्व समान होने पर भी दिगम्बरीय शास्त्र में उपर्युक्त विरोध नहीं आता। क्योंकि दिगम्बर-मत के अनुसार लान्तव (श्वेताम्बर-प्रसिद्ध लान्तक) देवलोक में पद्मलेश्या ही है—(तत्त्वार्थ-अध्याय-४-सू. २२ की सर्वार्थसिद्धि टीका)। अतएव दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि सहस्रार देवलोक पर्यन्त के बन्ध-स्वामित्व में उद्योत-चतुष्क का परिगणन है सो पद्मलेश्या वालों की अपेक्षा से, शुक्ललेश्या वालों की अपेक्षा से नहीं।

परन्तु तत्त्वार्थ भाष्य, संग्रहणी आदि श्वेताम्बर-शास्त्र में देवलोकों की लेश्या के विषय में जैसा उल्लेख है उसके अनुसार उक्त विरोध का परिहार नहीं होता।

यद्यपि इस विरोध के परिहार के लिये श्री **जीवविजयजी** ने कुछ भी नहीं कहा है, पर **श्री जयसोमसूरि** ने तो यह लिखा है कि 'उक्त विरोध को दूर करने के लिये यह मानना चाहिये कि नौवें आदि देवलोकों में ही केवल शुक्ललेश्या है।'

उक्त विरोध के परिहार में **श्री जयसोमसूरि** का कथन ध्यान देने योग्य है। उस कथन

गुणस्थान में जिननामकर्म और अहारक-द्विक के अतिरिक्त में १०१ का और दूसरे गुणस्थान में नपुंसक वेद, हुण्ड संस्थान मिथ्यात्व, सेवार्तसंहनन-इन ४ को छोड़ १०१ में से शेष ९७ प्रकृतियों का है। तीसरे से लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में वह बन्धधिकार के समान है।।२२।।

‘भव्य, अभव्य, संज्ञी, असंगी और अनाहारक मार्गणा का बन्धस्वामित्वा’

सव्वगुण भव्वसन्निषु, ओहु अभव्वाअसंनिमिच्छसमा
सासणि असंनि सन्निव्व, कम्मणभंगो अणाहारे।।२३।।
सर्वगुण भव्यसज्जिष्वोघोऽभव्या असज्जिनो मिथ्यासमाः।
सासादनेऽसंज्ञी संज्ञिवत्कार्मणभंगोऽनाहारे।।२३।।

के अनुसार छठे आदि तीन देवलोकों में पद्म, शुक्ल दो लेश्याएँ और नौवें आदि देवलोकों में केवल शुक्ल लेश्या मान लेने से उक्त विरोध हट जाता है।

अब यह प्रश्न होता है कि तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र-जिसमें छठे, सातवें और आठवें देवलोक में भी केवल शुक्ल लेश्या का ही उल्लेख है उसकी क्या गति है? इसका समाधान यह करना चाहिये कि तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र में जो कथन है वह बहुलता की अपेक्षा से अर्थात् छठे आदि तीन देवलोकों में शुक्ल लेश्या वालों की ही बहुलता है, इसलिये उनमें पद्मलेश्या की सम्भावना होने पर भी उसका कथन नहीं किया गया है। लोक में भी अनेक व्यवहार प्रधानता से होते हैं। अन्य जातियों के होते हुए भी जब ब्राह्मणों की बहुतायत होती है तब यही कहा जाता है कि यह ब्राह्मणों का ग्राम है।

उक्त समाधान का आश्रय लेने में श्री जयसोमसूरि का कथन सहायक है। इस प्रकार दिगम्बरीय ग्रन्थ भी उस सम्बन्ध में मार्गदर्शक हैं। इसलिये उक्त तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र की व्याख्या को उदार बनाकर उक्त विरोध का परिहार कर लेना असंगत नहीं जान पड़ता।

टिप्पण में उल्लिखित ग्रन्थों के पाठ क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

‘शेषेषु लान्तकादिष्वासर्वार्थसिद्धा च्छुक्ललेश्याः’।

(तत्त्वार्थ भाष्य)

‘कष्पतिय पम्ह लेसा, लन्ताइसु सुक्कलेस हुन्ति सुरा’

(संग्रहणी गा. १७५)

‘कप्पित्थीसु ण तित्थं, सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं।

तिरियाऊ उज्जोवो, अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ।।’ (कर्मकाण्ड गा. ११२)

‘सुक्के सदरचउक्कं वामं तिम्बारसं च ण व अत्थि’ (कर्मकाण्ड गा. १२१)

‘ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्मलेश्या। शुक्ल महाशुक्लशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः।’ (सर्वार्थसिद्धि)

अर्थ—सब (चौदह) गुणस्थान वाले भव्य और संज्ञियों का बन्ध-स्वामित्व बन्धाधिकार के समान है। अभव्य और असंज्ञियों का बन्ध-स्वामित्व मिथ्यात्व मार्गणा के समान है। सास्वादन गुणस्थान में असंज्ञियों का बन्ध-स्वामित्व संज्ञी के समान है। अनाहारक मार्गणा का बन्ध-स्वामित्व कर्मण योग के बन्ध-स्वामित्व के समान है। २३॥

भावार्थ

भव्य और संज्ञी—ये चौदह गुणस्थानों के अधिकारी हैं। इसलिये इनका बन्ध-स्वामित्व, सब गुणस्थानों के विषय में बन्धाधिकार के समान ही है।

अभव्य—ये पहले गुणस्थान में ही वर्तमान होते हैं। इनमें सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति न होने के कारण तीर्थकर नामकर्म तथा अहारक-द्विक के बन्ध का सम्भव ही नहीं है। इसलिये ये सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में तीर्थकर नामकर्म आदि उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़कर १२० में से शेष ११७ प्रकृतियों के बन्ध के अधिकारी हैं।

असंज्ञी— ये पहले दूसरे दो गुणस्थानों में वर्तमान पाये जाते हैं। पहले गुणस्थान में इनका बन्ध-स्वामित्व मिथ्यात्व के समान है, पर दूसरे गुणस्थान में संज्ञी के समान, अर्थात् ये असंगी, सामान्यरूप से तथा पहिले गुणस्थान में तीर्थकर नामकर्म आदि उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़कर, शेष ११७ प्रकृतियों के बन्धाधिकारी हैं और दूसरे गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों के।

अनाहारक—यह मार्गणा पहले, दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें-इन ५ गुणस्थानों में पाई जाती है। इनमें से पहला, दूसरा, चौथा ये तीन गुणस्थान उस समय होते हैं जिस समय कि जीव दूसरे स्थान में पैदा होने के लिये विग्रह गति से जाते हैं, उस समय एक दो या तीन समयपर्यन्त जीव को औदारिक आदि स्थूल शरीर नहीं होते इसलिये अनाहारक अवस्था रहती है। तेहरवें गुणस्थान में केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में अनाहारकत्व

१. यथा—'पङ्कमंतिमद्गुणअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा।' (चतुर्थ कर्मग्रन्थ. गाथा. २३)

यही बात गोम्मटसार में इस प्रकार कही गई है—

'विग्गहगदिमावष्णा, केवलिणो समुग्घदो अजोगीय।

सिध्था य अणाहारा, सेसा आहारया जीवा।।' (जीव.गा. ६६५)

अर्थात् विग्रह-गति में वर्तमान जीव, समुद्घात वाले केवली, अयोगि-केवली और सिद्ध-ये अनाहारक हैं। इनके सिवाय शेष सब जीव आहारक हैं।

होता है। इस तरह चौदहवें गुणस्थान में भी योग का निरोध-अभाव हो जाने से किसी तरह का आहार सम्भव नहीं है। परन्तु चौदहवें गुणस्थान में तो बन्ध का सर्वथा अभाव ही है इसलिये शेष चार गुणस्थानों में अनाहारक के बन्ध-स्वामित्व का सम्भव है, जो कर्मणकाययोग के बन्ध-स्वामित्व के समान ही है। अर्थात् अनाहारक का बन्ध-स्वामित्व सामान्यरूप से ११२ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में १०७ का; दूसरे में ९४ का, चौथे में ७५ का और तेरहवें में एक प्रकृति का है॥२३॥

लेश्याओं में गुणस्थान का कथन।

**तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेरत्ति बन्धसामित्तं
देविंदसूरिलिहियं, नेयं कम्मत्थयं सोउ॥२४॥**

**तिसृषु द्वयोः शुक्लायां गुणाश्चत्वारः सप्त त्रयोदशेति बन्धस्वामित्वम्।
देवेन्द्रसूरिलिखितं ज्ञेयं कर्मस्तवं श्रुत्वा॥२४॥**

अर्थ—पहली तीन लेश्याओं में चार गुणस्थान हैं। तेज और पद्म दो लेश्याओं में पहले सात गुणस्थान हैं। शुक्ल लेश्या में पहले तेरह गुणस्थान हैं। इस प्रकार यह 'बन्ध-स्वामित्व' नामक प्रकरण-जिसको श्री देवेन्द्रसूरि ने रचा है—उसका ज्ञान 'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रन्थ को जानकर करना चाहिये॥२४॥

भावार्थ—कृष्ण आदि पहली तीन लेश्याओं को ४ गुणस्थानों में ही मानने का आशय यह है कि ये लेश्याएँ अशुभ परिणामरूप होने से आगे के अन्य गुणस्थानों में नहीं पाई जा सकतीं। पिछली तीन लेश्याओं में से तेज और पद्म ये दो शुभ हैं सही, पर उनकी शुभता शुक्ल लेश्या से बहुत कम होती है। इससे वे दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान तक ही पायी जाती हैं। शुक्ल लेश्या का स्वरूप इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहवें गुणस्थान तक पायी जाती है।

इस प्रकरण का 'बन्ध-स्वामित्व' नाम इसलिये रक्खा गया है कि इसमें मार्गणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृति-बंध-सम्बन्धिनी योग्यता का-बंध-स्वामित्व का विचार किया गया है।

इस प्रकरण में जैसे मार्गणाओं को लेकर जीवों के बंध-स्वामित्व का सामान्यरूप से विचार किया है, वैसे ही गुणस्थानों को लेकर विशेष रूप से भी उसका विचार किया गया है, इसलिये इस प्रकरण के जिज्ञासुओं को चाहिये कि वे इसको असंदिग्धरूप से जानने के लिये दूसरे कर्मग्रन्थ का ज्ञान पहले सम्पादन कर लें, क्योंकि दूसरे कर्मग्रन्थ के बंधाधिकार में गुणस्थानों को लेकर

प्रकृति-बंध का विचार किया है जो इस प्रकरण में भी आता है। अतएव इस प्रकरण में जगह-जगह कह दिया है कि अमुक मार्गणा का बंधस्वामित्व बंधाधिकार के समान है।

इस गाथा में जैसे लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन, बंध स्वामित्व से अलग किया है वैसे अन्य मार्गणाओं में गुणस्थानों का कथन, बंधस्वामित्व के कथन से अलग इस प्रकरण में कहीं नहीं किया है। इसका कारण इतना ही है कि अन्य मार्गणाओं में तो जितने-जितने गुणस्थान चौथे कर्मग्रन्थ में दिखाये गये हैं, उनमें कोई मत भेद नहीं है पर लेश्या के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। * चौथे कर्मग्रन्थ के मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ६ गुणस्थान हैं, परन्तु *इस तीसरे कर्मग्रन्थ के मतानुसार उनमें ४ ही गुणस्थान माने जाते हैं। अतएव उनमें बंध-स्वामित्व भी चार गुणस्थानों को लेकर ही वर्णन किया गया है।२४॥

इति बन्ध-स्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ।

-
१. यथा—‘अस्त्रिसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्ता।’
अर्थात् असंज्ञी में पहले दो गुणस्थान हैं, कृष्ण आदि पहली तीन लेश्याओं में छः और तेजः तथा पद्म लेश्याओं में सात गुणस्थान हैं। (चतुर्थ कर्मग्रन्थ. गा. २३)
 २. कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ४ गुणस्थान हैं यह मत, ‘पंचसंग्रह’ तथा ‘प्राचीन बन्ध-स्वामित्व’ के अनुसार है—
‘छल्लेस्सा जीव सम्भोत्ति’ (पंचसंग्रह १-३०)
‘छञ्जउसु तिष्णि तीसुं, छएहं सुक्का अजोगी अलेस्सा’
(प्राचीन बन्धस्वामित्व. गा. ४०)

यही मत, गोम्मटसार को भी मान्य है—

‘थावरकायप्पहुदी, अविरदसम्मोत्ति असुहतिहलेस्सा।

सएणीदो अपमतो, जाव दु सुहतिणिलेस्साओ।।’ (जीव. गा. ६९१)

अर्थात् पहली तीन अशुभ लेश्याएँ स्थावरकाय से लेकर चतुर्थ गुणस्थान-पर्यन्त होती हैं और अन्त की तीन शुभ लेश्याएँ संज्ञी मिथ्वादृष्टि से लेकर अप्रमत्त-पर्यन्त होती हैं।

परिशिष्ट
(प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग)

परिशिष्ट

प्रकृति-भेद—इसमें प्रकृति शब्द के दो अर्थ किये गये हैं—

१. स्वभाव और २. समुदाय। श्वेताम्बरीय कर्मसाहित्य में ये दोनों अर्थ पाये जाते हैं। यथा—

**प्रकृतिस्तु स्वभावः स्याद् ज्ञानावृत्यादिकर्मणाम् ।
यथा ज्ञानाच्छादनादिः स्थितिः कालविनिश्चयः ॥**
(लोकप्रकाश स. १० श्लो. १३७)

तथा

**ठिइबंधदलस्स ठिइ पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताणरसो अणुभागो तस्समुदायो पगइबंधो ॥१॥**
(प्राचीन)

परन्तु दिगम्बरीय साहित्य में प्रकृति शब्द का केवल स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। यथा—

‘प्रकृतिः स्वभावः’ इत्यादि।

(तत्त्वार्थ अ. ८-सू. ३ सर्वार्थसिद्धि)

‘प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्’

(तत्त्वार्थ अ. ८ सू. ३ राजवार्त्तिक)

‘पयडी सीलसहावो’ इत्यादि।

(कर्मकाण्ड गा. २)

इसमें जानने योग्य बात यह है कि स्वभाव-अर्थ-पक्ष में तो अनुभागबन्ध का मतलब कर्म की फल-जनक शक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दता से ही है, परन्तु समुदाय-अर्थ-पक्ष में यह बात नहीं। उस पक्ष में अनुभागबन्ध से कर्म की फल-जनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दता इतना अर्थ विवक्षित है। क्योंकि उस पक्ष में कर्म का स्वभाव (शक्ति) अर्थ भी अनुभागबन्ध शब्द से ही लिया जाता है।

कर्म के मूल आठ तथा उत्तर १४८ भेदों का जो कथन है, सो माध्यमिक विवक्षा से; क्योंकि वस्तुतः कर्म के असंख्यात प्रकार हैं। कारणभूत अध्यवसायों में असंख्यात प्रकार का तरतमभाव होने से तज्जन्य कर्मशक्तियाँ भी असंख्यात प्रकार की ही होती हैं, परन्तु उन सबका वर्गीकरण, आठ या १४८ भागों में इसलिये किया है कि जिससे सर्वसाधारण को समझने में आसानी हो, यही बात गोम्मटसार में भी कही है—

तं पुण अट्टविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा ।
ताणं पुण घादित्ति अघादित्ति य होत्ति सण्णाओ ॥

(कर्मकाण्ड—गा. ७)

आठ कर्म-प्रकृतियों के कथन का जो क्रम है उसकी उपपत्ति पञ्चसंग्रह की टीका में, कर्म विपाक की टीका में, श्री जयसोम सूरि-कृत टब्बे में तथा श्री जीवविजयजी-कृत बालावबोध में इस प्रकार दी हुई है—

उपयोग, यह जीव का लक्षण है, इसके ज्ञान और दर्शन दो भेद हैं जिनमें से ज्ञान प्रधान माना जाता है। ज्ञान से कर्मविषयक शास्त्र का या किसी अन्य शास्त्र का विचार किया जा सकता है। जब कोई भी लब्धि प्राप्त होती है तब जीव ज्ञानोपयोग-युक्त ही होता है। मोक्ष की प्राप्ति भी ज्ञानोपयोग के समय में ही होती है। अतएव ज्ञान के आवरण-भूत कर्म-ज्ञानावरण का कथन सबसे पहले किया गया है। दर्शन की प्रवृत्ति, मुक्त जीवों को ज्ञान के अनन्तर होती है; इसी से दर्शनावरणीय कर्म का कथन पीछे किया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों के तीव्र उदय से दुःख का तथा उनके विशिष्ट क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है; इसलिये वेदनीयकर्म का कथन, उक्त दो कर्मों के बाद किया है। वेदनीयकर्म के अनन्तर मोहनीयकर्म के कहने का आशय यह है कि सुख-दुःख वेदने के समय अवश्य ही राग-द्वेष का उदय हो जाता है। मोहनीय के अनन्तर आयु का पाठ इस लिये है कि मोह-व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयु का बन्ध करता ही है। जिसको आयु का उदय हुआ उसे गति आदि नामकर्म भी भोगने पड़ते ही हैं—इसी बात को जानने के लिये आयु के पश्चात् नामकर्म का उल्लेख है। गति आदि नामकर्म के उदय वाले जीव को उच्च या नीचगोत्र का विपाक भोगना पड़ता है इसी से नाम के बाद गोत्रकर्म है। उच्च गोत्रवाले जीवों को दानान्तराय आदि का क्षयोपशम होता है और नीचगोत्र-विपाकी जीवों को दानान्तराय आदि का उदय रहता है—इसी आशय को बतलाने के लिये गोत्र के पश्चात् अन्तराय का निर्देश किया है।

गोम्मटसार में दी हुई उपपत्ति भी लगभग वैसी ही है, परन्तु उसमें जानने योग्य बात यह है—अन्तराय-कर्म, घाति होने पर भी सबसे पीछे—अर्थात् अघातिकर्म के पीछे है कहने का आशय इतना ही है कि वह कर्म घाति होने पर भी अघाति कर्मों की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय, नाम आदि अघातिकर्मों के निमित्त से होता है तथा वेदनीय अघाति होने पर भी उसका पाठ घातिकर्मों के बीच, इसलिये किया गया है कि वह घातिकर्म की तरह मोहनीय के बल से जीव के गुण का घात करता है—देखो, क.गा. १७-१९।

अर्थावग्रह के नैश्चयिक और व्यावहारिक दो भेद शास्त्र में उल्लिखित पाये जाते हैं—(देखो तत्त्वार्थ-टीका पृ. ५७)। जिनमें से नैश्चयिक अर्थावग्रह, उसे समझना चाहिये जो व्यंजनावग्रह के बाद, पर ईहा के पहले होता है तथा जिसकी स्थिति एक समय की बतलाई गई है।

व्यावहारिक अर्थावग्रह, अवाय (अपाय) को कहते हैं; पर सब अवाय को नहीं किन्तु जो अवाय ईहा को उत्पन्न करता है उसी को। किसी वस्तु का अव्यक्त ज्ञान (अर्थावग्रह) होने के बाद उसके विशेष धर्म का निश्चय करने के लिये ईहा (विचारणा या सम्भावना) होती है अनन्तर उस धर्म का निश्चय होता है वही अवाय कहलाता है। एक धर्म का अवाय हो जाने पर फिर दूसरे धर्म के विषय में ईहा होती है और पीछे से उसका निश्चय भी हो जाता है। इस प्रकार जो जो अवाय, अन्य धर्म विषयक ईहा को पैदा करता है वह सब, व्यावहारिक अर्थावग्रह में परिगणित है। केवल उस अवाय को अवग्रह नहीं कहते जिसके अनन्तर ईहा उत्पन्न न होकर धारणा ही होती है।

अवाय को अर्थावग्रह कहने का सबब इतना ही है कि यद्यपि है वह किसी विशेष धर्म का निश्चयात्मक ज्ञान ही, तथापि उत्तरवर्ती अवाय की अपेक्षा पूर्ववर्ती अवाय, सामान्य विषयक होता है। इसलिये वह सामान्य विषयक-ज्ञानत्वरूप से नैश्चयिक अर्थावग्रह के तुल्य है। अतएव उसे व्यावहारिक अर्थावग्रह कहना असंगत नहीं।

यद्यपि जिस शब्द के अन्त में विभक्ति आई हो उसे या जितने भाग में अर्थ की समाप्ति होती हो उसे पद कहा है, तथापि पद-श्रुत में पद का मतलब ऐसे पद से नहीं है, किन्तु सांकेतिक पद से है। आचाराङ्ग आदि आगमों का प्रमाण ऐसे ही पदों से गिना जाता है (देखो, लोकप्रकाश, स. ३ श्लो. ८२७)। कितने श्लोकों का यह सांकेतिक पद माना जाता है इस बात का पता तादृश

सम्प्रदाय नष्ट होने से नहीं चलता—ऐसा टीका में लिखा है पर कहीं यह लिखा मिलता है कि प्रायः ५१,०८,८६,८४० श्लोकों का एक पद होता है।

पदश्रुत में पद शब्द का सांकेतिक अर्थ दिगम्बर-साहित्य में भी लिया गया है। आचाराङ्ग आदि का प्रमाण ऐसे ही पदों से उसमें भी माना गया है, परन्तु उसमें विशेषता यह देखी जाती है कि श्वेताम्बर-साहित्य में पद के प्रमाण के सम्बन्ध में सब आचार्य, आम्नाय का विच्छेद दिखाते हैं, तब दिगम्बर-शास्त्र में पद का प्रमाण स्पष्ट लिखा पाया जाता है। गोम्मतसार में १६३४ करोड़, ८३ लाख, ७ हजार, ८८८ अक्षरों का एक पद माना है। बत्तीस अक्षरों का एक श्लोक मानने पर उतने अक्षरों के ५१,०८,८४,६२१॥ श्लोक होते हैं; यथा—

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव ।
सत्तसहस्साट्टसया अट्टासीदी य पदवण्णा ॥

(जीवकाण्ड. गा. ३३५)

इस प्रमाण में ऊपर लिखे हुए उस प्रमाण से बहुत फेर नहीं है जो श्वेताम्बर-शास्त्र में कहीं-कहीं पाया जाता है, इससे पद के प्रमाण के सम्बन्ध में श्वेताम्बर-दिगम्बर-साहित्य की एक वाक्यता ही सिद्ध होती है।

मनःपर्यायज्ञान के ज्ञेय (विषय) के सम्बन्ध में दो प्रकार का उल्लेख पाया जाता है। पहले में यह लिखा है कि मनःपर्याय ज्ञानी, मनःपर्यायज्ञान से दूसरों के मन में व्यवस्थित चिन्त्यमान पदार्थ को जानता है, परन्तु दूसरा उल्लेख यह कहता है कि मनःपर्यायज्ञान से चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान नहीं होता, किन्तु विचार करने के समय, मन की जो आकृतियाँ होती हैं उन्हीं का ज्ञान होता है और चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान पीछे से अनुमान द्वारा होता है। पहला उल्लेख दिगम्बरीय साहित्य का है—(देखो, सर्वार्थसिद्धि पृ. १२४, राजवार्तिक पृ. ५८ और जीवकाण्ड-गा. ४३७-४४७) और दूसरा उल्लेख श्वेताम्बरीय साहित्य का है—(देखो, तत्त्वार्थ अ. १, सू. २४ टीका, आवश्यक गा. ७६ की टीका, विशेषावश्यकभाष्य पृ. ३९० गा. ८१३-८१४ और लोकप्रकाश स. ३ श्लो. ८४९ से)।

अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गोम्मतसार का जो मन्तव्य है वह श्वेताम्बर-साहित्य में कहीं देखने में नहीं आया। वह मन्तव्य इस प्रकार है—

अवधिज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन्हीं प्रदेशों से होती है जो कि शंख आदि-शुभ-चिह्न अङ्गों में वर्तमान होते हैं, तथा मनःपर्यायज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशों से होती है जिनका कि सम्बन्ध द्रव्यमन के साथ है—अर्थात् द्रव्यमन का स्थान हृदय ही है इसलिये हृदय-भाग में स्थित आत्मा के प्रदेशों में ही मनःपर्यायज्ञान का क्षयोपशम है; परन्तु शंख आदि शुभ चिहनों का सम्भव सभी अङ्गों में हो सकता है इस कारण अवधिज्ञान के क्षयोपशम की योग्यता, किसी खास अङ्ग में वर्तमान आत्मप्रदेशों में ही नहीं मानी जा सकती; यथा—

सव्वंगअंगसंभवचिणहादुप्पज्जदे जहा ओही ।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उपज्जदेणियमा ॥

(जीवकाण्ड-गा. ४४१)

द्रव्यमन के सम्बन्ध में भी जो कल्पना दिगम्बर-सम्प्रदाय में है वह श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में नहीं; वह इस प्रकार है—

द्रव्यमन, हृदय से ही है उसका आकार आठ पत्र वाले कमल का-सा है। वह मनोवर्गणा के स्कन्धों से बनता है उसके बनने में अंतरंग कारण अङ्गोपाङ्गनामकर्म का उदय है; यथा—

हिदि होदिहु दव्वमणं वियसियअट्टच्छदारविंदंवा ।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा ॥

(जीवकाण्ड-गा. ४४२)

इस ग्रन्थ की १२वीं गाथा में स्त्यानगृद्धि निद्रा का स्वरूप कहा गया है। उसमें जो यह कहा है कि—‘स्त्यानगृद्धि निद्रा के समय, वासुदेव जितना बल प्रगट होता है, वह बज्रऋषभानाराचसंहनन की अपेक्षा से जानना। अन्य संहनन वालों को उस निद्रा के समय, वर्तमान युवकों के बल से आठ गुना बल होता है’—यह अभिप्राय कर्मग्रन्थ-वृत्ति आदि का है। जीतकल्प-वृत्ति में तो इतना और भी विशेष है कि ‘वह निद्रा, प्रथमसंहनन के सिवाय अन्य संहनन वालों को होती ही नहीं और जिसको होने का सम्भव है वह भी उस निद्रा के अभाव में अन्य मनुष्यों से तीन चार गुना अधिक बल रखता है’—(देखो, लोकप्रकाश स. १० श्लो. १५०)

मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुंजों की समानता छाछ से शोधे हुये शुद्ध, अशुद्ध और अर्धविशुद्ध कोदों के साथ, की गई है। परन्तु गोम्मतसार में इन

तीन पुंजों को समझाने के लिये चक्की से पीसे हुए कोदों का दृष्टान्त दिया गया है। उसमें चक्की से पीसे हुए कोदों के भूसे के साथ अशुद्ध पुंजों की, तंदुले के साथ शुद्ध पुंजों की और कण के साथ अर्धविशुद्ध पुंज की बराबरी की गई है। प्राथमिक उपशमसम्यक्त्व-परिणाम (ग्रन्थिभेद-जन्य सम्यक्त्व) जिससे मोहनीय के दलिक शुद्ध होते हैं उसे चक्की-स्थानीय माना है—(देखो, कर्मकाण्ड गा. २६)

कषाय के ४ विभाग किये हैं, वह उसके रस की (शक्ति की) तीव्रता-मन्दता के आधार पर। सबसे अधिक-रसवाले कषाय को अनन्तानुबन्धी, उससे कुछ कम-रसवाले कषाय को अप्रत्याख्यानावरण, उससे भी मन्दरसवाले कषाय को प्रत्याख्यानावरण और सबसे मन्दरस वाले कषाय को संज्वलन कहते हैं।

इस ग्रन्थ की गाथा १८वीं में उक्त ४ कषायों का जो काल मान कहा गया है वह उनकी वासना का समझना चाहिये। वासना, असर (संस्कार) को कहते हैं। जीवन-पर्यन्त स्थिति वाले अनन्तानुबन्धी का मतलब यह है कि वह कषाय इतना तीव्र होता है कि जिसका असर जिन्दगी तक बना रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का असर वर्ष-पर्यन्त माना गया है। इस प्रकार अन्य कषायों की स्थिति के प्रमाण को भी उनके असर की स्थिति का प्रमाण समझना चाहिये। यद्यपि गोम्मटसार में बतलाई हुई स्थिति, कर्मग्रन्थवर्णित स्थिति से कुछ भिन्न है तथापि उसमें (कर्मकाण्ड-गाथा ४६ में) कषाय के स्थिति काल को वासनाकाल स्पष्टरूप से कहा है। यह ठीक भी जान पड़ता है। क्योंकि एक बार कषाय हुआ कि पीछे उसका असर थोड़ा बहुत रहता ही है। इसलिए उस असर की स्थिति ही को कषाय की स्थिति कहने में कोई विरोध नहीं है।

कर्मग्रन्थ में और गोम्मटसार में कषायों को जिन-जिन पदार्थों की उपमा दी है वे सब एक ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि प्रत्याख्यानावरण लोभ को गोम्मटसार में शरीर के मल की उपमा दी है और कर्मग्रन्थ में खंजन (कज्जल) की उपमा दी है—(देखो, जीवकाण्ड, गाथा २८६)।

पृष्ठ ५७ में अपवर्त्य आयु का स्वरूप दिखाया है इसके वर्णन में जिस मरण को 'अकालमरण' कहा है उसे गोम्मटसार में 'कदलीघातमरण' कहा है। यह कदलीघात, शब्द अकालमृत्यु अर्थ में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। (कर्मकाण्ड, गाथा ५७)

संहनन शब्द का अस्थिनिचय (हड्डियों की रचना) यह अर्थ जो किया गया है सो कर्मग्रन्थ के मतानुसार। सिद्धान्त के मतानुसार संहनन का अर्थ शक्ति-विशेष है; यथा—

‘सुते

सत्तिविसेसो

संघयणमिहट्टिनिचउत्ति’

(प्राचीन तृतीय कर्मग्रन्थ-टीका पृ. ९९)

कर्मविषयक साहित्य की कुछ ऐसी संज्ञाएँ आगे दी जाती हैं कि जिनके अर्थ में श्वेताम्बर-दिगम्बर-साहित्य में थोड़ा बहुत भेद दृष्टिगोचर होता है।

श्वेताम्बर

प्रचलाप्रचलानिद्रा, वह है जो मनुष्य को चलते फिरते भी आती है।

निद्रा, उस निद्रा को कहते हैं जिसमें सोता हुआ मनुष्य अनौयास उठाया जा सके।

प्रचला, वह निद्रा है जो खड़े हुए या बैठे हुए प्राणी को भी आती है।

गतिनामकर्म से मनुष्य नारक-आदि पर्याय की प्राप्ति मात्र होती है।

निर्माणनामकर्म का कार्य अङ्गोपाङ्गों को अपने-अपने स्थान में व्यवस्थित करना इतना ही माना गया है।

आनुपूर्वीनामकर्म, समश्रेणि से गमन करते हुए जीव को खींच कर, उसे उसके विश्रेणिपतित उत्पत्ति-स्थान को पहुँचाता है।

दिगम्बर

प्रचलाप्रचला—इसका उदय जिस आत्मा को होता है उसके मुँह से लार टपकती है तथा उसके हाथ-पाँव आदि अंग काँपते हैं।

निद्रा—इसके उदय से जीव चलते-चलते खड़ा रह जाता है और गिर भी जाता है—(देखो, कर्म.गा. २४)।

प्रचला—इसके उदय से प्राणी नेत्र को थोड़ा मूँद कर सोता है, सोता हुआ भी थोड़ा ज्ञान करता रहता है और बार-बार मन्द निद्रा लिया करता है—

(कर्म.गा. २५)।

गतिनामकर्म, उस कर्म प्रकृति को कहा है जिसके उदय से आत्माभवान्तर को जाता है।

निर्माणनामकर्म-इसके स्थान निर्माण और प्रमाण-निर्माण ऐसे दो भेदमान कर इनका कार्य अंगोपाङ्गों को यथा-स्थान व्यवस्थित करने के उपरान्त उनको प्रमाणोपेत बनाना भी माना गया है।

आनुपूर्वीनामकर्म—इसका प्रयोजन पूर्व शरीर छोड़ने के बाद और नया शरीर धारण करने के पहले-अर्थात् अन्तराल

उपघातनामकर्म-मतभेद से इसके दो कार्य हैं। पहला तो यह कि गले में फाँसी लगा कर या कहीं ऊँचे से गिरकर अपने ही आप आत्म-हत्या की चेष्टा द्वारा दुःखी होना, दूसरा, पड़जीभ, रसौली, छठी उँगली, बाहर निकले हुए दाँत आदि से तकलीफ पाना (श्रीयशोविजयजी कृत, -कम्मपयडी-व्याख्या पृ. ५)।

शुभनामकर्म से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।

अशुभनामकर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव अशुभ होते हैं।

स्थिरनामकर्म के उदय से सिर, हड्डी, दाँत आदि अवयवों में स्थिरता आती है।

अस्थिरनामकर्म—सिर, हड्डी, दाँत आदि अवयवों में अस्थिरता उसी कर्म से आती है।

जो कुछ कहा जाय उसे लोग प्रमाण समझ कर मान लेते और सत्कार आदि करते हैं, यह आदेयनामकर्म का फल है अनादेय कर्म का कार्य, उस से उलटा ही है—अर्थात् हितकारी, वचन को भी लोग प्रमाणरूप नहीं मानते और न सत्कार आदि ही करते हैं।

दान-तप-शौर्य-आदि-जन्य यश से जो प्रशंसा होती है उसका कारण यश:-

गति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखना है।

उपघात नामकर्म—इसके उदय से प्राणी फाँसी आदि से अपनी हत्या कर लेता और दुःख पाता।

शुभनाम—यह कर्म, रमणीयता का कारण है।

अशुभनामकर्म, इसका उदय कुरूप का कारण है।

स्थिरनामकर्म, इसके उदय से शरीर में तथा धातु-उपधातु में स्थिरभाव बना रहता है जिससे कि उपसर्ग-तपस्या आदि जन्य कष्ट सहन किया जा सकता है।

अस्थिर नामकर्म, इस से अस्थिर भाव पैदा होता है जिससे थोड़ा भी कष्ट सहन किया नहीं जा सकता।

आदेयनामकर्म, इसके उदय से शरीर, प्रभा-युक्त बनता है। इसके विपरीत अनादेयनाम कर्म से शरीर, प्रभा-हीन होता है।

यशः कीर्तिनामकर्म, यह पुण्य और गुणों के कीर्तन का कारण है।

कीर्तिनामकर्म है। एक दिशा में फैलने वाली ख्याति को कीर्ति और सब दिशाओं में फैलने वाली ख्याति को यशः कहते हैं। इसी तरह दान-पुण्य-आदि से होनेवाली महत्ता को यशः कहते हैं। कीर्ति और यशःका सम्पादन यशः कीर्तिनामकर्म से होता है।

कुछ संज्ञाएँ ऐसी भी हैं जिनके स्वरूप में दोनों सम्प्रदायों में किञ्चित् परिवर्तन हो गया है—

श्वेताम्बर

सादि, साचिसंहनन।

ऋषभनाराच।

कीलिका।

सेवार्ता।

दिगम्बर

स्वातिसंहनन।

वज्रनाराचसंहनन।

किलित।

असंप्राप्तासृपाटिका।

*

कोष

अ

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|-------------|--------------------|--|
| ३४ | अंग | अङ्ग | शरीर का अवयव पृ. ५०. |
| ४७ | अंग | अङ्ग | शरीर. |
| ६ | अंगपविष्ट | अङ्गप्रविष्ट | 'अङ्ग' नाम के आचाराङ्गादि १२ आगम ^१ |
| ३४ | अंगुली | अङ्गुली | उँगली |
| ३४ | अंगोवंग | अङ्गोपाङ्ग | रेखा, पर्व आदि। |
| १६ | अंतमुहु | अन्तर्मुहूर्त्त | ९ समय से लेकर एक समय कम दो घड़ी प्रमाण काल. |
| ५४ | अंतराअ | अन्तराय | रुकावट |
| ४१ | अंबिल | अम्ब | आम्तरस नामकर्म पृ. ५८. |
| ५९. | अकामनिज्जर | अकामनिर्जर | बिना इच्छा के कष्ट सहकर कर्म की निर्जरा करने वाला |
| ६, ७ | अक्खर | अक्षर | अक्षरश्रुत पृ. ११-१५. |
| ५९ | अगारविल्ल | अगौरववत् | निरभिमान पृ. ८२. |
| २५, ४७ | अगुरुलहु | अगुरुलघु | अगुरुलघु नामकर्म पृ. ४१, ६३. |
| २९ | अगुरुलहुचउ | अगुरुलघु चतुष्क | अगुरुलघु-आदि ४ प्रकृतियाँ पृ. ४४. |
| १० | अचक्खु | अचक्षुस् | अचक्षुर्दर्शन पृ. २१. |
| ५४ | अच्चासायणया | अत्याशातना | अवहेलना. |
| २७ | अजस | अयशस् | अयशःकीर्तिना. पृ. ४२ |
| १५ | अजिय | अजीव | अजीव-तत्त्व पृ. २७. |
| ५५ | अज्जइ | अर्ज-अर्जयति | अर्जन करता है. |

१. यथा:- (१) आचार, (२) सूत्रकृत, (३) स्थान, (४) समवाय, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञाताधर्मकथा, (७) उपासकाध्ययन दशा, (८) अन्तकृदशा, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाकसूत्र और (१२) दृष्टिवाद।

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|-------------|----------------|-----------------------------------|
| ६० | अज्झयण | अध्ययन | पढ़ना. |
| ६० | अज्झावणा | अध्यापना | पढ़ाना. |
| २, २५, ३०, | अट्ट | अष्टन् | आठ. |
| ४१ | | | |
| ५ | अट्ठवीस | अष्टाविंशति | अट्ठाईस. |
| ३८, ५० | अट्ठि | अस्थि | हड्डी. |
| १९ | अट्ठिय | अस्थिक | हड्डी. |
| ३२ | अट्ठवन्न | अष्टपञ्चाशत् | अट्ठावन. |
| ३१ | अडवीस | अष्टविंशति | अट्ठाईस |
| २ | अडवन्नसय | अष्टपञ्चाशच्छत | एक सौ अट्ठावन |
| १७ | अण | अन | अनन्तानुबन्धी पृ. ३१ |
| २७ | अणाइज्ज | अनादेय | अनादेयनाम कर्म पृ. ४२ |
| १८ | अणु | अणु | देश-अल्प |
| ७ | अणुओग | अनुयोग | श्रुतज्ञान-विशेष पृ. १४-१६ |
| ८ | अणुगामि | अनुगामिन् | अवधिज्ञान-विशेष पृ. १६ |
| २४, ४३ | अणुपुक्वी | आनुपूर्वी | आनुपूर्वी नामकर्म पृ. ३९, ६०. |
| ४६ | अणुसिण | अनुष्ण | अनुष्ण |
| ५ | अत्युग्गह | अर्थावग्रह | एक तरह का मतिज्ञान पृ. ९ |
| २७ | अथिर | अस्थिर | अस्थिर नामकर्म पृ. ४२ |
| २८ | अथिरछक्क | अथिरषट्क | अस्थिर आदि ६ प्रकृतियाँ पृ. ६५ |
| १२ | अद्ध | अर्ध | आधा |
| ३८ | अद्धनाराय | अर्धनाराच | चौथा संहनन पृ. ५४ |
| १२ | अद्धचक्कि | अर्धचक्रिन् | वासुदेव |
| १४ | अद्धविसुद्ध | अर्धविशुद्ध | आधा शुद्ध |
| १६ | अन्न | अन्न | अनाज |
| २९ | अन्न | अन्य | दूसरा |
| २, ५९ | अन्नहा | अन्यथा | अन्य प्रकार से |
| १७ | अपचक्खाण | अप्रत्याख्यान | अप्रत्याखानावरण पृ. ३१ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-------------|-------------------|---------------------|--------------------------------------|
| २७ | अपज्ज | अपर्याप्त | अपर्याप्त नामकर्म पृ. ४२ |
| १८ | अमर | अमर | देव |
| २१ | अरइ | अरति | अरतिमोहनीय पृ. ३५ |
| ४८ | अवयव | अवयव | शरीर का एक देश |
| २० | अवलेहि | अवलेखिका | बाँस का छिलका |
| ५ | अवाय | अपाय | एक तरह का मतिज्ञान पृ. ९ |
| २९ | अवि | अपि | भी |
| ५९ | अविरय | अविरत | अविरतसम्यग्दृष्टि |
| १४ | अविसुद्ध | अविशुद्ध | अशुद्ध |
| १३, ५५ | असाय | असात | असातवेदनीय पृ. २४, ७७ |
| २७ | असुभ | अशुभ | अशुभनामकर्म पृ. ४२ |
| ४३ | असुह | अशुभ | अप्रशस्त |
| ५९ | असुह | अशुभ | अशुभनामकर्म पृ. ८२ |
| ४२ | असुहनवग | अशुभनवक | नीलवर्ण आदि ९ अशुभ प्रकृतियाँ पृ. ५९ |
| १८ | अहक्खाय चरित्त | यथाख्यात चारित्र | परिपूर्ण-निर्विकार-संयम |
| २२ | अहिलास | अभिलाष | चाह |
| आ | | | |
| १५, २१, २८, | | | |
| २९, ३५, ४६, | | | |
| ४८, ५०, ५२ | आइ | आदि | बगैरह |
| २६, ३६, ५१, | | | |
| ५३, ५७, ५८, | | | |
| ६०, ६१ | | | |
| २६, ५१ | आइज्ज | आदेय | आदेयनामकर्म पृ. ४२, ६८ |
| ३, २६, ४३ | आउ | आयुस् | आयुकर्म पृ. ६, ४२, ६० |
| २५, ४५ | आयव | आतप | आतपनामकर्म पृ. ४१, ६२ |
| ३, ९ | आवरण | आवरण | आच्छादन |
| ५४ | आवरणदुग | आवरणद्विक | ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्म |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-------------|-------------|----------------|---|
| १५ | आसव | आस्रव | आस्रव-तत्त्व पृ. २७ |
| ३३ | आहारग | आहारक | आहारकशरीरनामकर्म पृ. ४८ |
| ३७ | आहारय | आहारक | आहारकशरीर |
| | | इ | |
| ३३ | इन्दि | इन्द्रिय | इन्द्रिय |
| १० | इन्दिय | इन्द्रिय | इन्द्रिय |
| ४ | इन्दियचउक्क | इन्द्रियचतुष्क | त्वचा, रसन, घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ |
| ४२ | इक्कारसग | एकादशान् | ग्यारह |
| ८, ३३ | इग | एक | एक |
| २९ | इच्चाइ | इत्यादि | इत्यादि |
| ५० | इट्ट | इष्ट | प्रिय |
| २२ | इत्थी | स्त्री | स्त्री |
| ६१ | इदम् | अयं | यह |
| ९, २६ | इदम् | इदम् | यह |
| ९ | इदम् | एषां | इनका |
| ५, २५, २७, | | | |
| २९, ३०, | इय | इति | इस प्रकार |
| ३२, ६१ | | | |
| ८, ३७ | इयर | इतर | अन्य |
| ६० | इयरहा | इतरथा | अन्य प्रकार से |
| ५२, ३६ | इव | इव तरह | |
| ३, २१, ३९ | | | |
| ४६ | इह | इह | इस जगह |
| | | ई | |
| ५ | ईहा | ईहा | मतिज्ञान-विशेष पृ. ९ |
| | | उ | |
| २२, ३०, ४५, | | | |
| ६० | उ | तु | तो, फिर, ही, किन्तु |
| ५२, ३० | उच्च | उच्च | ऊँचा, उच्चगोत्र |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-------------|--------------|------------------------------|---------------------------|
| २५, ४६ | उज्जयो | उद्योत | उद्योतनामकर्म पृ. ४१, ६३ |
| ४६ | उज्जोयए | उद्द्युत् उद्योत उद्योतते | करता है |
| ४३ | उट्ट | उष्ट्र | ऊँट |
| ४१ | उणह | उष्ण | उष्णस्पर्शनामकर्म पृ. ५८ |
| २ | उत्तर-पगइ | उत्तर-प्रकृति | अवान्तर प्रकृति |
| ३० | उत्तर-भेय | उत्तर-भेद | अवान्तर भेद |
| ४६ | उत्तरविक्रिय | उत्तरवैक्रिय | उत्तर वैक्रिय शरीर |
| २२, ३२, ४३, | | | |
| ४५, ४७, ५० | उदअ | उदय | विपाक-फलानुभूत |
| ४४, ४७ | उदय | उदय | विपाक-फलानुभव |
| ११ | उपविट्ठ | उपविष्ट | बैठा हुआ |
| ३९ | उभओ | उभयतः | दोनों तरफ |
| २२ | उभय | उभय | दो |
| ५६ | उम्मग | उन्मार्ग | शास्त्र-विरुद्ध-स्वच्छन्द |
| ३४ | उर | उरस् | छाती |
| ३५, ३६ | उरल | औदार | औदारिक-स्थूल |
| ३९ | उरालंग | औदाराङ्ग | औदारिकशरीर पृ. ५४ |
| २४ | उवंग | उपाङ्ग | अङ्गोपाङ्गनामकर्म पृ. ७६ |
| ३४ | उवंग | उपाङ्ग | अंगुली आदि उपाङ्ग पृ. ३९ |
| २५, ४८ | उवघाय | उपघात | उपघातनामकर्म पृ. ४१, ६४ |
| ५४ | उवघाय | उपघात | घात—नाश |
| ५२ | उवभोग | उपभोग | बारबार भोगना |
| १९ | उवमा | उपमा | समानता |
| ५० | उवरि | उवरि | ऊपर |
| ४८ | उवहम्मइ | उपहन् उपहन्यते | उपघात पाता है |
| २५ | उस्सास | उच्छ्वास | उच्छ्वासनामकर्म |
| ४५ | उसिणफास | उष्णस्पर्श | उष्णस्पर्शनामकर्म पृ. ६२ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|-----------|-------------------|----------------------------------|
| | | ऊ | |
| ३४ | ऊरु | उरु | जँघा |
| ४४ | ऊससणलद्धि | उच्छ्व सनलब्धि | श्वासोच्छ्वास की शक्ति पृ. ६१ |
| ४४ | ऊसासनाम | इच्छ्वासनामन् | उच्छ्वासनामकर्म पृ. ६१ |
| | | ए | |
| ६३ | एए | एते | ये |
| ५३ | एयं | एतद | यह |
| ५३ | एवं | एवं | इस प्रकार |
| | | ओ | |
| ३३ | ओराल | औदार | औदारिकशरीरना. पृ. ४८ |
| ३७ | ओराल | औदार | औदारिकशरीर |
| १३ | ओसत्रं | प्रायः | बहुत कर |
| ४,८ | ओहि | अवधि | अवधिज्ञान पृ. ७,१६ |
| १० | ओहि | अवधि | अवधिदर्शन पृ. २१ |
| | | क | |
| १९ | कट्ट | काष्ठ | लकड़ा |
| ४१ | कडु | कटुक | कटुकरसनामकर्म पृ. ५८ |
| ४२ | कडुय | कटुक | कटुकरसनामकर्म पृ. ५९ |
| १ | कम्म | कर्मन् | कर्म पृ. १ |
| ३३ | कम्मण | कार्मण | कार्मण शरीर |
| ६१, १ | कम्मविवाग | कर्मविपाक | 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ |
| ३०, १४ | कमसो | क्रमशः | क्रम से |
| ५ | करण | करण | इन्द्रिय |
| ४९ | करण | करण | करण-शरीर, इन्द्रिय आदि |
| १२ | करणी | करणी | करनेवाली |
| ५५ | करुणा | करुणा | दया |
| १७, ५५, ५७ | कसाय | कषाय | कषायमोहनीयकर्म पृ. ३१, ७७, ८० |
| ४१ | कसाय | कषाय | कषायरसनामकर्म पृ. ५८ |
| ४२ | कसिण | कृष्ण | कृष्णवर्णनामकर्म पृ. ५९ |
| ४० | किण्ह | कृष्ण | कृष्णवर्णनामकर्म पृ. ५६ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|-----------|---------------|----------------------------------|
| २० | किमिराग | कृमिराग | किरमिजी रंग |
| १ | कीरइ | कृ-क्रियते | किया जाता है |
| ३९ | कीलिया | कोलिया | कीलिकासंहननाम पृ. ५४ |
| ३९ | कीलिया | कीलिका | खीला |
| २१ | कुच्छा | कुत्सा | घिना |
| ५२ | कुलाल | कुलाल | कुम्हार |
| ३५, ४८, ५३ | (कृ) कुणइ | करोति | करता है |
| ४, ८ | केवल | केवल | केवलज्ञान पृ. ७, १६ |
| १० | केवल | केवल | केवलदर्शन पृ. २१ |
| ४७ | केवलि | केवलिन् | केवलज्ञानी |
| १९ | कोह | क्रोध | क्रोधकषाय |
| ख | | | |
| १५ | खइग | क्षायिक | क्षायिक |
| २० | खंजग | खञ्जन | पहिये का कीचड़ |
| ५५ | खंति | क्षान्ति | क्षमा |
| १२ | खग्ग | खङ्ग | तलवार |
| ४१, ४२ | खर | खर | खरस्पर्शनामकर्म पृ. ५८, ५९ |
| ४६ | खज्जोय | खद्योत | जुगनू |
| ६ | खलु | खलु | निश्चय |
| ४० | खुज्ज | कुब्ज | कुब्जसंस्थान पृ. ५६ |
| ग | | | |
| २४, ३३, ४३ | गइ | गति | गतिनामकर्म पृ. ३९, ४८, ६० |
| ३० | गइयाइ | गत्यादि | गति आदि नामकर्म |
| ३६ | गण | गण | समूह-ढेर |
| २४ | गंध | गन्ध | गन्धनामकर्म |
| ६ | गमिय | गमिक | गमिक श्रुत पृ. ११ |
| ३१ | गह | ग्रह | ग्रहण |
| ६० | गुणपेहि | गुणप्रेक्षिन् | गुणदर्शी |
| ४१, ४२ | गुरु | गुरु | गुरुस्पर्शनाम कर्म पृ. ५८, ५९ |
| ४७ | गुरु | गुरु | भारी |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-------------------|-----------|-------------|--------------------------|
| ५५ | गुरुभक्ति | गुरुभक्ति | गुरु सेवा |
| ५८ | गूढहियअ | गूढ हृदय | खपटी हृदय वाला |
| २० | गोमुक्ति | गोमूत्रिका | गाय के मूत्र की लकीर |
| ३, ५२ | गोय | गोत्र | गोत्रकर्म पृ. ६, ७१ |
| घ | | | |
| २० | घण | घन | घना दृढ़ |
| १८ | घायकर | घातकर | नाशकारक |
| च | | | |
| २३, २६, ३७, ४२ | च | च | और |
| ३०, ३३, ४९ | चउ | चतुः | चार |
| २५ | चउदस | चतुर्दशन् | चौदह |
| ५ | चउदसहा | चतुर्दशधा | चौदह प्रकार का |
| १८ | चउमास | चतुर्मास | चार महीने |
| १९ | चउब्बिह | चतुर्विध | चार प्रकार का |
| १, ४, ४३ | चउहा | चतुर्धा | चार प्रकार का |
| १२ | चिंतियत्थ | चिन्तितार्थ | सोचा हुआ काम |
| १२ | चंकमओ | चङ्क्रमतः | चलने फिरने वालों को |
| ९ | चक्खु | चक्षुस् | आँख |
| १० | चक्खु | चक्षुस् | चक्षुर्दर्शन पृ. २१ |
| १३ | चरण | चरण | चारित्र पृ. ८० |
| ५७ | चरणमोह | चरणमोह | चारित्रमोहनीयकर्म पृ. ३७ |
| १७ | चरित्त | चारित्र | चारित्रमोहनीयकर्म |
| | मोहणिय | मोहनीय | |
| २३ | चित्ति | चित्रित् | चितेरा-चित्रकार |
| ५६ | चेइय | चैत्य | मन्दिर, प्रतिमा |
| छ | | | |
| ३० | छ | षष् | छह |
| २९ | छक्क | षट्क | छह का समूह |
| ३० | छक्क | षट्क | छह |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|----------|------------|---------------------------------------|
| ३८ | छद्धा | षड्धा | छह प्रकार का |
| ५, ८ | छहा | षट्हा | छह प्रकार का |
| ३९ | छेवट्ट | सेवार्त | सेवार्तसंहनन पृ. ५४ |
| ज | | | |
| ४६ | जइ | यति | साधु |
| ३५ | जउ | जतु | लाख |
| ५० | जण | जन | लोक |
| ४७ | (जन्) | जायइ जायते | होता है |
| ५४, ५९, ६१ | जयइ | जि-जयति | बाँधता है |
| १९ | जल | जल | पानी |
| ४५ | जलण | ज्वलन | अग्नि-आग |
| २२ | जव्वस | यद्वश | जिस के वश |
| २६, ५१ | जस | यशस् | यशःकीर्तिनामकर्म पृ. ४२, ६८ |
| ५१ | जसकित्ती | यशःकीर्ति | बड़ाई |
| १६, ५३ | जहा | यथा | जिस प्रकार |
| २४, ३३ | जाइ | जाति | जातिनामकर्म पृ. ३९, ४८ |
| १८ | जाजीव | यावज्जीव | जीवनपर्यन्त |
| १, २१, ५४ | जिअ | जीव | आत्मा |
| ५६, ६०, ६१ | जिण | जिन | वीतराग |
| १६ | जिणधम्म | जिनधर्म | जैनधर्म |
| १५ | जिय | जीव | जीव-तत्त्व २७ |
| ४५, ४६ | जियंग | जीवाङ्ग | जीव का शरीर |
| ४९ | जीय | जीव | जीव पृ. ६५ |
| ४७, ५३ | जीव | जीव | आत्मा |
| ५५ | जुआ | युत | सहित |
| ३७, ४४ | जुत | युक्त | सहित |
| ३१, ४३, ४५ | जुय | युत | सहित |
| ४६ | जोइस | ज्योतिष | चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष- मण्डल |
| ५५ | जोग | योग | संयम पृ. ७७ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|--------------|---------|------------|-------------------------------|
| | | झ | |
| ५१ | झुणि | ध्वनि | आवाज़ |
| | | ठ | |
| ११ | ठिअ | स्थित | खड़ा |
| २ | ठिइ | स्थिति | स्थितिबन्ध पृ. ४ |
| | | त | |
| २२, ३६ | तण | तृण | घास |
| २४, ३१, ५० | तणु | तनु | शरीरनामकर्म पृ. ३९, ४५, ६८ |
| ५० | तणु | तनु | शरीर |
| ५८ | तणुकसाअ | तनुकषाय | अल्प-कषाय-युक्त |
| ३४ | तणुतिग | तनुत्रिक | तीन शरीर |
| ३६ | तणुनाम | तनुनामन् | शरीरनाम |
| ४ | तत्थ | तत्र | उसमें |
| २२, २८, २९ | | | |
| ३७ | तद् | तद् | वह |
| २२ | तेसि | तेषाम् | उनका |
| ४७ | सो | सः | वह |
| १५ | से | तस्य | उसका |
| २, ९, १४, २१ | तो | तस्मात् | उस कारण से |
| ३५, ३६, ३८ | तं | तत् | वह |
| १०, १५ | तयं | तकत् | वह |
| १० | तस्स | तस्य | उसका |
| ५३ | तेण | तेन | उससे |
| २६, २९, ४९ | तस | त्रस | त्रसनामकर्म पृ. ४२, ४४, ६५ |
| २८ | तसचउ | त्रसचतुष्क | त्रस आदि ४ प्रकृतियाँ पृ. ४३ |
| २६ | तसदसग | त्रसदशक | त्रस आदि १० प्रकृतियाँ पृ. ४२ |
| ३८, ५८ | तहा | तथा | उस प्रकार |
| ४५ | तहिं | तत्र | उसमें |
| ३४ | तहेव | तथैव | तथा |
| ४५ | ताव | ताप | गर्मी |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|-----------|--------------|--------------------------------|
| २९, ३०, ४९ | ति | त्रि | तीन |
| २५, ४५ | त्ति | इति | समाप्ति-घोतक |
| २३ | तिउत्तरसय | त्र्युत्तरशत | एक सौ तीन |
| ४३ | तिग | त्रिग | तीन का समूह |
| १९ | तिणिसलया | तिनिसलता | बेंत |
| ४१, ४२ | तित्त | तित्त | तिक्तरसनामकर्म पृ. ५६, ५८ |
| २५, ४७ | तित्थ | तीर्थ | तीर्थङ्करनामकर्म पृ. ४१, ६३ |
| ३१, ३३ | तिनवइ | त्रिनवति | तिरानवे |
| ३७ | तित्रि | त्रि | तीन |
| ३३ | तिय | त्रिक | तीन |
| २३, ३३ | तिरि | तिर्यच् | तिर्यञ्च |
| १३, १८ | तिरिय | तिर्यच् | तिर्यञ्च |
| ५८ | तिरियाउ | तिर्यगायुस् | तिर्यञ्चायु |
| १४ | तिविह | त्रिविध | तीन प्रकार का |
| ३१ | तिसय | त्रिशत | एक सौ तीन |
| ४७ | तिहुयण | त्रिभुवन | तीन लोक |
| १३, २६ | तु | तु | तो |
| ३३, ३७ | सेव | तेजस् | तैजस |
| थ | | | |
| २७ | थावर | स्थावर | स्थावर नामकर्म पृ. ४२ |
| २८ | थावरचउक्क | स्थावरचतुष्क | स्थावर आदि ४ प्रकृतियाँ पृ. ४३ |
| २६, ५१ | थावरदस | स्थावरदशक | स्थावर आदि १० पृ. ४२, ६८ |
| २६, ५० | थिर | स्थिर | स्थिर नामकर्म पृ. ४२, ६८ |
| २८ | थिरछक्क | स्थिरषट्क | स्थिर आदि ६ प्रकृतियाँ ६४ |
| २२ | थी | स्त्री | स्त्री |
| १२ | थीणद्धी | सत्यानद्धि | निद्रा-विशेष पृ. २३ |
| ४९ | थूल | स्थूल | स्थूल मोटा |
| द | | | |
| ५० | दंत | दन्त | दाँत |
| ३६ | दंताली | दन्ताली | दन्ताली |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|------------|---------------|---|
| १३ | दंसण | दर्शन | दर्शन-यथार्थ श्रद्धा. पृ. २४ |
| ९ | दंसणचउ | दर्शनचतुष्क | दर्शनावरणचतुष्क पृ. ११ |
| १४, ५६ | दंसणमोह | दर्शनमोह | दर्शनमोहनीय पृ. २५, ७९ |
| ३, ९ | दंसणावरण | दर्शनावरण | दर्शनावरणकर्म पृ. ६, १९ |
| ५५ | दढधम्म | दृढधर्मन् | धर्म में दृढ |
| ५८ | दाणरुइ | दानरुचि | दान करने की रुचिवाला |
| ५५ | दाण | दान | त्याग देना |
| २२ | दाह | दाह | जलना |
| १० | दिट्ठि | दृष्टि | आंख |
| २ | दिट्ठन्त | दृष्टान्त | उदाहरण |
| १२ | दिण | दिन | दिवस |
| ३, २९, ३७, | दु | द्वि | दो |
| ११ | दुक्ख | दुःख | दुःख |
| ३०, ४३ | दुग | द्विक | दो |
| ४२ | दुगंध | दुर्गन्ध | दुरभिगन्धनाम कर्म |
| ४४ | दुद्धरिस | दुर्धर्ष | अजेय |
| २७ | दुभग | दुर्भग | दुर्भग नामकर्म पृ. ४२ |
| ४१ | दुरंहि | दुरभि | दुरभिगन्ध नामकर्म पृ. ५८ |
| १३, १७, ५७ | दुविह | द्विविध | दो प्रकार का |
| ३२ | दुवीस | द्वाविंशति | बाईस |
| २७ | दुस्सर | दुःस्वर | दुःस्व नामकर्म पृ. ४२ |
| १२, ५२ | दुहा | द्विधा | दो प्रकार से |
| ४६ | देव | देव | देवता |
| ५६ | देवदव्व | देवद्रव्य | देव के उद्देश्य से इकट्ठा किया हुआ द्रव्य |
| ६१ | देविंदसूरि | देवेन्द्रसूरि | देवेन्द्रसूरि |
| ५६ | देसणा | देशना | उपदेश |
| १६ | दोस | द्वेष | अप्रीति |

घ

| | | |
|----|-------|----------------------------|
| ५ | धारणा | धारणा मतिज्ञान-विशेष पृ. ९ |
| १२ | धारा | धारा धार |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|-----------|--------------|--|
| | | न | |
| १६, ४५, | न | न | निषेध |
| ४७, ५३ | | | |
| २२ | नगर | नगर | शहर |
| २२ | नपु | नपुंसक | नपुंसक, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों के लक्षण हैं |
| ४ | नयण | नेत्र | आँख |
| १८, २३, ३३ | नर | नर | मनुष्यगति |
| २२ | नर | नर | पुरुष-नरद |
| १३ | नरअ | नरक | अधोलोक, जिसमें दुःख अधिक है |
| १८, २३ | नरय | नरक | नरकगति |
| ५७ | नरयाउ | नरकायुस् | नरक आयु |
| ३, १७, ३७ | नव | नवन् | नव |
| ३, ४ | नाण | ज्ञान | विशेष उपयोग |
| ५० | नाभि | नाभि | नाभि |
| ३, २७ | नाम | नामन् | नामकर्म पृ. ६, ४२ |
| २३ | नामकम्म | नामकर्मन् | कर्म विशेष पृ. ३८ |
| ३८ | नाराय | नाराच | संहनन-विशेष पृ. ५४ |
| ३९ | नाराय | नाराच | दोनों ओर मर्कट-बन्ध-रूप अस्थि रचना |
| १६ | नालियरदीव | नालिकेरद्वीप | द्वीप-विशेष पृ. २९ |
| ५६ | नासणा | नाशना | विनाश |
| ४० | निग्गोह | न्यग्रोध | न्यग्रोधपरिमण्डलसंहनन पृ. ५६ |
| ६० | निच्च | नित्य | सदा |
| ३८ | निचअ | निचय | रचना |
| १५ | निज्जरणा | निर्जरणा | निर्जरा-तत्त्व पृ. २७ |
| ११ | निद्दा | निद्रा | निद्रा पृ. २२ |
| ५४ | निण्हव | निण्हव | अपलाप-छिपाना |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|---------|---------|---------------------------|
| ३५ | निबद्ध | निबद्ध | बँधा हुआ |
| ४८ | निम्माण | निर्माण | निर्माण नामकर्म पृ. ६४ |
| २५ | निमिण | निर्माण | निर्माण नामकर्म पृ. ४१ |
| ४३, ४९ | निय | निज | अपना |
| ४८ | नियमण | नियमन | संगठन-व्यवस्थापन |
| ३३ | निरय | निरय | नरक |
| ५२, ६० | नीय | नीच | नीच गोत्र पृ. ७, ८३ |
| २, ४० | नील | नील | नीलवर्ण नामकर्म पृ. ३, ५६ |
| ३५ | नेय | ज्ञेय | जानने योग्य |
| १७ | नोकसाय | नोकषाय | मोहनीय कर्म-विशेष पृ. ३१ |

प

| | | | |
|--------|------------|--------------|---------------------------------|
| २२ | पइ | प्रति | तरफ |
| २ | पएस | प्रदेश | प्रदेशबन्ध, पृ. ३ |
| ५४ | पओस | प्रद्वेष | अप्रीति |
| ३० | पंच | पञ्चन् | पाँच |
| ३६ | पंचविह | पञ्चविध | पाँच प्रकार का |
| ६१ | (प्र+कृ) | प्रकरोति | करता है |
| | पकुणइ | | |
| १८ | पक्खग | पक्षग | पक्षगामी-पक्ष-पर्यन्त स्थायी |
| १७ | पच्चक्खाण | प्रत्याख्यान | प्रत्याख्यानावरण-कषाय पृ. ३१ |
| २६, ४९ | पज्जत | पर्याप्त | पर्याप्त नामकर्म पृ. ४२, ६५ |
| ४९ | पज्जत्ति | पर्याप्ति | पुद्गलोपचय-जन्य शक्ति- विशेष |
| ७ | पज्जय | पर्याय | पर्यायश्रुत पृ. १४ |
| ३९ | पट्ट | पट्ट | बेठन |
| ५३ | पडिकूल | प्रतिकूल | विमुख-विरुद्ध |
| ५६ | पडिणीय | प्रत्यनीक | अहितेच्छु |
| ५४ | पडिणीयत्तण | प्रत्यनीकत्व | शत्रुता |
| ११ | पडिबोह | प्रतिबोध | जागना |
| ७ | पडिवत्ति | प्रतिपत्ति | प्रतिपत्ति-श्रुत पृ. १४ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|--------------|--------------|------------------------------------|
| | ८ पडिवाइ | प्रतिपाति | प्रतिपाति अवधिज्ञान पृ. १६ |
| | ९ पड | पट | पट्टी |
| | ३४ पढम | प्रथम | पहला |
| ३, ३०, ३३ | पण | पञ्चन् | पाँच |
| | ९ पणनिद्रा | पञ्चनिद्रा | निद्रा आदि ५ दर्शनावरणीय |
| | ३ पणविह | पञ्चविध | पाँच प्रकार का |
| | २१ पणसठ्ठि | पञ्चषष्टि | पैंसठ |
| | ४९ पणिंदिय | पञ्चेन्द्रिय | पाँच इन्द्रिय-सम्पन्न |
| | २५ पत्तेय | प्रत्येक | अवान्तर भेद-रहित प्रकृति |
| २६, ५० | पत्तेय | प्रत्येक | प्रत्येक नाम कर्म पृ. ४२, ६८ |
| | ५० पत्तेयतणु | प्रत्येकतनु | जिसका स्वामी एक जीव है वैसी देह |
| | ३१ परन | पञ्चदशन् | पन्दरह |
| | ३४ पमुह | प्रमुख | प्रभृति-वगैरह |
| | ७ पय | पद | पदश्रुत पृ. १४ |
| | २ पयइ | प्रकृति | प्रकृति-बन्ध पृ. ३ |
| | ५८ पयइ | प्रकृति | स्वभाव |
| २८, २९ | पयडि | प्रकृति | कर्म-प्रकृति |
| | ११ पयलपयला | प्रचलाप्रचला | निद्रा-विशेष पृ. २२ |
| | २१ पयला | प्रचला | निद्रा-विशेष पृ. २२ |
| | ४६ पयासरूव | प्रकाशरूप | प्रकाशमान स्वरूप |
| | ४४ पर | पर | अन्य |
| २५, ४४ | परघाय | पराघात | पराघातनाम कर्म. पृ. ४१, ६१ |
| | ६१ परायण | परायण | तत्पर |
| | ५७ परिग्गह | परिग्रह | आसक्ति |
| | ४४ पाणि | प्राणिन् | जीव |
| | १५ पाव | पाप | पाप-तत्त्व पृ. २७ |
| | ७ पाहुड | प्राभृत | प्राभृत श्रुत पृ. २३ |
| | ७ पाहुडपाहुड | प्राभृत | प्राभृत प्राभृत पृ. १४ |
| ४४, ५७ | पि | अपि | भी |
| | ३४ पिट्ठि | पृष्ठ | पीठ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|----------|--------------|----------------------------|
| २५ | पिंडयपडि | पिण्डप्रकृति | अवान्तरभेद वाली प्रकृति |
| ३५, ३६ | पुग्गल | पुद्गल | रूप, रस आदि गुणवाला पदार्थ |
| ४७ | पुज्ज | पूज्य | पूजनीय |
| १९ | पुढवि | पृथिवी | जमीन |
| ५ | पुण्ण | पुण्य | पुण्य-तत्त्व पृ. ९ |
| २ | पुरिस | पुरुष | मरद |
| ७ | पुव्व | पूर्व | पूर्वश्रुत पृ. १४ |
| ४३ | पुव्वी | पूर्वी | आनुपूर्वी |
| ६१ | पूया | पूजा | पूजा—बहुमान |

फ

| | | | |
|--------|---------------|--------|---------------------------|
| २४, ४१ | फास | स्पर्श | स्पर्शनाम कर्म पृ. ३९, ५८ |
| २२ | फुंफुमा (दे.) | | करीषाग्नि-कण्डे की आग |

ब

| | | | |
|------------|---------|-----------------|--------------------------|
| १५ | बंध | बन्ध | बन्ध-तत्त्व पृ. २७ |
| ३२ | बंध | बन्ध | बन्ध-प्रकरण |
| २४, ३१, ३५ | बेधण | बन्धन | बन्धन नामकर्म |
| ३६, ३७ | | | पृ. ३९, ४५, ५१-५३ |
| ३५ | वज्झंतय | बध्यमानक | वर्तमान में बँधनेवाला |
| १२ | बल | बल | बल |
| ५७ | बंधइ | बन्ध्-बध्नाति | बाँधता है |
| ४४ | बलि | बलिन् | बलवान् |
| १५ | बहुभेय | बहुभेद | बहुत प्रकार का |
| २६, ४९ | बायर | बादर | बादर नामकर्म पृ. ४२, ६५ |
| ४९ | बायर | बादर | स्थूल |
| २३ | बायाल | द्विचत्वारिंशत् | बयालीस |
| ५९ | बालतव | बालतपस् | अज्ञानपूर्वक तप करनेवाला |
| ३४ | बाहु | बाहु | भुजा |
| ४९ | बि | द्वि | दो |
| ३३ | बिय | द्वक | दो |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|------------|-----------|-------------------------------|
| | | भ | |
| १ | भण्णए | भण-भण्यत् | कहा जाता है |
| ६० | भत्त | भक्त | सेवक |
| २१ | भय | भय | डर |
| ५२ | भुंभल | भुंभल | मद्य-पात्र |
| ५२ | भोग | भोग | भोगना |
| | | म | |
| ४ | मइ | मति | मतिज्ञान पृ. ७ |
| ४ | मइणाण | मतिज्ञान | मतिज्ञान पृ. ७ |
| ३९ | मक्कडबन्ध | मर्कटबन्ध | मर्कट के समान बन्ध |
| ५६ | मग्ग | मार्ग | राह-परम्परा |
| १३ | मज्ज | मद्य | शराब |
| ५८ | मज्झिमगुण | मध्यमगुण | मध्यमगुणी |
| ४ | मण | मनस् | मनःपर्यायज्ञान पृ. ७ |
| ४, ५७ | मण | मनस् | मन-आभ्यन्तर-इन्द्रिय |
| ८ | मणनाण | मनोज्ञान | मनःपर्यायज्ञान पृ. १६ |
| १६ | मणु | मनुज | मनुष्य |
| १३ | मणुअ | मनुज | मनुष्य |
| ६० | भय | मद | घमंड |
| ५७ | महारंभ | महारम्भ | हिंसा जनक महती प्रवृत्ति |
| १२ | महु | मधु | शहद |
| ४१, ५१ | महुर | मधुर | मधुर रसनाम कर्म पृ. ५८, ६८ |
| ५१ | महुर | मधुर | मीठा |
| १९ | माण | मान | अभिमान |
| ५ | माणस | मानस | मन |
| २० | माया | माया | कपट |
| ४१ | मिउ | मृदु | मृदुस्पर्शनामकर्म पृ. ५८ |
| २० | मिंढ (दे.) | () | मेष-भेड़ |
| १४ | मिच्छत्त | मिथ्यात्व | मिथ्यात्वमोहनीय पृ. २५ |
| १६ | मिच्छा | मिथ्या | मिथ्यात्वमोहनीय पृ. २९ |
| १४, १६ | मीस | मिश्र | मिश्रमोहनीय पृ. २५, २९ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|-----------|------------|------------------------------------|
| ३२ | मीसय | मिश्रक | मिश्र मोहनीय पृ. ४६ |
| १५ | मुक्ख | मोक्ष | मोक्षतत्त्व पृ. २७ |
| ५६ | मुणि | मुनि | साधु |
| २ | मूलपगइ | मूलप्रकृति | मुख्य-प्रकृति |
| २ | मोयग | मोदक | लड्डू |
| ३, १३ | मोह | मोह | मोहनीयकर्म पृ. ६, २४ |
| १३ | मोहणीय | मोहनीय | मोहनीयकर्म पृ. ९ |
| | | य | |
| ७, १७, ३९, | य | च | और |
| ५७ | | | |
| ९, ३५, ३६ | जं | यत् | जो |
| ४५ | जं | यत् | क्योंकि |
| २१ | जस्स | यस्य | जिसका |
| १ | जेणं | येन | जिस कारण |
| १५ | जेणं | येन | जिससे |
| | | र | |
| ५७ | रअ | रत | आसक्त |
| २१ | रइ | रति | प्रेम, अनुराग |
| ४५ | रविबिंब | रविबिम्ब | सूर्य मण्डल |
| २ | रस | रस | रस |
| २४, ४१ | रस | रस | रस नामकर्म पृ. ५९, ५८ |
| ६० | रहिअ | रहित | त्यक्त |
| १९ | राई | राजी | रेखा, लकीर |
| १६ | राग | राग | प्रीति, ममता |
| ५३ | राय | राजन् | राजा |
| ८ | रिउमइ | ऋजुमति | मनःपर्यायज्ञान-विशेष पृ. १६ |
| २९ | रिसह | ऋषभ | पट्ट बैठन |
| ३८ | रिसहनाराय | ऋषभनाराच | ऋषभनाराच संहनन पृ. ५४ |
| ६० | रुइ | रुचि | अभिलाष |
| ४१, ४२ | रुक्ख | रुक्ष | रूक्ष स्पर्श नामकर्म पृ. ५८, ५९ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|---------------------|--------------------|-------------------------------------|
| ५७ | रुद् | रुद्र | क्रूर |
| १९ | रेणु | रेणु | धूल |
| | | ल | |
| ४८ | लंबिगा | लम्बिका | प्रतिजिह्वा पड़जीभ |
| ४१ | लघु | लघु | लघुस्पर्शनामकर्म, पृ. ५८ |
| ४९ | लब्धि | लब्धि | लब्धि—शक्ति-विशेष |
| ४७ | लहुय | लघुक | हलका |
| ५२ | लाभ | लाभ | प्राप्ति |
| १२ | लित्त | लिप्त | लगा हुआ |
| ६१ | लिहिअ | लिख्-लिखित | लिखा हुआ |
| १२ | लिगहण | लेहन | चाटना |
| ५१ | लोय | लोक | प्राणिवर्ग |
| २० | लोह | लोभ | ममता |
| ४० | लोहिय | लोहित | लोहितवर्ण नामकर्म पृ. ५६ |
| | | व | |
| | ५ व | वा | अथवा |
| १२, १३, ३६ | व | इव | जैसा |
| ९, ४३, ४६ | व्व | इव | जैसा |
| | ४ वंजणवग्ग | व्यञ्जनावग्रह | मतिज्ञान विशेष पृ. ७ |
| | १ वंदिय | (वंद) वन्दित्वा | वंदन करके |
| २० | वंसिमूल | वंशमूल | बाँस की जड़ |
| ४३ | वक्क | वक्र | विग्रह टेढ़ा |
| | १ (वच्) वुच्छं | वक्ष्ये | कहूँगा |
| ३९ | वज्ज | वज्र | खीला |
| ३८ | वज्जरिसहय- नाराय | वज्र ऋषभ- नाराच | वज्रऋषभनाराचसंहनन पृ. ५४ |
| | ८ वड्डमाणय | वर्द्धमानक | अवधिज्ञान विशेष पृ. १६ |
| २४ | वण्ण | वर्ण | वर्णनाम कर्म पृ. ३९ |
| २९, ३१ | वण्णचउ | वर्णचतुष्क | वर्ण आदि ४ प्रकृतियाँ पृ. ४४, ४५ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|-----------|-----------|------------------------------------|
| ७ | वत्थु | वस्तु | वस्तुश्रुत पृ. १४ |
| २४ | वन्न | वर्ण | वर्ण नामकर्म पृ. ३९ |
| ५५ | वय | व्रत | नियम |
| १८ | वरिस | वर्ष | वरस, साल |
| ४३ | वस | वृष | बैल |
| ४४ | वस | वश | अधीनता |
| २१, ३१ | वा | वा | अथवा |
| ४० | वामण | वामन | वामनसंस्थाननामक पृ. ५६ |
| ६, ४७, ५३ | वि | अपि | भी |
| ३७ | विउव्व | वैक्रिय | वैक्रिय शरीर |
| ३३, ३७ | विउव्व | वैक्रिय | वैक्रिय शरीर नामकर्म पृ. ४८, ५३ |
| ५२, ५३, ६१ | विग्घ | विघ्न | अन्तरायकर्म पृ. ७१, ७२, ८४ |
| ६१ | विग्घकर | विघ्नकर | प्रतिबन्ध करनेवाला |
| ५५ | विजय | विजय | जय |
| ४ | विण | विना | बिना-सिवाय |
| ९ | वित्ति | वेत्रिन् | दरवान |
| २८, २९ | विभासा | विभाषा | परिभाषा-संकेत |
| ८ | विमलमइ | विमलमतिं | मनः पर्यायज्ञान विशेष पृ. १६ |
| ५१ | विवज्जत्थ | विपर्यस्त | विपरीत |
| ५५ | विवज्जय | विपर्यव | उल्टा |
| १६ | विवरीय | विपरीत | विपरीत-उल्टा |
| ५७ | विवस | विवश | अधीन |
| २३ | विह | विध | प्रकार |
| २४, ४३ | विहगगइ | विहायोगति | विहायोगति नामकर्म |
| ५७ | विसय | विषय | भोग |
| ८ | विहा | विधा | प्रकार |
| १ | वीरजिण | वीरजिन | श्री महावीर तीर्थंकर |
| ५२ | वीरिअ | वीर्य | पराक्रम |
| २७, ३२ | वीस | वशिति | बीस |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|-----------|------------|----------------------------|
| ५ | वीसहा | विंशतिधा | बीस प्रकार का |
| २२ | वेअ | वेद | वेदमोहनीय पृ. ३७ |
| ३ | वेय | वेथ | वेदनीयकर्म पृ. ६ |
| १२ | वेयणिय | वेदनीय | वेदनीयकर्म पृ. २३ |
| स | | | |
| २८, २९ | संखा | संख्या | गिनती |
| ५६ | संघ | सङ्घ | साधु आदि चतुर्विध संघ |
| २४ | संघयण | संहनन | संहननामकर्म पृ. ३९ |
| ३८ | संघयण | संहनन | हाड़ों की रचना |
| ७ | संघाय | सङ्घात | श्रुतज्ञान-विशेष पृ. १४ |
| ३१, ३६ | संघाय | सङ्घात | संघातनामकर्म पृ. ४५, ५२ |
| २४ | संघायण | सङ्घातन | संघातननामकर्म पृ. ३९ |
| १७ | संजलण | संज्वलन | संज्वलन कषाय पृ. ३१ |
| २४, ४० | संठाण | संस्थान | संस्थाननामकर्म पृ. ३९, ५६ |
| ३१ | संत | सत् | सत्ता |
| ६ | संनि | संज्ञिन् | मनवाला पृ. ११ |
| ३५ | संबंध | सम्बन्ध | संयोग |
| ६ | सम्म | सम्यच् | सम्यग्दृष्टि |
| १५ | संवर | संवर | संवर तत्त्व पृ. २७ |
| ३६ | (सं×हन्) | | |
| | संघायइ | संघातयति | इकट्टा करता है |
| ३७ | सग | स्वक | स्वीय अपना |
| ५८ | सढ | शठ | धूर्त |
| ४८ | सतणु | स्वतनु | अपना शरीर |
| ६ | सत्त | सप्त | सात |
| २३, ३२ | सत्तट्टि | सप्तषष्टि | सड़सठ |
| ३२ | सत्ता | सत्ता | कर्म का स्वरूप से अप्रच्यव |
| २१ | सनिमित्त | सनिमित्त | सहेतुक |
| ६ | सपज्जवसिय | सपर्यवसित | अन्त सहित |
| ६ | सपडिवक्ख | सप्रतिपक्ष | विरोधि सहित |
| १४, ३२ | सम्म | सम्यक् | सम्यक्त्वमोहनीय पृ. २५, ४६ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|----------|-----------|--------------------------|
| ९, २०, २२, | सम | सम | तुल्य |
| २३, ३५, ४८ | | | |
| ४० | समचउरंस | समचतुरस्र | समचतुरस्रसंस्थान पृ. ५६ |
| १ | समासओ | समासतः | संक्षेप से |
| ३२ | सय | शत | सौ |
| ५९ | सरल | सरल | निष्कपट |
| १९, २३ | सरिस | सदृश | समान |
| ३३ | सरीर | शरीर | शरीर नामकर्म पृ. ४८ |
| ५०, ५१ | सव्व | सर्व | सब |
| ७ | ससमास | ससमास | समास सहित |
| १८ | सव्वविरइ | सर्वविरति | सर्वविरतिचारित्र |
| ५८ | ससल्ल | सशल्य | माया आदि शल्यसहित |
| ३७ | सहिय | सहित | युक्त |
| ४० | साइ | सादि | सादि संस्थान नाम पृ. ५६ |
| ६ | साइय | सादिक | आदि सहित |
| १० | सामन्न | सामान्य | निराकार |
| ३१ | सामन्न | सामान्य | अवान्तर भेद रहित |
| २० | सामाण | समान | समान |
| १३, ५५ | साय | सात | सातावेदनीय पृ. २४, ७७ |
| २७ | साहारण | साधारण | साधारण नाम पृ. ४२ |
| २० | सिंग | शृङ्ग | सींग |
| ४१ | सिणिद्ध | स्निग्ध | स्निग्धस्पर्शनाम पृ. ५८ |
| ४० | सिय | सित | सितवर्णनाम पृ. ५६ |
| ३४, ५० | सिर | शिरस | मस्तक |
| १ | सिरि | श्री | लक्ष्मी |
| ४१ | सीअ | शीत | शीतस्पर्शनाम कर्म पृ. ५८ |
| ४२ | सीय | शीत | शीतस्पर्शनाम कर्म पृ. ५९ |
| १४ | सुद्ध | शुद्ध | शुद्ध |
| ४८ | सुत्तहार | सूत्रधार | बढ़ई |
| २६ | सुभ | शुभ | शुभ नामकर्म पृ. ४२ |
| ४२, ४३ | सुभ | शुभ | सुन्दर अच्छा |
| २६, ५० | सुभग | सुभग | सुभग नाम कर्म पृ. ४२, ६८ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------|-------------|--------------|------------------------------|
| २८ | सुभगतिग | सुभगत्रिक | सुभग आदि तीन प्रकृतियाँ |
| ४, ५ | सुय | श्रुत | श्रुतज्ञान पृ. ७, ९ |
| १३, २३, ३३ | सुर | सुर | देव |
| ४१ | सुरहि | सुरभि | सुरभिग्रन्थ नाम पृ. ५८ |
| ५९ | सुराउ | सुरायुस् | देवायु |
| २६, ५१ | सुसर | सुस्वर | सुस्वरनामकर्म पृ. ४२, ६८ |
| ५० | सुह | शुभ | शुभनामकर्म पृ. ६८ |
| ५१ | सुह | सुख | सुखप्रद |
| १० | सुह | सुख | सुख |
| ५९ | सुहनाम | शुभनामन् | शुभ नामकर्म |
| २८ | सुहुमतिग | सूक्ष्मत्रिक | सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण |
| २७ | सेयर | सेतर | सप्रतिपक्ष |
| १८ | स्नेलत्थंभो | शैलस्तम्भ | पत्थर का खम्बा |
| १०, ३४, ४२ | सेस | शेष | बाकी |
| २१ | सोग | शोक | शोक-उदासीनता |
| १७ | सोलस | षोडशन् | सोलह |
| | | ह | |
| २३ | हडि | हडि | बेड़ी |
| ५६ | हरण | हरण | छीनना |
| ४० | हलिद् | हरिद्र | हारिद्रवर्णनाम कर्म पृ. ५६ |
| २० | हलिदा | हरिद्रा | हल्दी |
| १४, २२ | हवइ | भू-भवति | है-होता है |
| ४४ | हवेइ | भू-भवति | होता है |
| २१ | हास | हास्य | हँसी |
| २१, ५७ | हास्य | हास्य | हास्यमोहनीय पृ. ३५, ८० |
| ६१ | हिंसा | हिंसा | वधु |
| ४० | हुंड | हुण्ड | हुण्ड संस्थान पृ. ५६ |
| १ | हेउ | हेतु | कारण |
| २१, ४४ | होइ | भू-भवति | होता है |

कोष के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ

१. जिस शब्द के अर्थ के साथ पृ. नं. दिया गया है वहाँ समझना कि उस शब्द का विशेष अर्थ है और वह उस नं. के पृष्ठ पर लिखा हुआ है।
२. जिस शब्द के साथ (दे.) अक्षर है वहाँ समझना चाहिए कि वह शब्द देशीय प्राकृत है।
३. जिस प्राकृत क्रियापद के साथ संस्कृत धातु दिया है, वहाँ समझना कि वह प्राकृत रूप संस्कृत धातु के प्राकृत आदेश से बना है।
४. जिस जगह प्राकृत क्रियापद की छाया के साथ संस्कृत प्राकृत निर्दिष्ट की है, वहाँ समझना कि प्राकृत क्रियापद संस्कृत क्रियापद ऊपर से ही बना है; आदेश से नहीं।
५. तदादि सर्वनाम के प्राकृत रूप सविभक्तिक ही दिये हैं। साथ ही उनकी मूल प्रकृति का इसलिये उल्लेख किया है कि ये रूप अमुक प्रकृति के हैं यह सहज में जाना जा सके।

॥इति पहले कर्मग्रन्थ का हिन्दी-अर्थ-सहित कोष॥

पहिले कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

सिरिवीरजिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं।
 कीरइ जिण्ण हेउहिं, जेणंतो भन्नए कम्मं ॥१॥
 पयइठिइरसपएसा, तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।
 मूलपगइट्ठउत्तर पगई अडवन्नसयभेयं ॥२॥
 इह नागदंसणावरण-वेयमोहाउनामगोयाणि।
 विग्घं च पणनवदुअ-ट्टवीसचउतिसयदुपणविहं ॥३॥
 मइसुयओहीमणके-वलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं।
 वंजणवग्गहचउहा, मणनयण विणिंदियचउक्का ॥४॥
 अत्थुग्गहईहावा-यघारणा करणमाणसेहिं छहा।
 इय अट्टवीसभेयं, चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥
 अक्खरसत्रीसम्मं, साइअं खलु सपज्जवसियं च।
 गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥६॥
 पज्जयअक्खरपयसं-घाया पडिवत्ति तह य अणुओगो।
 पाहुडपाहुडपाहुड-वत्थूपुव्वा य ससमासा ॥७॥
 अणुगामिवट्ठामाणय-पडिवाईयरविहा छहा ओही।
 रिउमइ विमल १मई मण-नाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥
 एसिं जं आवरणं, पडु व्व चक्खुस्स तं तयावरणं।
 दंसणचउ पण निहा, वित्तिसमं दंसणावरणं ॥९॥
 चक्खूदिट्ठिअचक्खू-सेसिंदियओहिकेवलेहिं च।
 दंसणमिह सामन्नं, तस्सावरणं तयं चउहा ॥१०॥
 सुहपडिबोहा निहा, निहानिहा य दुक्खपडिबोहा।

१. “विउल” इत्यपि पाठः।

पयला ठिओवविट्टु—स्स पयलपयला उ चंकमओ ॥११॥
 दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला ।
 महुलित्तखग्गधारा-लिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥
 ओसन्नं सुरमणुए, सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
 मज्झं व मोहणीयं, दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥
 दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
 सुद्ध अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥
 जिअअजिअपुण्णपावा-सवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा ।
 जेणं सद्दहइ तयं, सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥१५॥
 मीसा न रागदोसो, जिणधम्मो अंतमुहु जहा अत्रे ।
 नालियरदीवमणुणो, मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥१६॥
 सोलस कसाय नव नो-कसाय दुविहं चरित्तमोहणीयं ।
 अणअप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥
 जाजीववस्सिचउमा-सपक्खगा नरयतिरियनरअमरा ।
 सम्माणुसव्वविरई-अहखायचरित्तघायकरा ॥१८॥
 जलरेणुपुढविपव्वय-राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
 तिणिसलयाकट्टट्टिय-सेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥
 मायावलेहिगोमु-त्तिमिंढसिंघणवंसिमूलसमा ।
 लोहो हलिद्वखंजण-कद्दमकिमिराग^१सामाणो ॥२०॥
 जस्सुदया होइ जिए, हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
 सनिमित्तमन्नहा वा, तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥
 पुरिसित्थित्तदुभयं पइ, अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ ।
 थीनरनपुवेउदओ, फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥२२॥

१. 'सारित्थो' इत्यपि पाठः।

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं।
 बायालतिनवइविहं, तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥
 गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा।
 संठाणवन्नगंधर-सफासअणुपुव्विविहगगई ॥२४॥
 पिंडपयडित्ति चउदस, परघाउस्सासआयवुज्जोयं।
 अगुरुलहुतित्थनिमिणो-वघायमिय अट्टपत्तेया ॥२५॥
 तसवायरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च।
 सुसराइज्जजसं तस-दसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥
 थावरसुहुमअपज्जं, साहारणअथिर असुभदुभगाणि।
 दुस्सरणाइज्जाजस-मिय नामे सेयरा वीसं ॥२७॥
 तसचउथिरछक्कं अथि-रछक्क सुहुमतिगथावरचउक्कं।
 सुभगतिगाइविभासा,^१ तदाइसंखाहि पयडीहिं ॥२८॥
 वण्णचउ अगुरुलहुचउ, तसाइ-दुति-चउर-छक्कमिच्चाइ।
 इअ अन्नावि विभासा, तथाइसंखाहिं पयडीहिं ॥२९॥
 गइयाईण उ कमसो, चउपणपणतिपणपंचछक्कं।
 पणदुगपणट्टुचउदुग, इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥३०॥
 अडवीसजुया तिनवइ, संते वा पनरबंधणे तिसयं।
 बंधणसंघायगहो, तणूसु सामण्णवण्णचऊ ॥३१॥
 इय सत्तट्ठी बंधो-दए य न य सम्ममीसया बंधे।
 बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसट्टुवण्णसयं ॥३२॥
 निरयतिरिनरसुरगई, इगबियतियचउपणिंदिजाईओ।
 ओरालविउव्वाहा-रगतेयकम्मण पण सरीरा ॥३३॥

१. "तयाइ" इत्यपि पाठः।

बाहूरु पिट्टि सिर उर, उयरंग उवंग अंगुली पमुहा ।
 सेसा अंगोवंगा, पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥
 उरलाइपुग्गलाणं, निबद्धबज्झंतयाण संबंधं ।
 जं कुणइ जउसमं तं, ^१उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥
 जं संघायइ उरला-इपुग्गले तणगणं व दंताली ।
 तं संघायं बंधण-मिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥
 ओरालविउव्वाहा-रयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
 नवबंधणाणि इयरदु-सहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥
 सङ्खयणमद्विनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं ।
 तह × रिसहं नारायं, नारायं अब्दनारायं ॥३८॥
 कीलिय छेवट्टं इह, रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
 उभओ मक्कडबंधो, नारायं इममुरालंगे ॥३९॥
 समचउरंसं निग्गो-हसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं ।
 संठाणा वण्णा किण्ह-नीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥
 सुरिहिदुरही रसा पण, तित्तकडुकसायअंबिला महरा ।
 फासा^२गुरुलहुमिउखर-सीउण्हसिणिद्धरुक्खट्टा ॥४१॥
 नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
 सीयं च असुहनवगं, इक्करसगं सुभं सेसं ॥४२॥
 चउहगइव्वणुपुव्वी, गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
 पुव्वी उदओ वक्के, सुहअसुहवसुट्टविहगगई ।४३॥
 परघाउदया पाणी, परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
 ऊससणलद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसासनामवसा ॥४४॥

१. “बंधणमुरलाई तणुनामा” इत्यपि पाठान्तरम्। × “रिसहनारायं” इत्यपि पाठः।

२. “गुरुलघु” इत्यपि पाठः।

रविबिंबे उ जियंगं, तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
 जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥
 अणुसिणपयासरूवं, जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
 जइदेवुत्तरविक्कय-जोइसखज्जोयमाइ व्व ॥४६॥
 अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
 तित्थेण तिहुयणस्स वि, पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥
 अंगोवंगनियमणं, निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
 उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४८॥
 बित्तिचउपणिंदिय तसा, भायरओ बायरा जिया थूला ।
 नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणोहिं ॥४९॥
 पत्तेय तणू पत्ते-उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं ।
 नाभुवरि सिराइ सुहं, सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥
 सुसरा महरसुहइणुणी, आइज्जा सव्वल्लोयगिज्झवओ ।
 जसओ जसकित्तीओ, थावरदसंगं विवज्जत्थं ॥५१॥
 गोयं दुहुच्चनीयं, कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं ।
 विग्घं दाणे लाभे, भोगुवभोगोसु वीरिए य ॥५२॥
 सिरिहरियसमं एयं, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
 न कुणइ दाणाईयं, एवं विग्घेण जीवो वि ॥५३॥
 पडिणीयत्तणनिणहव-उवघायपओसअंतराएणं ।
 अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥५४॥
 गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
 दढधम्माई अच्चइ, सायमसायं विवज्जयओ ॥५५॥
 उमग्गदेसणामग्ग-नासणादेवदव्वहरणेहिं ।

दंसणमोहं जिणमुणि चेइयसंघाइपडिणीओ ॥५६॥
 दुविहं पि चरणमोहं, कसायहासाइविसयविवसमणो ।
 बंधइ निरयाउ महा-रंभपरिग्गइरओ रुदो ॥५७॥
 तिरियाउ गूढहियओ, सढो ससल्लो तथा मणुस्साउ।
 पयईह तणुकसाओ, दाणरुई मज्झिममुणो य ॥५८॥
 अविरयमाइ सुराउं, बालतवोकामनिज्जरो जयइ ।
 सरलो अगारविल्लो, सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५९॥
 गुणपेही मयरहियो, अज्जयणज्झावणारुई निच्चं ।
 पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्चं नीयं इयरहा उ ॥६०॥
 जिणपूयाविग्घकरो, हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ॥
 इय कम्मविवागोऽयं, लिहियो देविंदसूरीहिं ॥६१॥

*

श्वेताम्बरीय कर्म-विषयक-ग्रन्थ

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्ता | रचना-समय |
|----------------------------|-----------------------------|-----------------------|------------------------------|---|
| १. | कर्मप्रकृति | गा. ४७६ | शिवशर्मसूरि | अनुमान विक्रम |
| | कर्मचूर्णी | श्लो. ७००० | अज्ञात | अज्ञात, किंतु वि. १२ |
| | कर्मचूर्णी | श्लो. १९२० | मुनिचन्द्रसूरि | वि. की १२वा |
| | टिप्पन | | | शताब्दी |
| | कर्मवृत्ति | श्लो. ८००० | मलयगिरि | वि.की. १२-१३वीं |
| | कर्मवृत्ति | श्लो. १३००० | श्रीयशोविजयो- पाध्याय | वि.की. १८वीं |
| २. | पञ्चसंग्रह | गा. ९६३ | श्रीचन्द्रर्षिमहत्तर | अनु.वि. की ७वीं |
| | पञ्चस्वोपज्ञवृत्ति | श्लो. ९००० | श्रीचन्द्रर्षिमहत्तर | अनु.वि.की.७वीं |
| | पञ्चवृहद्वृत्ति | श्लो. १८८५० | मलयगिरिसूरि | वि.की १२-१३वीं श. |
| | पञ्चदीपक | श्लो. २५०० | जिनेश्वरसूरि शिष्य वामदेव | अज्ञात |
| ३. | प्रार्थान छह कर्म ग्रन्थ | गा. ५६७ | | |
| | १. कर्मविपाक | गा. १६८ | गर्गर्षि | वि. की. १०वी. श. |
| | कर्मवृत्ति | श्लो. ९२२ | परमानन्दसूरि | वि.की १२-१३वीं श. |
| | कर्मविपाक | श्लो. १००० | अज्ञात | अज्ञात, किन्तु वि. सं. १२७५ के पूर्व |
| | व्याख्या | | | |
| | कर्मटिप्पन | श्लो. ४२० | उदयप्रभसूरि | वि. १३वीं श. |
| | २. कर्मस्तव | गा. ५७ | अज्ञात | अज्ञात |
| | कर्मभाष्य | गा. २४ | अज्ञात | अज्ञात |
| | कर्मभाष्य | गा. ३२ | अज्ञात | अज्ञात |
| | कर्मवृत्ति | श्लो. १०९० | श्रीगोविन्दाचार्य | अज्ञात, किन्तु वि. १२८८ के पूर्व |
| कर्मटिप्पन | श्लो. २९२ | उदयप्रभसूरि | वि. १३वीं श. | |
| ३. बन्धस्वामित्व वृत्ति | गा. ५४ श्लो. ५६० | अज्ञात हरिभद्रसूरि | अज्ञात वि.सं. ११७२ | |

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्ता | रचना-समय |
|------------------|---------------------------------|-----------------------------|------------------|----------------------------|
| | ४. षडशीति | गा. ८६ | जिनवल्लभगणि | वि. १२वीं श. |
| | षडभाष्य | गा. २३ | अज्ञात | अज्ञात |
| | षडभाष्य | गा. ३८ | अज्ञात | अज्ञात |
| | षडवृत्ति | श्लो. ८५० | हरिभद्रसूरि | वि.सं. ११७२ |
| | षडवृत्ति | श्लो. २१४० | मलयगिरिसूरि | वि. १२-१३वीं श. |
| | षडवृत्ति | श्लो. १६३० | यशोभद्रसूरि | वि. की १२वीं श. का अन्त |
| | षडप्रा. वृत्ति | श्लो. ७५० | रामदेव | वि. १२वीं श. |
| | षडविवरण | पत्र ३२ | मेरुवाचक | अज्ञात |
| | षडउद्धार | श्लो. १६०० | अज्ञात | अज्ञात |
| | षडअवचूरि | श्लो. ७०० | अज्ञात | अज्ञात |
| | ५. शतक | गा. १११ | शिवशर्मसूरि | अनु. वि. ५वीं श. |
| | शतक भाष्य | गा. २४ | अज्ञात | अज्ञात |
| | शतक भाष्य | गा. २४ | अज्ञात | अज्ञात |
| | शतक बृहद्भाष्य | श्लो. १४१३ | चक्रेश्वरसूरि | वि.सं. ११७९ |
| शतक चूर्णी | श्लो. २३२२ | अज्ञात | अज्ञात | |
| शतक वृत्ति | श्लो. ३७४० | मलधारी श्री हेमचंद्रसूरि | वि. १२वीं श. | |
| शतक टिप्पन | श्लो. ९७४ | उदयप्रभसूरि | वि. १३वीं श. | |
| शतक अवचूरि | पत्र २५ | गुणरत्नसूरि | वि. १५वीं श. | |
| ६. सप्ततिका | गा. ७५ | चन्द्रर्षिमहत्तर | अनु. वि. ७वीं श. | |
| सप्तभाष्य | गा. १९१ | अभयदेवसूरि | वि. ११-१२वीं श. | |
| सप्तचूर्णी | पत्र १३२ | अज्ञात | अज्ञात | |
| सप्तप्रा. वृत्ति | श्लो. २३०० | चन्द्रर्षिमहत्तर | अनु. ७वीं श. | |
| सप्तवृत्ति | श्लो. ३७८० | मलयगिरिसूरि | वि. १२-१३वीं श. | |
| सप्तभाष्यवृत्ति | श्लो. ४१५० | मेरुतुंगसूरि | वि.सं १४४९ | |
| सप्तटिप्पन | श्लो. ५७४ | रामदेव | वि. की १२वीं श. | |
| सप्तअवचूरि | देखो नव्य कर्म ग्रन्थ की अव. | गुणरत्नसूरि | वि. १५वीं श. | |
| ४. | सार्द्धशतक | गा. १५५ | जिनवल्लभगणि | वि. १२वीं श. |
| | सार्द्धभाष्य | गा. ११० | अज्ञात | अज्ञात |
| | सार्द्धचूर्णि | श्लो. २२०० | मुनिचन्द्रसूरि | वि.सं. ११७० |
| | सार्द्धवृत्ति | श्लो. ३७०० | धनेश्वरसूरि | वि.सं. ११७१ |
| | सार्द्ध प्रा. वृत्ति | दाड १५१ | चक्रेश्वरसूरि | अज्ञात |
| | सार्द्धवृत्तिटिप्पन | श्लो. १४०० | अज्ञात | अज्ञात |

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्ता | रचना-समय |
|--------|---------------------|-------------|-------------------|--------------------|
| ५. | पाँच नवीन | गा. ३१० | श्रीदेवेन्द्रसूरि | वि. की १३-१४वीं |
| श. | कर्मग्रन्थ | | | |
| | पाँच स्वोपज्ञटीका | श्लो. १०१३७ | श्रीदेवेन्द्रसूरि | वि. की २३-२४वीं श. |
| | पाँच अवचूरि | श्लो. २९५८ | मुनिशेखरसूरि | अज्ञात |
| | पाँच अवचूरि | श्लो. ५४०७ | गुणरत्नसूरि | वि. की १५वीं श. |
| | कर्मस्तव | श्लो. १५० | कमलसंयमोपाध्याय | वि.सं. १५५९ |
| | विवरण | | | |
| | छह कर्म.बाला. | श्लो. १७००० | जयसोमसूरि | |
| | वबोध | | | |
| | छह बालावबोध | श्लो. १२००० | मतिचन्द्रजी | |
| | छह बालावबोध | श्लो. १०००० | जीवविजयजी | वि.सं. १८०३ |
| ६. | मनस्थिरीकरण | गा. १६७ | महेन्द्रसूरि | वि.सं. १२८४ |
| | प्रकरण | | | |
| | प्रकरणवृत्ति | श्लो. २३०० | स्वोपज्ञ | वि.सं. १२८४ |
| ७. | संस्कृतचारकर्म | श्लो. ५६९ | जयतिलकसूरि | वि. १५वीं श. |
| | ग्रंथ | | | का आरम्भ |
| ८. | कर्मप्रकृदिद्वा- | गा. ३२ | अज्ञात | अज्ञात |
| | त्रिंशिका | | | |
| ९. | भावप्रकरण | गा. ३० | विजयविमलगणि | वि.सं. १६२३ |
| | भावस्वोपज्ञ वृत्ति | श्लो. ३२५ | विजयविमलागणि | वि.सं. १६२३ |
| १०. | बंधहेतूदयत्रिभंगी | गा. ६५ | हर्षकुलगणि | वि. १६वीं श. |
| | बंधहेतुवृत्ति | श्लो. ११५० | वानर्षिगणि | वि.सं. १६०२ |
| ११. | बन्धोदयसत्ताप्र. | गा. २४ | विजयविमलगणि | वि.सं. १६२३ |
| | बन्धोस्वोपज्ञअवचूरि | श्लो. ३०० | | वि.सं. १६२३ |
| १२. | कर्मसंवेधप्रकरण | श्लो. ४०० | राजहंस-शिष्य | अज्ञात |
| १३. | कर्मसंवेधभंगप्र. | पत्र-१० | अज्ञात | देवचंद्र अज्ञात |

दिगम्बरीय कर्म-विषयक-ग्रन्थ

| संख्या | ग्रन्थ-नाम | परिमाण | कर्ता | रचना-समय |
|--------|--|--|--|---|
| १. | महाकर्मप्रकृति प्राभृत, या षट् खण्डशास्त्र षट् (क) प्रा. टीका षट् (ख) टीका षट् (ग)कर्णा.टीका षट् (घ)सं.टीका षट्(च) व्या.टीका षट्(छ)धव.टीका | श्लो. ३६००० श्लो. १२००० श्लो. ६००० श्लो. ५४००० श्लो. ४८०० श्लो. १४००० श्लो.७२००० | पुष्पदंत तथा भूतबलि कुन्दकुन्दाचार्य शामकुण्डाचार्य तुम्बलूराचार्य समन्तभद्राचार्य वप्पदेवगुरु वीरसेन | अनु. वि. ४-५ वीं श. अज्ञात अज्ञात अज्ञात अज्ञात अज्ञात वि.सं. ९०५ के लगभग |
| २. | कषायप्राभृत ''(क)चूवृत्ति ''(ख)उच्चा.वृत्ति ''(ग)टीका ''(घ)चू.व्याख्या (कर्मप्राभृत सहित) द''(च)प्रा.टीका ''(ज)ज.टीका | गा. २३६ श्लो. ६००० श्लो. १२००० श्लो. ६००० श्लो. ८४००० श्लो. ६०००० श्लो. ६०००० | अनु.वि. ५वीं श. यतिवृषभाचार्य उच्चारणाचार्य शामकुण्डाचार्य तुम्बलूराचार्य वप्पदेवगुरु वीरसेन तथा जिनसेन | अनु.वि.छट्टी श. अज्ञात अज्ञात अज्ञात अज्ञात अज्ञात वि. ९-१०वीं श. |
| ३. | गोम्मतसार ''(क)कर्ना.टीका ''(ख) सं.टीका ''(ग) सं. टीका ''(घ)हिं.टीका | गा. १७०५ | नेमिचंद्र सिं.च. चामुण्डराय केशववर्णी श्रीमदभयचन्द्र टोडरमलजी | वि. ११वीं श. वि. ११वीं श. |
| ४. | लब्धिसार ''(क) सं.टीका ''(ख) हिं.टीका | गा. ६५० | नेमिचंद्र सि.च. केशववर्णी टोडरमलजी | वि. ११वीं श. |
| ५. | सं. क्षपणासार स. | | माधवचन्द्र त्रै. | वि. १०-११ श. |
| ६. | सं. पञ्चसंग्रह | | अमितगति | वि. सं. १०७३ |

परिशिष्ट

‘गुणस्थान’ शब्द का समानार्थक दूसरा शब्द श्वेताम्बर साहित्य में देखने में नहीं आता; परन्तु दिगम्बर-साहित्य में उसके पर्याय शब्द पाये जाते हैं; जैसे— संक्षेप, ओघ, सामान्य और जीवसमास।

(गोम्मटसार जी.गा. ३-१०)

‘ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप, गुणस्थान हैं।’ गुणस्थान की यह व्याख्या श्वेताम्बर ग्रन्थों में देखी जाती है। दिगम्बर ग्रन्थों में उसकी व्याख्या इस प्रकार है—‘दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की उदय आदि अवस्थाओं के समय, जो भाव होते हैं उनसे जीवों का स्वरूप जाना जाता है; इसलिये वे भाव, गुणस्थान कहलाते हैं।’

(गो.जी.गा. ८)

सातवें आदि गुणस्थानों में वेदनीयकर्म की उदीरणा नहीं होती, इससे उन गुणस्थानों में आहारसंज्ञा को गोम्मटसार (जीवकाण्ड गा. १३८) में नहीं माना गया है। परन्तु उक्त गुणस्थानों में उस संज्ञा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती, क्योंकि उन गुणस्थानों में असातावेदनीय के उदय आदि अन्य कारणों का सम्भव है।

देशविरति के ११ भेद गोम्मटसार (जी.गा. ४७६) में हैं; जैसे—१. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. प्रोषध, ५. सचित्तविरति, ६. रात्रिभोजन-विरति, ७. ब्रह्मचर्य, ८. आरम्भविरति, ९. परिग्रहविरति, १०. अनुमतिविरति, और ११. उद्दिष्टविरति। इसमें ‘प्रोषध’ शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदाय-प्रसिद्ध ‘पौषध’ शब्द के स्थान में है।

गुणस्थान के क्रम से जीवों के पुण्य, पाप दो भेद हैं। मिथ्यात्वी या मिथ्यात्वोन्मुख जीवों को पाप जीव और सम्यक्त्वी जीवों को पुण्यजीव कहा है।

(गो. जी.गा. ६२१)

उदयाधिकार में प्रत्येक गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की जो संख्या कही हुई है, वह सब गोम्मटसार में उल्लिखित भूतबलि आचार्य के मत के साथ मिलती है। परन्तु उसी ग्रन्थ (कर्म.गा. २६३-२६४) में जो यतिवृषभाचार्य

के मत का उल्लेख किया है उसके साथ कहीं-कहीं नहीं मिलती। पहले गुणस्थान में यतिवृषभाचार्य ११२ प्रकृतियों का उदय और चौदहवें गुणस्थान में १३ प्रकृतियों का उदय मानते हैं। परन्तु कर्मग्रन्थ में पहिले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का और चौदहवें गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय माना है।

कर्मग्रन्थ में दूसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म के अतिरिक्त १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी हुई है, परन्तु गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में आहारकद्विक और तीर्थङ्कर नामकर्म इन तीन प्रकृतियों के अतिरिक्त १४५ की ही सत्ता उस गुणस्थान में मानी है। इसी प्रकार गोम्मटसार (कर्मकाण्ड-३३३ से ३३६) के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को नरक-आयु की सत्ता नहीं होती और छठे तथा सातवें गुणस्थान में नरक-आयु, तिर्यञ्च-आयु दो की सत्ता नहीं होती; अतएव उस ग्रन्थ में पाँचवें गुणस्थान में १४७ की और छठे, सातवें गुणस्थान में १४६ की सत्ता मानी हुई है। परन्तु कर्मग्रन्थ के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में नरक-आयु की और छठे, सातवें गुणस्थान में नरक, तिर्यञ्च दो आयुओं की सत्ता भी हो सकती है।



कोष

अ

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-------------|------------|-------------------|---|
| ४, ५, ६, ९ | | | |
| १०, १२, १४, | | | |
| १५, १८, १९, | अंत | अन्त | विच्छेद |
| २०, २३, २४, | | | |
| २८, ३०, | | | |
| २० | अन्तराय | अन्तराय | अन्तरायकर्म |
| १८ | अंतिम | अंतिम | अन्त का-आखरी |
| १०, २८, | अंस | अंश | भाग-हिस्सा |
| २१ | अगुरुलहु | अगुरुलघु | अगुरुलघुनामकर्म |
| १०, ३२, | अगुरुलहुचउ | अगुरुलघुचतुष्क | अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, पराघातनाम और उच्छ्वास-नाकर्म। |
| १५ | अजअ | अयत | अविरतसम्यग्दृष्टिगु. पृ. ११९ |
| ७ | अजस | अयशः | अयशः कीर्तिनामकर्म |
| २२, २४, ३१ | अजोगि | अयोगिन् | अयोगिकेवल्लिगु. पृ. १२८, १३१, १३८ |
| २ | अजोगिगुण | अयोगिगुण | अयोगिकेवल्लिगु. पृ. ८६ |
| १७, ३१ | अड्ड | अष्टन् | आठ |
| ८ | अट्टावण्ण | अष्टपञ्चाशत् | अट्टावन |
| २७ | अडतीस | अष्टत्रिंशत् | अड़तीस |
| २५ | अडयाल-सय | अष्टचत्वारिंशच्छत | एक सौ अड़तालीस |
| ८ | अडवन्न | अष्टपञ्चाशत् | अट्टावन |
| ५, १४, २६ | अण | अन | अनन्तानुबन्धिकषाय |
| १२ | अर्णत | अनन्त | अन्त का अभाव |
| १६ | अणाइज्जदुग | अनादेयद्विक | अनादेयनाम और अयशः- कीर्तिनामकर्म |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|--------------|-----------|-------------|--|
| १३, १४, १५ | अणुदय | अनुदीरक | उदीरणा नहीं करने वाला |
| १५ | अणुपुर्वी | आनुपूर्वी | आनुपूर्वीनामकर्म |
| २५ | अत्तलाभ | आत्मलाभ | स्वरूप-प्राप्ति |
| २१, ३२ | अथिर | अस्थिर | अस्थिरनामकर्म |
| ७ | अथिरदुग | अस्थिरद्विक | अस्थिरनामकर्म और अशुभ-नामकर्म |
| २२ | अन्नयर | अन्यतर | दो में से एक |
| ८ | अन्नह | अन्यथा | अन्य प्रकार से |
| २, ११, १८ | अनिवृत्ति | अनिवृत्ति | बादरसम्पराय |
| २७, | | | गु.पृ. २० |
| ३२ | अपज्जत्त | अपर्याप्त | अपर्याप्तनामकर्म |
| १३ | अपत्त | अप्राप्त | प्राप्त नहीं |
| २, ८, १७, २३ | अपमत्त | अप्रमत्त | अप्रमत्तसंयतगु. पृ. ८६, ११०, ११९, १३१ |
| ९, १८, २६ | अपुव्व | अपूर्व | अपूर्वकरणगुणस्थान पृ. ११३, १२५, १३६ |
| ५ | अबंध | अबन्ध | बन्धाभाव |
| | अभिनव | अभिनव | नया |
| | अरइ | अरति | अरतिमोहनीय |
| २ | अविरय | अविरत | अविरतसम्यग्दृष्टिगु. पृ. ८६ |
| २२ | असाअ | असात | असातवेदनीय |
| ७ | अस्साय | असात | ” |
| ३२, ३३ | असाय | असात | ” |
| २६ | अहवा | अथवा | पक्षान्तर |

आ

| | | | |
|----------------|---------|---------------|---------------------------|
| ९ | आइ | आदि | आरम्भ |
| २३, २५, २६, २९ | आइ | आदि | वगैरह |
| २२, ३३ | आइज्ज | आदेय | आदेयनामकर्म |
| २१ | आइसंघयण | आदिसंहनन | प्रथम-वज्रक्रषभनाराचसंहनन |
| ६, १६, २३ | आउ | आयुस् | आगुकर्म |
| ५ | आउअ | आयुष्क | ” |
| ८ | आगच्छे | आ+गम् आगच्छेत | आवे. |
| ५ | आगिइ | आकृति | संस्थाननाम |
| ४, १४ | आयव | आतप | आतपनामकर्म |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|----------|------------|---------------------------------------|
| २८ | आयवदुग | आतपद्विक | आतपनामकर्म और उद्योत- नामकर्म |
| १३ | आहार | आहारक | आहारकशरीर तथा आहारक- अङ्गोपाङ्गनाम |
| १७, २४ | आहारजुगल | आहारकद्विक | ” |
| ३, ८, १७ | आहारगदुग | आहारकद्विक | ” |

इ

| | | | |
|--------|----------|-----------------|------------------|
| १४, २८ | इग | एक | एकेन्द्रियजातिना |
| २६ | इगचत्तसय | एकचत्वारिंशच्छत | एक सौ इकतालीस |
| ३० | इगसअ | एकशत | एक सौ एक |
| १७ | इगसी | एकाशीति | एक्यासी |
| ४ | इगहिय-सय | एकाधिकशत | एक सौ एक |
| १४ | इगारसय | एकादशशत | एक सौ ग्यारह |
| ११ | इगोग | एकैक | एक-एक |
| २९ | इत्थी | स्त्री | स्त्रीवेद |
| ८ | इह | इह | इस जगह |

उ

| | | | |
|------------|--------|-----------|---|
| १२, २३ | उच्च | उच्च | उच्चगौत्र |
| १२ | उच्छेअ | उच्छेद | विच्छेद |
| ५, १६ | अज्जोय | उद्योत | उद्योत |
| १३, १५, २३ | उदअ | उदय | उदय, कर्म-फल का अनुभव- पृ. ११८, ११९, १३१ |
| १, २१ | उदय | उदय | ” |
| १३ | उदीरण | उदीरणा | उदीरणा-विपाक-काल प्राप्त-न होने पर भी प्रयत्न विशेष-से किया जानेवाला कर्म-फल- का अनुभव। |
| २, ३ | उदीरणा | उदीरणा | ” |
| ९, २१ | उरल | औदार | औदारिकशरीरना |
| | उरलदुग | औदारद्विक | औदारिकशरीर और औदारिक अङ्गोपाङ्गनामकर्म |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|----------|-------------|--|
| २, २५ | उवसम | उपशाम | उपशान्तकषायवीतराग- छद्मस्थगुणस्थान पृ. ८६, १३४ ” |
| १९ | उवसंतगुण | उपशान्तगुण | अङ्गोपाङ्गनामकर्म. |
| ९ | उवंग | उपाङ्ग | औदारिकअङ्गोपाङ्ग, - वैक्रियअङ्गोपाङ्ग और आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म. |
| ३२ | उवंगतिग | उपाङ्गत्रिक | |

ऊ

| | | | |
|----|----|----|-------|
| २४ | ऊण | ऊन | न्यून |
|----|----|----|-------|

ए

| | | | |
|--------|------|------|-----------|
| २२, ३३ | एगयर | एकतर | दो में एक |
| २४ | एसा | एषा | यह |

ओ

| | | | |
|---|----|----|---------|
| ३ | ओह | ओघ | सामान्य |
|---|----|----|---------|

क

| | | | |
|----------|--------|--------|------------------------|
| ११ | कम | क्रम | अनुक्रम. |
| १, ३, २५ | कम्म | कर्मन् | कर्म, पृ. ८५, १०४, १३४ |
| २१ | कम्म | कर्मन् | कार्मणशरीरनामकर्म। |
| २९ | क्रमसो | क्रमशः | अनुक्रम से। |
| ५ | कुखगइ | कुखगति | अशुभविहायोगतिनामकर्म। |
| १० | कच्छा | कुत्सा | जुगुप्सामोहनीय |

ख

| | | | |
|----------------|--------|------------|--|
| २८, २९, ३०, ३३ | खअ | क्षय | नाश |
| ३ | खगइ | खगति | विहायोगतिनामकर्म |
| २१ | खगइदुग | खगतिद्विक | शुभविहायोगतिनाम- और अशुभविहायोगति नामकर्म। |
| २६ | खय | क्षय | नाश |
| २७ | खवग | क्षपक | क्षपकश्रेणि-प्राप्त। |
| ३४ | खविउ | क्षपयित्वा | क्षय करके। |
| १ | खविय | क्षपित | क्षय किया हुआ। |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|----------|---------|--|
| २, २० | खीण | क्षीण | क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ- गु. पृ. ८६, १२७ |
| १५ | खेव | क्षेप | प्रक्षेप |

ग

| | | | |
|-------|----------|-----------|-------------------------------------|
| २३ | गइ | गति | गतिनामकर्म |
| ३१ | गंधदुग | गन्धद्विक | सुरभिगन्ध और दुर- भगन्ध नामकर्म। |
| ३ | गइण | ग्रहण | प्राप्ति-सम्बन्ध |
| २३ | गुण | गुण | गुणस्थान पृ. १३१ |
| १ | गुणठाण | गुणस्थान | " |
| १९, ८ | गुणसद्धि | एकोनषष्टि | उनसठ |

च

| | | | |
|------------|--------|------------|---|
| ७, २२ | च | च | और |
| ११, २६, २७ | चउ | चतुर | चार |
| २६ | चउक्क | चतुष्क | चार का समुदाय |
| २९ | चउदस | चतुर्दशन् | चौदह |
| १२, ३० | चउदंसण | चतुर्दर्शन | ४ दर्शनावरणचक्षुर्दर्शना- वरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण |
| ५ | चउसयरि | चतुःसप्तति | चौहतर |
| १५ | चउसय | चतुःशत | एक सौ चार |
| १०, २३ | चरम | चरम | अन्तिम |
| ३३, ३४ | चरिम | चरम | " |

छ

| | | | |
|---------------|---------|------------|--------------|
| ७, १९, २१, २९ | छ | षष् | छह |
| ३२ | छक्क | षट्क | छह का समुदाय |
| ९ | छप्पन्न | षट्क | छह का समुदाय |
| ९ | छप्पन्न | षट्पञ्चाशत | छप्पन |
| १० | छल | षष्ट | छठा |
| १० | छवीस | षड्विंशति | छब्बीस |
| १८ | छसद्धि | षट्षष्टि, | छियासठ |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-------------------|----------|-----------|-------------------------------------|
| १७ | छस्सयरि | षट्सप्तति | छिहतर |
| ४ | छिवट्ट | सेवार्त | सेवार्तसंहनननामकर्म |
| ११, १२, २६, १७, | | | |
| १८, १९, २०, ३३ | छेद | अभाव | |
| ज | | | |
| ८ | जइ | यदि | जो |
| ७ | जया | यदा | जब |
| १ | जह | यथा | जिसप्रकार |
| २५, २७ | जा | यावत् | पर्यन्त |
| ४ | जाइ | जाति | जातिनामकर्म |
| २३, ६, १०, ३३, १३ | जिण | जिन | तीर्थङ्करनामकर्म |
| ३४ | जो | यः | जो |
| ठ | | | |
| २५ | ठिइ | स्थिति | कर्म-बन्ध की काल-मर्यादा |
| त | | | |
| ५ | त्थी | स्त्री | स्त्रीवेद |
| २५ | तइअ | तृतीय | तीसरा |
| २९ | तइय | तृतीय | ” |
| ९, ३१ | तणु | तनु | शरीरनामकर्म |
| ३ | तत्थ | तत्र | उस में |
| २३, ३३ | तसतिग | त्रसत्रिक | त्रसनाम, बादरनाम और-पर्याप्तनामकर्म |
| ९ | तसनव | त्रसनवक | असआदिधप्रकृतियों पृ. ११३ |
| १ | तह | तथा | उसी प्रकार |
| ३४ | तं | तं | उस को |
| १२, २३ | ति | इति | स्वरूप-बोधक |
| १२ | ति | त्रि | तीन |
| ५ | त्रि | इति | स्वरूप-बोधक |
| ६ | तिअकसाय | तृतीयकषाय | प्रत्याख्यानावरण |
| १६ | तिअकसाय | तृतीयकषाय | प्रत्याख्यानावरण |
| २४ | तिग | त्रिक | तीन का समुदाय |
| २१ | तित्थ | तीर्थ | तीर्थङ्करनामकर्म |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी | |
|---------------|----------|--------------|-----------------|----------------------|
| | ३ | तित्थयर | तीर्थङ्कर | ” |
| | १८ | तियग | त्रिक | तीन का समुदाय |
| | २८ | तियकसाय | तृतीयकषाय | प्रत्याख्यानावरणकषाय |
| ४, २६, २७, २८ | तिरि | तिर्यच् | तिर्यञ्च | तिर्यञ्च |
| | १६ | तिरिगइ | तिर्यग्गति | तिर्यञ्चगतिनामकर्म। |
| | १६ | तिरिणुपुव्वी | तिर्यगानुपूर्वी | तिर्यञ्चआनुपूर्वीना |
| | २९ | तिहियसय | अधिकशत | एक सौ तीन |
| १०, २२ | तीस | त्रिंशत | तीस | तीस |
| | २९ | तुरियकोह | तुरीयक्रोध | संज्वलनक्रोध |
| | १९ | तुरियलोभ | तुरीयलोभ | संज्वलनलोभ |
| | २१ | तेय | तेजस् | तैजसशरीरनामकर्म |
| | २९ | तेर | त्रयोदशन् | तेरह |
| | ३३ | तेरस | त्रयोदशन् | ” |
| | ७ | तेवद्धि | त्रिषष्टि | तिरेसठ |

थ

| | | | |
|--------|--------|------------------|--|
| १४, २८ | थावर | स्थावर | स्थावरनामकर्म |
| ४ | थावरचउ | स्थावरचतुष्क | स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम- अपर्याप्तनाम और साधारण नामकर्म। |
| ४ | धीण | स्त्यानद्धि | स्त्यानद्धिनिद्रा |
| १७, २४ | धीणतिग | स्त्यानद्धित्रिक | निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानद्धि |
| १ | थुणिमो | स्तु-स्तुमः | स्तुति करते हैं। |

द

| | | | |
|------------|----------|---------------|--------------------------------------|
| २० | दंसणचउ | दर्शनचतुष्क | चक्षुर्दर्शनावरण आदि ४ प्रकृतियाँ |
| ५-दु | द्वि | दो | |
| २०, ३०, ३१ | दुचरिम | द्विचरम | उपान्त्य-अन्तिम से पहला |
| ३० | दुनिदा | द्विनिद्रा | निन्द्रा और प्रचला |
| ११ | दुवीस | द्वाविंशति | बाईस |
| १३, २८ | दुवीस-सय | द्वाविंशति-शत | एक सौ बाईस |
| ३० | दुसय | द्विशत | एक सौ दो |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|----------|-------------|--|
| १६ | दुहग | दुर्भग | एक सौ दो |
| १६ | दुहग | दुर्भग | दुर्भगनामकर्म |
| ४ | दुहगतिग | दुर्भगत्रिक | दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म और अनादेयनामकर्म |
| २२ | दूसर | दुःस्वर | दुःस्वरनामकर्म |
| ३१ | देव | देव | देव |
| ३४ | देविंद | देवेन्द्र | देवों का इन्द्र तथा श्रीदेवेन्द्रसूरि |
| २, १६ | देस | देश | देशविरतगुणस्थान पृ. ८६, ११९ |

न

| | | | |
|------------|---------------|---------------|---|
| ४, २९ | नपु | नपुंसक | नपुंसकवेद |
| ३४ | नमह | नम्-नमत | नमन करो |
| ३४ | नरअणुपुव्वी | नरानुपूर्वी | मनुष्य-आनुपूर्वी |
| ६ | नरतिग | नरत्रिक | नरगति, नरानुपूर्वी और नरायु |
| २७ | नरय | नरक | नरक |
| ४ | नरयतिग | नरकत्रिक | नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु। |
| ३० | नवनवइ | नवनवति | निन्यानबे |
| २०, ३० | नाण | ज्ञान | ज्ञानावरण |
| १२ | नाणविग्घदसग | ज्ञानविघ्नदशक | पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तराय कर्म। |
| ५, १६ | निअ | नीच | नीचगोत्र |
| ७ | निद्रा | निष्ठा | समाप्ति |
| ९, २० | निह्दुग | निद्राद्विक | निद्रा और प्रचला |
| ३१, १०, २१ | निमिण | निर्माण | निर्माणनामकर्म |
| ३२ | निय | नीच | नीचगोत्र |
| २ | नियट्टि | निवृत्ति | निवृत्तिगुणस्थान पृ. ८६ |
| २८ | निरय | निरय | नरक |
| २६ | निरयाउ | निरयायुत् | नरक-आयु |
| १४ | निरयाणुपुव्वी | निरयानुपूर्वी | नरकानुपूर्वीनामकर्म |
| ७ | नेइ | नी-नयति | प्राप्त करता है |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|--------------|--------------|-----------------|---|
| प | | | |
| | १७ पक्खेव | प्रक्षेप | प्रक्षेप-मिलाना |
| | २७ पदम | प्रथम | पहला |
| ३१, ९, २९ | पण | पञ्चन् | पाँच |
| | ११ पणग | पञ्चक | पाँच |
| | २७ पणयाल | पञ्चचत्वारिंशत् | पैतालीस |
| | २० पणवन्ना | पञ्चपञ्चाशत् | पचपन |
| | ५ पणवीस | पञ्चविंशति | पच्चीस |
| | ३१ पणसीइ | पञ्चशीति | पच्चासी |
| ९, २३ | पणिदि | पञ्चेन्द्रिय | पञ्चेन्द्रियजातिनाम |
| | ३३ पणिदिय | पञ्चेन्द्रिय | ” |
| | १, ३४ पत्त | प्राप्त | प्राप्त हुआ |
| | २७ पप्प | प्र+आप्-प्राप्त | प्राप्त करके |
| २, ७, १७, २४ | पमत्त | प्रमत्त | प्रमत्तसंयतगु. पृ. ८६, ११०, ११९, १३१ |
| | २४ पयडि | प्रकृति | प्रकृति |
| | २३ परं परम् | विशेषता | |
| | ३२ परित्त | प्रत्येक | प्रत्येकनाम |
| | २१ परित्ततिग | प्रत्येकत्रिक | प्रत्येकनाम, स्थिरनाम और शुभनामकर्म। |
| | ११ पुम | पुंस् | पुरुषवेद |
| | २९ पुंस | पुंस् | ” |
| फ | | | |
| | ३१ फास | स्पर्श | स्पर्शनामकर्म |
| व | | | |
| | १, ३ बंध | बन्ध | बन्ध पृ. १ |
| | ३१ बंधण | बन्धन | बन्धननामकर्म |
| | ८ बंधंतु | बन्ध्-बध्न् | बाँधता हुआ |
| | २० बायाला | द्विचत्वारिंशत् | बयालीस |
| | २९ बार | द्वादशन् | बारह |
| २२, ३४ | बारस | ” | ” |
| २५, २८ | विय | द्वितीय | दूसरा |
| ६, १५ | वियकस्य | द्वितीयकषाय | अप्रत्याख्यानावरण |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|----------|-------------------|----------------|
| २६ | बियाल | द्वाचत्वारिंशच्छत | एक सौ बयालीससय |
| २९ | बिसत्तरि | द्वासप्तति | बहतर |
| ३३ | बिसयरि | ” | ” |

भ

| | | | |
|-----------|------|--------|----------|
| २४ | भगवं | भगवान् | भगवान् |
| १० | भय | भय | भयमोहनीय |
| ९, ११, २७ | भाग | भाग | हिस्सा |
| १० | भेअ | भेद | विच्छेद |

म

| | | | |
|--------------|--------|-----------|--|
| ५ | मज्झ | मध्य | भीतर |
| १६ | मणु | मनुज | मनुष्य |
| २३, ३३ | मणुय | ” | ” |
| २४ | मणुयाउ | मनुजायुस् | मनुष्य-आयु |
| २९ | मय | मद | मानकषाय |
| १९ | माया | माया, | मायाकषाय |
| २, ३, १३, १४ | मिच्छा | मिथ्या | मिथ्यादृष्टिगु. पृ. ८६, १०४ ११८, ११९ |
| ४, १४ | मिच्छा | मिथ्या | मिथ्यात्वमोहनीय |
| २, ५, १५ | मीस | मिश्र | सम्यग्मिथ्यादृष्टि गु. पृ. ८६, १०८, ११९ |
| १३, १५ | मीस | मिश्र | मिश्रमोहनीय |

य

| | | | |
|----|---|---|-----------|
| ३३ | य | च | पुनः, फिर |
|----|---|---|-----------|

र

| | | | |
|----|--------------|---------------|--------------------------------|
| १० | रइ | रति | रतिमोहनीय |
| ३१ | रस | रस | रसनामकर्म |
| १९ | रिसहनारायदुग | ऋषभनाराचद्विक | ऋषभनाराचसं. और नाराचसं. हनन |

ल

| | | | |
|----|------|----------|---------|
| २५ | लद्ध | लभ्-लब्ध | प्राप्त |
| ३० | लोह | लोभ | लोभकषाय |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|-----------|---------------------------|---|
| | | व | |
| २३ | व्व | इव | समान |
| ७, ३२ | व | वा | अथवा |
| ६ | वइर | वज्र | वज्रत्रृषभनाराचसं. |
| ३ | वज्जं | वर्ज-वर्जे | छोड़कर |
| १० | वण्ण | वर्ण | वर्णनामकर्म |
| ३४ | वंदिय | वन्द-वन्दित | वन्दन किया हुआ |
| ३१ | वन्न | वर्ण | वर्णनामकर्म |
| २१ | वन्नचउ | वर्णचतुष्क | वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम और स्पर्शनामकर्म |
| ३२, ३४ | वा | वा | अथवा |
| २७ | वि | अपि | भी |
| १६ | विउवड्ड | वैक्रियाष्टक | देवगति आदि ८ प्रकृतियाँ पृ. ११९ |
| ३० | विग्घ | विघ्न | अन्तराय |
| १४, २८ | विगल | विकल | विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय- से चतुरिन्द्रियतक) जातिनामकर्म |
| २५ | विजिण | विजिन | जिननामकर्म के अतिरिक्त |
| १७, ३४ | विणा | बिना | सिवाय |
| ९, २६, २७ | विणु | बिना | छोड़कर |
| १३ | विवाग | विपाक | फल |
| ११ | विह | विध | प्रकार |
| ३४ | वीर | वीर | श्रीमहावीर |
| १ | वीरजिण | वीरजिन | महावीरतीर्थङ्कर |
| ३ | वीससय | विंशतिशत | एक सौ बीस |
| ७ | वुच्छिज्ज | वि-उत्+छिदव्युच्छिद्यन्ते | विच्छेद पाते हैं |
| २२ | वुच्छेअ | व्युच्छेद | उच्छेद |
| १३ | वेयण | वेदन | अनुभव-भोग |
| २२, २४ | वेयणीय | वेदनीय | वेदनीय कर्म |
| १८ | वेयतिग | वेदत्रिक | पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|-----------|----------|---------------|--|
| स | | | |
| २३ | सग | सप्तक | सात |
| २० | सगवन्न | सप्तपञ्चाशत् | सतावन |
| ६ | सगसयरि | सप्तसप्तति | सतहत्तर |
| १६ | सगसीइ | सप्ताशीति | सतासी |
| २, २० | सजोगि | सयोगिन् | सयोगिकेवलिगु. पृ. ८६, १२७ |
| १९ | सट्टि | षष्टि | साठ |
| ७ | सत्त | सप्तन् | सात |
| २६, २७ | सप्तग | सप्तक | सात का समुदाय |
| ६ | सत्तट्टि | सप्तषष्टि | सड़सठ |
| ३ | सत्तर-सय | सप्तदश-शत | एक सौ सत्रह |
| ११, १६ | सतर | सप्तदशन् | सत्रह |
| १३ | सतर-सय | सप्तदश-शत | एक सौ सत्रह |
| १, २५ | सत्ता | सत्ता | सत्ता-आत्मा के साथ लगे हुये कर्मों का अस्तित्व |
| १० | समचउर | समचतुरस्र | समचतुरस्र. सं. |
| ३० | समअ | समय | दूसरा हिस्सा न किया जा सके ऐसा सूक्ष्म काल ” |
| २३, २४ | समय | समय | ” |
| १५ | सय | शत | सौ. |
| १ | सयल | सकल | सब |
| ३१ | सयोगि | सयोगिन् | सयोगिकेवलिगु |
| ५, १८, ३२ | संघयण | संहनन | संहनननामकर्म |
| ३१ | संघाय | संघातन | संघातननामकर्म |
| ११ | संजलण | सञ्ज्वलन | सञ्ज्वलनकषाय |
| १९ | संजलणतिग | सञ्ज्वलनत्रिक | संज्वलन क्रोध, मान और माया |
| ३२, २१ | संठाण | संस्थान | संस्थाननामकर्म |
| २५ | संत | सत् | सत्ता |
| ६, २६ | सम्म | सम्यच् | अविरतसम्यग्दृष्टिगु. पृ. ११०, १३६ |
| १३, १५ | सम्म | सम्यच् | सम्यक्त्वमोहनीय |
| १८ | सम्मत्त | सम्यक्त्व | ” |

| गाथा-अङ्क | प्राकृत. | संस्कृत | हिन्दी |
|----------------|-----------|--------------|--|
| १२, २२, ३२, ३३ | साय | सात | सातावेदनीय |
| २, ५, १४ | सासण | सास्वादन | सास्वादनसम्यग्दृष्टि गु. पृ. ६ |
| २८ | साहार | साधारण | साधारणना |
| १४ | सिद्धि | सिद्धि | मोक्ष |
| ९ | सुखगइ | सु-खगति | शुभविहायोगतिना. |
| २२, ३३ | सुभग | सुभग | सुभगनामकर्म |
| ९ | सुरदुग | सुरद्विक | देवगति और देवानुपूर्वी |
| ७, ८, २७ | सुराउ | सुरायुस् | देवआयु |
| ३२ | सूसर | सस्वर | सस्वरनामकर्म |
| २, ११, १९३० | सुहुम | सूक्ष्म | सूक्ष्मसम्परायगु. पृ. ८६, ११३, १२५, १३८ |
| १४ | सुहुमतिग | सूक्ष्मत्रिक | सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम और साधारण |
| २२ | सूसर | सुस्वर | सुस्वरनामकर्म |
| ह | | | |
| १० | हास | हास्य | हास्यमोहनीय |
| २९ | हासछग | हास्यषट्क | हास्यमोहनीय आदि ६ प्रकृतियाँ पृ. १३८ |
| १८ | हासाइछक्क | हास्यादिषट्क | ” |
| ११ | हीण | हीन | रहित |
| ४ | हुण्ड | हुगड | हुण्डसंस्थावनन. |

*

‘कर्मस्तव’ नामक दूसरे कर्मग्रन्थ की मूलगाथायें।

तह शुमिणो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
 बंधुदओदीरणया-सत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥
 मिच्छे सासण-मीसे, अविरय-देसे पमत्त-अपमत्ते।
 नियट्टिअनियट्टि सुहुमु-वसमखीण सजोगिअजोगिगुणा ॥२॥
 अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीससयं।
 तित्थयराहारगदुग-वज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥३॥
 नरयतिग जाइथावर-चउहुंडायवछिवट्टनपुमिच्छं।
 सोलंतो इगहियसय, सासणि तिरिथीणदुहगतियं ॥४॥
 अणमज्झागिइसंघय-णचउनिउज्जोयकुखग इत्थि त्ति।
 पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउअअबंधा ॥५॥
 सम्मे सगसयरिजिणा-उबंधि वइर नरतिगबिअकसाया।
 उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी निअकसायंतो ॥६॥
 तेवट्टि पमत्ते सो-ग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
 वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥७॥
 गुणसट्ठि अपमत्ते, सुराउ बंधंतु जइ इहागच्छे।
 अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥८॥
 अडवन्न अपुव्वाइम्मि, निदुगंतो छपन्न पणभागे।
 सुरदुगपणिंदिसुखगइ तसनव उरल विणु तणुवंगा ॥९॥
 समचउरनिमिणाजिणव-एणअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।
 चरमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

अनियद्विभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
 पुमसंजलणचण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥११॥
 चउदंसणुच्चजसनाण-विग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
 तिसु सायबंधछेओ, सजोगिबंधंतुऽणंतो अ ॥१२॥
 उदओ विवागवेयण-मुदीरणमपत्ति इह दुवीससयं ।
 सतरसयं मिच्छे मी-ससम्मआहारजिणणुदया ॥१३॥
 सुहुमतिगायवमिच्छं मिच्छंतं सासणे इगारसयं ।
 निरयाणुपुव्विणुदया अणथावरइगविगलअंतो ॥१४॥
 मीसे सयमणुपुव्वी-णुदया मीसोदयेण मीसंतो ।
 चउसयमजए सम्मा-णुपुव्विखेवा बियकसाया ॥१५॥
 मणुतिरिणुपुव्विबिउवट्ट, दुहगअणाइज्जदुग सतरछेओ ।
 सगसीइ देसि तिरिगई-आउ निउज्जोयतिकसाया ॥१६॥
 अट्टुच्छेओ इगसी, पमत्ति आहारजुगलपक्खेवा ।
 थीणतिगाहारगदुग-छेओ छस्सरि अपमत्ते ॥१७॥
 सम्मत्तंतिमसंघयण-तियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे ।
 हासाइछक्कअंतो, छसट्टि अनियद्वि वेयतिगं ।
 संजलणतिगं छच्छेओ, अनियद्वि वेयतिगं ॥१८॥
 संजलणतिगं छच्छेओ, सट्टि सुहुमम्भि तुरियलोभंतो ।
 उवसंतगुणो गुणस-ट्टि रिसहनारायदुगअंतो ॥१९॥
 सगवन्न खीणदुचरिमि, निद्दुगंतो अचरिमि पणपन्ना ।
 नाणंतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि बायाला ॥२०॥
 तित्थुदया उरलाथिर-खगइदुग परित्ततिग छ संठाणा ।
 अगुरुलहुवन्नचउ-निमि-णतेयकम्माइसंघयणं ॥२१॥
 दूसर सूसर साया-साएगयरं च तीस वुच्छेओ ।
 बारस अजोगि सुभगा-इज्जजसन्नयरवेयणियं ॥२२॥

तसतिग पणिंदि मणुया-उगइ जिणुञ्चं ति चरमसमयंतो ।
 उदउ व्दीरणा पर-मपमत्ताई सगगुणोसु ॥ २३ ॥
 एसा पयडितिगूणा, वेयणियाहारजुगलथीणतिगं ।
 मणुयाउ पमत्तंता, अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥ २४ ॥
 सत्ता कम्माण ठिई, बंधाईलद्धअत्तलाभाणं ।
 संते अडयालसयं, जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥ २५ ॥
 अपुव्वाइचउक्के अण-तिरिनिरयाउ विणु बियालसयं ।
 सम्माइचउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्तसयमहवा ॥ २६ ॥
 खवगं तु पप्प चउसु वि, पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा ।
 सत्तग विणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥
 थावरतिरिनिरयायव-दुग थीणतिगेग विगलसाहारं ।
 सोलखओ दुवीससयं, बियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८ ॥
 तइयाइसु चउदसते-रबारछपणचउतिहियस ... ।
 नपुइत्थिहासछगपुं-सतुरियकोहमयमायख ॥ २९ ॥
 सुहुमि दुसय लोहंतो, खीणदुचरिममेगसओइख ।
 नवनवइ चरमसमए, चउदंसणनाणविग्घंतो ॥ ३० ॥
 पणसीइ सयोगि अजो-गि दुचरिमे देवखगइगंधदुर ।
 फासट्ट वन्नरसतणु-बंधणसंघायपण निमिणं ॥ ३१ ॥
 संघयणअथिरसंठाण-छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं ।
 सायं व असायं वा, परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥ ३२ ॥
 बिसयरि खओ य चरिमे, तेरस मणुयतसतिग जसा... ।
 सुभगजिणुच्च पणिंदिय, सायासाएगयरछेओ ॥ ३३ ॥
 नरअणुपुव्वि विणा वा, बारस चरिमसमयम्मि जो ... ।
 पत्तो सिद्धिं देविं-दवंदियं नः तं वीरं ॥ ३४ ॥

*

परिशिष्ट क

(१) गोम्मटसार के देखने योग्य स्थल

तीसरे कर्मग्रन्थ का विषयगुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में बंध-स्वामित्व का कथन-गोम्मटसार में है, जो कर्मकाण्ड गा. १०५ से १२१ तक है। इसके जानने के लिये जिन बातों का ज्ञान पहले आवश्यक है उनका संकेत गा. ९४ से १०४ तक है।

गुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में उदय-स्वामित्व का विचार, जो प्राचीन या नवीन तीसरे कर्मग्रन्थ में नहीं वह गोम्मटसार में है। इसका प्रकरण कर्मकाण्ड गा. २९० से ३३२ तक है। इसके लिये जिन संकेतों का जानना आवश्यक है वे गा. २६३ से २८९ तक में संगृहीत हैं। इस उदय-स्वामित्व के प्रकरण में उदीरणा-स्वामित्व का विचार भी सम्मिलित है।

गुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में सत्ता-स्वामित्व का विचार भी गोम्मटसार में है, पर कर्मग्रन्थ में नहीं। यह प्रकरण कर्मकाण्ड गा. ३४६ से ३५६ तक है। इसके संकेत गा. ३३३ से ३४५ तक में है।

(२) श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय के समान-असमान कुछ मन्तव्य।

- (१) कर्मग्रन्थ में तीसरे गुणस्थान में आयु का बन्ध नहीं माना जाता वैसा ही गोम्मटसार में भी। गा. ८ की टिप्पणी पृ. १५।
- (२) पृथ्वीकाय आदि मार्गणाओं में दूसरे गुणस्थान में ९६ और ९४ प्रकृतियों का बन्ध, मत-भेद से कर्मग्रन्थ में है। गोम्मटसार में केवल ९४ प्रकृतियों का बन्ध वर्णित है। गा. १२ की टिप्पणी पृ. ३१-३२।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार इन्द्रिय मार्गणाओं में तथा पृथ्वी जल और वनस्पति तीन कायमार्गणाओं में पहला दूसरा दो गुणस्थान कर्मग्रन्थ में माने हुए हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड को यही पक्ष सम्मत है; यह बात कर्म.गा. ११३-११५ तक का विषय देखने से स्पष्ट हो जाती है। परन्तु सर्वार्थसिद्धिकार का इस विषय में भिन्न मत है। वे एकेन्द्रिय आदि उक्त चार इन्द्रिय मार्गणाओं में और पृथ्वीकाय आदि उक्त तीन कायमार्गणाओं में पहला ही गुणस्थान मानते हैं। (इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकेमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्;

कायानुवादेन पृथिवीकायादिषु वनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् तत्त्वार्थ अ. १ सू. ८ की सर्वार्थसिद्धि) सर्वार्थसिद्धि का यह मत गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ६७७ में निर्दिष्ट है।

एकेन्द्रियों में गुणस्थान मानने के सम्बन्ध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में दो पक्ष चले आते हैं। सैद्धान्तिक पक्ष सिर्फ पहला गुणस्थान (चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ४८) और कार्मग्रन्थिक पक्ष पहला दूसरा दो गुणस्थान मानता है (पञ्चसंग्रह द्वा. १-२८)। दिगम्बर सम्प्रदाय में यही दो पक्ष देखने में आते हैं। सर्वार्थसिद्धि और जीवकाण्ड में सैद्धान्तिक पक्ष तथा कर्मकाण्ड में कार्मग्रन्थिक पक्ष है।

- (३) औदारिक मिश्र काययोग मार्गणा में मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियों का बन्ध जैसा कर्मग्रन्थ में है वैसा ही गोम्मटसार में। गा. १४ की टिप्पणी पृ. ३७-३९।
- (४) औदारिक मिश्र काययोग मार्गणा में सम्यक्त्वी को ७५ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होना चाहिये किन्तु टब्बाकार के अनुसार ७० प्रकृतियों का मन्तव्य है। गोम्मटसार को यही मन्तव्य अभिमत है। गा. १५ की टिप्पणी पृ. ४०-४२।
- (४) आहारक मिश्र काययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध कर्मग्रन्थ में माना हुआ है, परन्तु गोम्मटसार में ६२ प्रकृतियों का। गा. १५ की टिप्पणी पृ. ४५।
- (६) कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले सम्यक्त्वियों को सैद्धान्तिक दृष्टि से ७५ प्रकृतियों का बन्ध माना जाना चाहिये, जो कर्मग्रन्थ में ७७ का माना है। गोम्मटसार भी उक्त विषय में कर्मग्रन्थ के समान ही ७७ प्रकृतियों का बन्ध मानता है। गा. २१ की टिप्पणी पृ. ६२-६५।
- (७) श्वेताम्बर सम्प्रदाय में देवलोक १२ माने हैं। (तत्त्वार्थ अ. ४ सू. २० का भाष्य), परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में १६। (तत्त्वार्थ अ. ४ सू. १८ की सर्वार्थसिद्धि)। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सनत्कुमार से सहस्रार पर्यन्त छः देवलोक हैं, पर दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार १०। इनमें ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार देवलोक हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नहीं माने जाते।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तीसरे सनत्कुमार से लेकर पाँचवें ब्रह्मलोक पर्यन्त केवल पद्मलेश्या और छोटे लोतक से लेकर ऊपर के सब देवलोकों में शुक्ल

लेश्या मानी जाती है परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में ऐसा नहीं है। उसमें सनत्कुमार, माहेन्द्र दो देवलोकों में तेजो लेश्या, पद्म लेश्या- ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लोतक, कापिष्ठ इन चार देवलोकों में पद्म लेश्या शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार चार देवलोकों में पद्मलेश्या तथा शुक्ल लेश्या और आनत आदि शेष सब देवलोकों में केवल शुक्ललेश्या मानी जाती है।

कर्मग्रन्थ में तथा गोम्मटसार में शुक्ललेश्या का बंध-स्वामित्व समान ही है। गा. २२ की टिप्पणी पृ. ६७-७०।

(८) तीसरे कर्मग्रन्थ में कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ पहले चार गुणस्थानों में मानी हैं, गोम्मटसार और सर्वार्थसिद्धि का भी यही मत है। गा. २४ की टिप्पणी पृ. ७५।

(९) **गतित्रस**—श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में तेजःकायिक, वायुकायिक जीव, स्थावर नामकर्म के उदय के कारण स्थावर माने गये हैं, तथापि श्वेताम्बर साहित्य में अपेक्षा विशेष से उनको त्रस भी कहा है—

यह विचार जीवाभिगम में भी है।

यद्यपि **तत्त्वार्थभाष्यटीका** आदि में तेजःकायिक वायुकायिक को 'गतित्रस' और **आचारांगनिर्युक्ति** तथा उसकी टीका में 'लब्धित्रस' कहा है तथापि गतित्रस लब्धित्रस इन दोनों शब्दों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का मतलब यह है कि तेजःकायिक वायुकायिक में द्वीन्द्रिय आदि की तरह त्रसनामकर्मोदय रूप त्रसत्व नहीं है, केवल गमनक्रिया रूप शक्ति होने से त्रसत्व माना जाता है; द्वीन्द्रिय आदि में तो त्रसनामकर्मोदय और गमनक्रिया उभय-रूप त्रसत्व है।

दिगम्बर साहित्य में सब जगह तेजःकायिक वायुकायिक को स्थावर ही कहा है, कहीं भी अपेक्षा विशेष से उनको त्रस नहीं कहा है। 'पृथिव्यप्तेजो

१. औदारिक-मिश्र-काययोग के बन्ध में तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु की गणना इस कर्मग्रन्थ की गा. १४वीं में की है। उक्त आयुओं का बन्ध मानने न मानने के विषय में टब्बाकारों ने शंका समाधान किया है, जिसका विचार टिप्पणी पृ. ३७-३९ पर किया है। **पंचसंग्रह** इस विषय में कर्मग्रन्थ के समान उक्त दो आयुओं का बन्ध मानता है—**'वेडब्बिज्जुगे न आहारं।'**

'बंधइ न उरलमीसे, नरयतिगं छडुममराउं।।' (४-१५५)

टीका—'यत्तु तिर्यगायुर्मनुष्यायुस्तदल्पाध्यवसाययोग्यमिति तस्या मप्यवस्थायां तयोर्बन्धसंभवः।' (श्रीमलयगिरि)

वायुवनस्पतयः स्थावराः।' तत्त्वार्थ अ. २-१३ तथा उसकी सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक।

(३) पंचसंग्रह (श्री चन्द्रमहत्तर रचित)

मूल तथा टीका का सारांश इतना ही है कि आहारकद्विक, नरक-त्रिक और देवायु इन छः प्रकृतियों के अतिरिक्त ११४ प्रकृतियों का बन्ध, औदारिक-मिश्र-काययोग में होता है। औदारिक-मिश्र-काययोग के समय मनःपर्याप्ति पूर्ण न बन जाने के कारण ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिनसे कि नरकायु तथा देवायु का बन्ध हो सकता है। इसलिये इन दो बन्ध उक्त योग्य में भले ही न हो, पर तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का बन्ध उक्त योग में होता है क्योंकि इन दो आयुओं के बन्ध-योग्य अध्यवसाय उक्त योग में पाये जा सकते हैं।

*

-
२. आहारककाययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध गा. १५वीं में निर्दिष्ट है। इस विषय में पञ्चसंग्रहकार का मत भिन्न है। वे आहारक काययोग में ५७ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं। 'सगबन्ना तेवट्ठी, बंधइ आहार उभयेसु।' (४-१५६)

परिशिष्ट ख
कोष
अ

| गाथा-अंक प्राकृत | संस्कृत | हिन्दी |
|------------------|-------------------|--|
| ३ अण | अन | अनन्तानुबन्धि-चतुष्क |
| ५ अणछवीस | अनषड्विंशति | अनन्तानुबन्धी आदि २६ प्रकृतियों |
| ६ अजिनमणुआउ | अजिनमनुष्यायुष् | तीर्थङ्कर नामकर्म तथा मनुष्यायु छोड़ कर |
| ७ अणचउवीस | अनचतुर्विंशति | अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियों |
| ८ अणएकतीस | अनैकत्रिंशत् | अनन्तानुबन्धी आदि ३१ प्रकृतियों |
| ९ अजय | अयत | अविरतसम्यग्दृष्टि जीव |
| ९ अपजत्त | अपर्याप्त | अपर्याप्त |
| ११ अपज्ज | अपर्याप्त | अपर्याप्त |
| १५ अणचउवीसाइ | अनचतुर्विंशत्यादि | अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियों |
| १७ अनाणतिग | अज्ञान-त्रिक | मति आदि तीन अज्ञान |
| १७ अचक्खु | अचक्षुष् | अचक्षुर्दर्शन |
| १७ अहखाय | यथाख्यात | यथाख्यातचारित्र |
| १८ अजयाइ | अयतादि | अविरतसम्यग्दृष्टि आदि |
| १९ अड | अष्टन् | आठ |
| २० अजय गुण | अयत गुण | अयतगुणस्थान |
| २१ अट्टारसय | अष्टादशशत | एक सौ अठारह |
| २२ अजिणाहार | अजिनाहारक | जिन नामकर्म तथा आहारक- द्विक रहित |
| २३ अभव्व | अभव्य | अभव्य |

| | | | |
|----|-------|-----------|---------|
| २३ | असंनि | असंज्ञिन् | असंज्ञी |
|----|-------|-----------|---------|

आ

| | | | |
|----|----------|----------------|------------------------------|
| २३ | अणाहार | अनाहारक | अनाहारक मार्गणा |
| २ | आहारदु | आहारक-द्विक | आहारक-द्विक नामकर्म |
| २ | आयव | आतप | आतप नामकर्म |
| ७ | आहार | आहारक | आहारक द्विक-नामकर्म |
| ११ | आणयाइ | आनतादि | आनत आदि देवलोक |
| १४ | आहार-छग | आहारक-षट्क | आहारक आदि छह प्रकृतियाँ |
| १५ | आहार-दुग | आहारक-द्विक | आहारक तथा आहारक- मिश्रयोग |
| १६ | आइम | आदिम | प्रथम |
| १९ | आहारग | आहारक | आहारक मार्गणा |
| २० | आउ | आयुष् | आयु |
| २१ | आहार-दुग | आहारक-द्विक | आहारक-द्विक नामकर्म |
| २१ | आइलेसतिग | आदिलेश्यात्रिक | कृष्ण आदि तीन लेश्याएं |

इ

| | | | |
|----|-------------|------------------|-------------------------------|
| ३ | इत्थि | स्त्री | स्त्री वेद नामकर्म |
| ४ | इगसउ | एकशत | एक सौ एक |
| ५ | इय | इति | इस प्रकार |
| ६ | इगनवई | एक नवति | एकानवे |
| १० | इगिदितिग | एकेन्द्रिय-त्रिक | एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियाँ |
| ११ | इगिदि | एकेन्द्रिय | एकेन्द्रिय मार्गणा |
| १९ | इक्कार | एकादशम् | ग्यारह |
| २२ | इदम् (इमाः) | इमाः | यह |

उ

| | | | |
|----|-----------|---------------|---------------------------|
| ३ | उरलदुग | औदारिक-द्विक | औदारिक-द्विक नामकर्म |
| ३ | उज्जोअ | उद्योत | उद्योत नामकर्म |
| ७ | उच्च | उच्च | उच्च गोत्र |
| १३ | उज्जोअ-चउ | उद्योत-चतुष्क | उद्योत आदि चार प्रकृतियाँ |

| | | | |
|----|------|--------|------------------|
| १३ | उरल | औदारिक | औदारिक काययोग |
| १९ | उवसम | उपशम | औपशमिक सम्यक्त्व |

ऊ

| | | | |
|----|----|----|-----|
| २१ | ऊण | ऊन | हीन |
|----|----|----|-----|

ए

| | | | |
|----|-------|------------|------------------------|
| २ | एगिदि | एकेन्द्रिय | एकेन्द्रियजाति नामकर्म |
| १० | एवं | एवं | इस प्रकार |

ओ

| | | | |
|----|---------|------------|------------|
| ४ | ओह | ओघ | सामान्य |
| १८ | ओहि दुग | अवधि-द्विक | अवधि-द्विक |

क

| | | | |
|----|----------|------------|------------------------|
| ३ | कुखग | कुखग | अशुभ विहायोगति नामकर्म |
| १० | कप्प-दुग | कल्प-द्विक | दो देवलोक |
| १२ | केइ | केचित् | कोई |
| १५ | कम्म | कार्मण | कार्मण काययोग |
| १८ | केवलदुग | केवल-द्विक | केवल-द्विक |
| २३ | कम्मण | कार्मण | कार्मण काययोग |
| २४ | कम्मत्थय | कर्मस्तव | कर्मस्तव नामक प्रकरण |

ख

| | | | |
|----|-----|---------|-------------------|
| १९ | खइअ | क्षायिक | क्षायिक सम्यक्त्व |
|----|-----|---------|-------------------|

ग

| | | | |
|----|--------|---------|------------------|
| १ | गइयाइ | गत्यादि | गति वगैरह |
| ९ | गुण | गुण | गुणस्थान |
| १९ | गइत्तस | गतित्रस | तेजःकाय, वायुकाय |

च

| | | | |
|----|--------|-----------|------------|
| १२ | चउनवइ | चतुर्नवति | चौरानवे |
| १४ | चउदससअ | चतुर्दशशत | एक सौ चौदह |

| | | | |
|----|-------|---------|--------------|
| १७ | चक्खु | चक्षुष् | चक्षुर्दर्शन |
| १७ | चरम | चरम | अन्तिम |
| १७ | चउ | चतुर | चार |

छ

| | | | |
|----|--------|---------|-----------------------|
| २ | छेवड्ड | सेवार्त | सेवार्त संहनन नामकर्म |
| ४ | छनुइ | षण्णवति | छानवे |
| १२ | छनवइ | षण्णवति | छानवे |
| १८ | छेअ | छेद | छेदोपस्थापनीय चारित्र |

ज

| | | | |
|----|-------------|-----------|---------------------------|
| १ | जिणचन्द्र | जिनचन्द्र | जिनेश्वर |
| २ | जिण | जिन | जिन नामकर्म |
| ५ | जुअ | युत | सहित |
| ९ | जिण-इक्कारस | जिनैकादशक | जिन आदि ग्यारह प्रकृतियाँ |
| १० | जोइ | ज्योतिष् | ज्योतिषी देव |
| ११ | जल | जल | जलकाय |
| १२ | जंति | यान्ति | पाते हैं |
| १३ | जिणिव्कार | जिनैकादशक | जिन आदि ग्यारह प्रकृतियाँ |
| १४ | जिण-पणग | जिन-पंचक | जिन आदि पाँच प्रकृतियाँ |
| १५ | जिण-पण | जिन-पंचक | जिन आदि पाँच प्रकृतियाँ |
| १५ | जोगि | योगिन् | सयोगि-केवली |
| १८ | जयाइ | यतादि | प्रमत-संयत आदि गुणस्थान |

त

| | | | |
|----|-----------|----------------|-----------------------------|
| ३ | तिरिदुग | तिर्यग्द्विक | तिर्यञ्च-द्विक |
| ३ | तिरिनराउ | तिर्यग्नरायुष् | तिर्यञ्चआयु तथा मनुष्यआयु |
| ४ | तित्थ | तीर्थ | तीर्थङ्कर नामकर्म |
| ५ | तित्थयर | तीर्थकर | तीर्थङ्कर नामकर्म |
| ७ | तिरिय | तिर्यच् | तिर्यञ्च |
| ११ | तरु | तरु | वनस्पतिकाय |
| १२ | तिरियनराउ | तिर्यग्नरायुष् | तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्य आयु |

| | | | |
|----|-----------|--------------|----------------------|
| १२ | तणुपज्जति | तनुपर्याप्ति | शरीर पर्याप्ति |
| १३ | तस | त्रस | त्रसकाय |
| १३ | तम्मिस्स | तन्मिश्र | औदारिक-मिश्र-काययोग |
| १६ | तम्मिस्स | तन्मिश्र | वैक्रिय-मिश्र-काययोग |
| १६ | तिय कसाय | तृतीय कषाय | तीसरा कषाय |
| १७ | ति | त्रि | तीन |
| १९ | तेरस | त्रयोदशन् | तेरह |
| २० | तेण | तेन | इस से |
| २१ | तं | तत् | वह |
| २२ | तेअ | तेजस् | तेजोलेश्या |
| २४ | तेर | त्रयोदशन् | तेरह |
| २४ | त्ति | इति | इस प्रकार |

थ

| | | | |
|---|----------|--------------------|---------------------|
| २ | थावर | स्थावर | स्थावर नामकर्म |
| ३ | थीणत्तिग | सत्यानर्द्धि-त्रिक | स्त्यानर्द्धि-त्रिक |

द

| | | | |
|----|------------|---------------|------------------------|
| २ | देवाउ | देवायुष् | देवायु कर्म |
| ३ | दुहग | दुर्भग | दुर्भग नामकर्म |
| ८ | देस | देश | देश विरति |
| ९ | देसाइ | देशादि | देशविरति आदि गुणस्थान |
| १७ | दु | द्वि | दो |
| १७ | दस | दशन् | दस |
| १८ | दुन्नि | द्वि | दो |
| १८ | दो | द्वि | दो |
| २० | देवमणुआउ | देवमनुजायुष् | देव आयु तथा मनुष्य आयु |
| २४ | देविंदसूरि | देवेन्द्रसूरि | देवेन्द्रसूरि |

न

| | | | |
|---|-----|--------|------------------|
| २ | नरय | नरक | नरकगति नामकर्म |
| २ | नपु | नपुंसक | नपुंसकवेद मोहनीय |

| | | | |
|-------|----------|----------------|-----------------------------|
| ३ | निय | नीच | नीच गोत्रकर्म |
| ३ | नर | नर | मनुष्यगति नामकर्म |
| ४ | निरय | निरय | नारक |
| ४ | नपुचउ | नपुंसक-चतुष्क | नपुंसक-चतुष्क |
| ५ | नराउ | नरायुष् | मनुष्य आयु |
| ६ | नरदुग | नर-द्विक | मनुष्य-द्विक |
| ६ | नपुंसचउ | नपुंसक-चतुष्क | नपुंसक-चतुष्क |
| ८ | नरय-सोल | नरक-षोडशक | नरकगति आदि १६ प्रकृतियाँ |
| ९ | नर | नर | मनुष्य |
| ९, ११ | नवसउ (य) | नवशत | एक सौ नौ |
| १० | नवरं | नवरं | विशेष |
| १२ | न | न | नहीं |
| १३ | नर-तिग | नर-त्रिक | नर-त्रिक |
| १४ | नरतिरिआउ | नर तिर्यगायुष् | मनुष्य आयु तथा तिर्यञ्च आयु |
| १६ | नव | नवन् | नव |
| १९ | निय | निज | अपना |
| २२ | नरय-नव | नरक-नवक | नरकगति आदि नव प्रकृतियाँ |
| २२ | नरय-बार | नरक द्वादशक | नरकगति आदि बारह प्रकृतियाँ |
| २४ | नेय | ज्ञेय | जानने योग्य |

प

| | | | |
|----|--------|-------------|------------------------|
| ५ | पंकाइ | पंकादि | पंक आदि नरक |
| ७ | पज्ज | पर्याप्त | पर्याप्त |
| ९ | पर | पर | परन्तु |
| ११ | पुढवी | पृथ्वी | पृथिवी-काय |
| १२ | पुण | पुनर | फिर |
| १३ | पणिदि | पंचेन्द्रिय | पंचेन्द्रिय |
| १६ | पंच | पंचन् | पाँच |
| १७ | पढमा | प्रथम | पहला |
| १८ | परिहार | परिहार | परिहार विशुद्ध चारित्र |
| २२ | पम्हा | पद्मा | पद्मलेश्यः |

ब

| | | | |
|----|-------------|----------------|------------------------|
| १ | बन्ध-विहाण | बन्ध-विधान | बन्ध का करना |
| १ | बन्धसामित्त | बन्ध-स्वामित्व | बन्धाधिकार |
| ४ | बंधहिं | बध्नन्ति | बांधते हैं |
| ५ | बिसयरि | द्विसप्तति | बहत्तर |
| ८ | बीअकसाय | द्वितीय कषाय | अप्रत्याख्यानावरण कषाय |
| १२ | बिंति | ब्रुवन्ति | कहते हैं |
| १६ | बिअ | द्वितीय | दूसरा |
| १७ | बारस | द्वादशन् | बारह |
| २० | बंधंति | बध्नन्ति | बाँधते हैं |
| ५ | भंग | भंग | प्रकार |
| १० | भवण | भवण | भवनपतिदेव |
| २३ | भव्व | भव्य | भव्य |

म

| | | | |
|----|-----------|-------------|--|
| २ | मिच्छ | मिथ्या | मिथ्यात्व मोहनीय |
| ३ | मज्झागिअ | मध्याकृति | बीच के संस्थान |
| ४ | मिच्छ | मिथ्या | मिथ्यादृष्टि गुणस्थान |
| ५ | मीस | मिश्र | मिश्र गुणस्थान |
| ७ | मीस-दुग | मिश्र-द्विक | मिश्रदृष्टि तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान |
| १३ | मणवयजोग | मनोवचोयोग | मन-योग तथा वचन-योग |
| १८ | मणनाण | मनोज्ञान | मनःपर्यायज्ञान |
| १८ | मइ-सुअ | मति-श्रुत | मति और श्रुत ज्ञान |
| १९ | मिच्छ-तिग | मिथ्यात्रिक | मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थान |
| २३ | मिच्छ-सम | मिथ्या-सम | मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के तुल्य |

र

| | | | |
|---|-------|---------|----------------------|
| ३ | रिसह | ऋषभ | वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन |
| ५ | रयणाइ | रत्नादि | रत्नप्रभा आदि नरक |

| | | | |
|----|------|------|-----------|
| ११ | रयण | रत्न | रत्नप्रभा |
| १६ | रहिअ | रहित | रहित |

ल

| | | | |
|----|-------|-------|------------------|
| १७ | लोभ | लोभ | लोभ कषाय मार्गणा |
| २४ | लिहिय | लिखित | लिखा हुआ |

व

| | | | |
|----|---------|-----------|----------------|
| १ | विमुक्क | विमुक्त | मुक्त |
| १ | वंदिय | वन्दित्वा | वन्दन करके |
| १ | वद्धमाण | वर्धमान | महावीर |
| १ | वुच्छं | वक्ष्ये | कहूँगा |
| २ | विउव | वैक्रिय | वैक्रिय |
| २ | विगलतिग | विकलत्रिक | विकलत्रिक |
| ४ | वज्जं | वर्ज | छोड़ करके |
| ४ | विणा | विना | विना |
| ५ | विण | विना | विना |
| ७ | विरहिअ | विरहित | रहित |
| १० | वि | अपिच | भी |
| १० | वण | वन | वाणव्यन्तर |
| १० | व्व | इव | यथा |
| ११ | विगल | विकल | विकलेन्द्रिय |
| १६ | वेउव्व | वैक्रिय | वैक्रियकाययोग |
| १६ | वेद-तिग | वेद-त्रिक | तीन वेद |
| १९ | वेयग | वेदक | वेदक सम्यक्त्व |
| २० | वट्टंत | वर्तमान | वर्तमान |

स

| | | | |
|---|-------|---------|-----------------|
| १ | सिरि | श्री | श्री |
| १ | समास | समास | संक्षेप |
| २ | सुर | सुर | देवगति नामकर्म |
| २ | सुहुम | सूक्ष्म | सूक्ष्म नामकर्म |

| | | | |
|----|------------|------------------|-------------------------------------|
| ३ | संघयण | संहनन | संहनन |
| ४ | सुरइगुणवीस | सुरैकोनविंशति | देवगति आदि १९ प्रकृतियाँ |
| ४ | सय | शत | सौ |
| ४ | सासण | सास्वादन | सास्वादन गुणस्थान |
| ५ | संम | सम्यक् | अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान |
| ६ | सत्तमि | सप्तमी | सातवीं |
| ६ | सासाण | सास्वादन | सास्वादन गुणस्थान |
| ७ | सयरि | सप्तति | सत्तर |
| ७ | सतरसउ | सप्तदशशत | एक सौ सत्रह |
| ८ | सुराउ | सुरायुष् | देवायु |
| १० | सुर | सुर | देव |
| १० | सहिअ | सहित | सहित |
| ११ | सणंकुमाराइ | सनत्कुमारादि | सनत्कुमार आदि देवलोक |
| १२ | सुहमतेर | सूक्ष्म-त्रयोदशक | सूक्ष्म नामकर्म आदि तेरह प्रकृतियाँ |
| १५ | साय | सात | सात वेदनीय |
| १७ | संजलण तिग | संज्वलन | संज्वलन क्रोध, मान, माया |
| १८ | सग | सप्तन् | सात (७) |
| १८ | समइअ | सामायिक | सामायिक चारित्र |
| १९ | सुहुम | सूक्ष्म | सूक्ष्म-संपराय चारित्र |
| १९ | सठाण | स्वस्थान | अपना गुणस्थान |
| २१ | साणाइ | सासादनादि | सास्वादन आदि गुणस्थान |
| २१ | सव्व | सर्व | सब |
| २२ | सुक्का | शुक्ला | शुक्ल लेश्या |
| २३ | संनि | संज्ञिन् | संज्ञी मार्गणा |
| २४ | सोउ | श्रुत्वा | सुन कर |

ह

| | | | |
|---|------|------|-------------|
| २ | हुंड | हुंड | हुंडक स्थान |
| ५ | हीण | हीन | रहित |



परिशिष्ट ग

‘बन्धस्वामित्व’ नामक तीसरे कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचन्दं।
 गइयाईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं॥१॥
 जिणसुर विउवाहारदु-देवाउ य नरयसुहुम विगलतिगं।
 एगिंदिथावरायव-नपुमिच्छं हुंडछेवट्टं॥२॥
 अणमज्झागिइ संघय-णकुखग नियइत्थिदुहग थीणतिगं।
 उज्जोयतिरिदुगं तिरि-नराउनरउरलदुगरिसहं॥३॥
 सुरइगुणवीसवज्जं, इगसउ ओहेण बंधहि निरया।
 तित्थ विणा मिच्छि सयं, सासणि नपु-चउ विणा छनुई॥४॥
 विणु अण-छवीस मीसे, बिसयरि संमंमि जिणनराउजुया।
 इय रयणाइसु भंगो, पंकाइसु तित्थयरहीणो॥५॥
 अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
 इगनवई सासाणे तिरिआउ नपुंसचउवज्जं॥६॥
 अणचउवीसविरहिआ, सनरदुगुञ्जा य सयरि मीसदुगे।
 सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं (र)॥७॥
 विणु नरयसोल सासणि, सुराउ अणएगतीस विणु मीसे।
 ससुराउ सयरि संमे, बीयकसाए विणा देसे॥८॥
 इय चउगुणेषु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई।
 जिणइक्कारसहीणं, नवसउ अपजत्ततिरियनरा॥९॥
 निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया।
 कप्पदुगे वि य एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे॥१०॥
 रयणु व सणंकुमारा-इ आणयाई उज्जोयचउरहिया।
 अपज्जतिरिय व नवसय, मिगिंदिपुढविजलतरुविगले॥११॥

छनवइ सासणि बिणु सुहु-मतेर केइ बिन्ति चउनवइं।
 तिरियनराऊहि विणा, तणु-पज्जतिं न ते जंतिं।।१२।।
 ओहु पणिदिंतसे गइ-तसे जिणिक्कारनरतिगुच्चविणा।
 मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से।।१३।।
 आहारछग विणोहे, चउदससउ मिच्छि जिणपणागहीणं।
 सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ सुहुमतेर।।१४।।
 अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय संमि जोगिणो साय।
 विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो।।१५।।
 सुरओहो वेउव्वे, तिरियनराउरहिओ य तम्मिस्से।
 वेयतिगाइमबियतिय-कसाय नवदुचउपंचगुणे।।१६।।
 संजलणतिगे नव दस, ओहे च अजइ दुति अनाणतिगे।
 बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाय चरमचऊ।।१७।।
 मणनाणि सग जयाई, समइयछेय च उ दुन्नि परिहारे।
 केवलदुगि दो चरमा-ऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे।।१८।।
 अड उवसमि चउ वेयगि, खइये इक्कार मिच्छतिगि देसे।
 सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो।।१९।।
 परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंतितेण अजयगुणे।
 देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा।।२०।।
 ओहे अट्टारसयं, आहारदुगूणं-माइलेसतिगे।
 तं तित्थोणं मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो।।२१।।
 तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउनरयबारविणु सुक्का।
 विणु नरयबार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे।।२२।।
 सव्वगुण भव्व-संनिसु, ओहु अभव्वा असंनि मिच्छसमा।
 सासणि असंनि संनिव्व, कम्मणभंगो अणाहारे।।२३।।
 तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेरत्ति बन्धसामित्तं।
 देविंदसूरि लिहियं; नेयं कम्मत्थयं सोउं।।२४।।

Our Important Publications

| | | |
|--|--|---------|
| 1. Studies in Jaina Philosophy | Dr. Nathamal Tatia | 200.00 |
| 2. Jains Today in the World | Pierre Paul AMIEL | 500.00 |
| 3. Jaina Epistemology | Dr. I.C. Shastri | 150.00 |
| 4. Jaina Religion : Its Historical Journey of Evolution | Prof. Sagarmal Jain, Trans. Kamla Jain | 100.00 |
| 5. Jaina Theory of Reality | Dr. J.C. Sikdar | 300.00 |
| 6. Jaina Perspective in Philosophy & Religion | Dr. Ramji Singh | 300.00 |
| 7. Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7) | | 2500.00 |
| 8. An Introduction to Jaina Sādhana | Prof. Sagarmal Jain | 40.00 |
| 9. Pearls of Jaina Wisdom | Dulichand Jain | 120.00 |
| 10. Scientific contents in Prakrit Canons | Dr. N.L. Jain | 400.00 |
| 11. Advanced Glossary of Jain Terms | Dr. N.L. Jain | 300.00 |
| 12. The Path of Arhat | T.U. Mehta | 200.00 |
| 13. Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda | Ed. Prof. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey | 500.00 |
| 14. The World of Non-living | Dr. N.L. Jain | 400.00 |
| 15. जैन धर्म और तान्त्रिक साधना | प्रो. सागरमल जैन | 350.00 |
| 16. सागर जैन-विद्या भारती (पाँच खण्ड) | प्रो. सागरमल जैन | 500.00 |
| 17. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण | प्रो. सागरमल जैन | 60.00 |
| 18. अहिंसा की प्रासंगिकता | डॉ. सागरमल जैन | 100.00 |
| 19. अष्टकप्रकरण | डॉ. अशोक कुमार सिंह | 120.00 |
| 20. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन | डॉ. अशोक कुमार सिंह | 125.00 |
| 21. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन | डॉ. शिवप्रसाद | 300.00 |
| 22. अचलगच्छ का इतिहास | डॉ. शिवप्रसाद | 250.00 |
| 23. तपागच्छ का इतिहास | डॉ. शिवप्रसाद | 500.00 |
| 24. सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व | डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय | 100.00 |
| 25. जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन | डॉ. सुधा जैन | 300.00 |
| 26. जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन एक तुलनात्मक अध्ययन | डॉ. विजय कुमार | 200.00 |
| 27. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड) | | 1400.00 |
| 28. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड) | | 760.00 |
| 29. जैन प्रतिमा विज्ञान | डॉ. मारुति नन्दन तिवारी | 300.00 |
| 30. महावीर और उनके दशधर्म | श्री भागचन्द्र जैन | 80.00 |
| 31. वज्जालग्गां (हिन्दी अनुवाद सहित) | पं. विश्वनाथ पाठक | 160.00 |
| 32. जीवन का उत्कर्ष | गुरुदेव चित्रभानु | 200.00 |
| 33. भारतीय जीवन मूल्य | प्रो. सुरेन्द्र वर्मा | 75.00 |
| 34. नलविलासनाटकम् | सम्पा. डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डे | 60.00 |
| 35. समाधिमरण | डॉ. रज्जन कुमार | 260.00 |
| 36. पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित) | अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा | 250.00 |
| 37. जैन धर्म में अहिंसा | डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा | 300.00 |
| 38. बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा | डॉ. धर्मचन्द्र जैन | 350.00 |
| 39. महावीर की निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श | भगवतीप्रसाद खेतान | 150.00 |
| 40. स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास | प्रो. सागरमल जैन एवं डॉ. विजय कुमार | 500.00 |

Pārśwanātha Vidyāpīṭha, Varanasi-221005 INDIA